हिन्दी-काव्य
और
अरविन्द-दर्शन

डॉ० प्रतापसिंह चौहान एम० ए०, पी-एच० डी०

युगवाणी

प्रकाशन

युगवाणी प्रकाशन

युगवाणी प्रकाशन, कानपुर

मूल्य :
पन्द्रह रुपये केवल

पुस्तक : हिन्दी-काव्य और अरविन्द-दर्शन
लेखक : डा० प्रतापसिंह चौहान एम. ए., पी-एच. डी.
प्रकाशक : युगवाणी प्रकाशन,
१०७/६६ जवाहरनगर, कानपुर
मुद्रक : अनुपम प्रेस, चन्द्रिका देवी रोड, कानपुर

आदरणीय डॉ० भगीरथ मिश्र
अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग, पूना विश्वविद्यालय
को
सादर समर्पित

प्राक्कथन

भारतीय वाङ्मय के सम्यक् अध्ययन से मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि वह विचार की एक ऐसी अविभाज्य श्रृंखला मे अनुस्यूत है कि जिसे पृथक्-रूप से देखने से उसकी मौलिकता एव प्रवाह अविकल नही रह सकते। धर्म, अर्थ, व्याकरण, साहित्य, वैद्यक, ज्योतिष, योग, तंत्र तथा ललित कला आदि सभी के रूप की चरमावस्था को ब्रह्म के रूप मे देखने अथवा उन्हे ब्रह्म तक पहुँचाने का अदम्य प्रयास दृष्टिगोचर होता है। इससे मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि जगत् के समग्र विग्रह को ब्रह्म के रूप मे देखने अथवा उसे चरम तक पहुंचाने का यह प्रयास जहाँ एक ओर सत्य के साक्षात्कार की उद्घोषणा करता है, वही वह समग्र विश्व की मौलिक एकता का भी परिचायक है। इन दोनो बातों का ऋजु-सबध दर्शन से सहज ही जोडा जा सकता है, अर्थात् ये दोनो विषय अत्यन्त प्राचीनकाल से दर्शन के परिवेश मे परिगणित होते रहे है। इस प्रबध मे अरविन्द दर्शन के सन्दर्भ और परिवेश मे आधुनिक हिन्दी-काव्य के अध्ययन की चेष्टा उसी वरिष्ठ परम्परा के अन्तर्गत मानी जानी चाहिये। यही इस प्रबध की उपयोगिता है।

इस प्रबध की उपलब्धि के विषय मे भी सक्षेप मे विचार कर लेना अप्रासगिक न होगा। आधुनिक कवियो के काव्य का अध्ययन करते समय मुझे कुछ ऐसे विचार-सूत्र उपलब्ध हुये है, जिनका सबध प्राचीन दार्शनिक मान्यताओ से, आसानी से, जोडा जा सकता है। विशेषरूप से छायावादी कवियो के काव्य मे अनेक दार्शनिक सिद्धान्तो का सन्निवेश दृष्टिगोचर होता है। इस अध्ययन मे मुझे कही तो इस दार्शनिक-धारा का अबाध प्रवाह मिला है और कही उसकी धारा मन्द होती हुई दृष्टिगोचर हुई है। किन्तु, वह अपने अबाध और मन्द प्रवाह मे वैचारिकता को पुरस्सर करती गयी है, धरती और मानव की समस्याओ का निदान करती गयी है। छाया काल मे उसने मानवता के सकट का निदान कभी अद्वैत दर्शन, कभी विशिष्टाद्वैत दर्शन, कभी प्रत्यभिज्ञा दर्शन तो कभी द्वैत दर्शन के सिद्धान्तो के अन्तर्गत देखा;

प्रगतिकाल मे वह मार्क्स की विचारधारा से अत्यधिक प्रभावित हुई। अब उसकी एक क्षीण तरंग श्री अरविन्द-दर्शन का सस्पर्श करने लगी है। मुझे वह दिन दूर नही लगता, जब हिन्दी-काव्य श्री अरविन्द-दर्शन से पूर्णतया आविष्ट हो जायगा। ऐसा इसलिए नही होगा कि उसे किसी दार्शनिक प्रक्रिया के प्रति पूर्णरूप से समर्पित हो जाना आवश्यक है, वरन् ऐसा इसलिये होगा कि अरविन्द-दर्शन ऐहिक और पारलौकिक समस्याओ के लिए एक सन्तुलित दृष्टिकोण उपस्थित करता है और दर्शन तथा काव्य दोनो का चरम लक्ष्य परमानन्द की उपलब्धि है। अतएव, आधुनिक हिन्दी काव्य पर श्री अरविन्द-दर्शन के प्रभाव का अध्ययन इस प्रबन्ध की सब से बड़ी उपलब्धि मान्नी जानी चाहिये। इस विषय का इतना विस्तृत तथा इतना सम्यक् अध्ययन हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत इसके पूर्व प्रस्तुत नही किया गया। इस प्रबन्ध को आठ अध्यायो मे विभक्त किया गया है तथा उपसहार मे उसकी सभावनाओ पर प्रकाश डाला गया है।

मैं प्रबन्ध के लेखन मे कितना सफल हुआ हू, इसका निर्णय तो सुधीजन ही करेंगे। इस प्रबन्ध के लिखने मे जिन गुरुजनो और मित्रो की अहेतुकी सहायता मिली है, उनके प्रति आभार प्रकट करना औपचारिकता मात्र होगी, क्योकि मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि 'आभार-प्रदर्शन' द्वारा श्रद्धा-स्नेह का वह शाश्वत धागा टूट जायगा, जिसमे बधा हुआ मैं आनन्द और गर्व का अनुभव करता रहा हू। अतएव इस स्थल पर उनके नाम-स्मरण द्वारा ही सन्तोष कर रहा हू।

परमादरणीय डा० भगीरथ मिश्र, अध्यक्ष हिन्दी-विभाग, पूना विश्व विद्यालय के निर्देशन मे यह प्रबध लिखा गया है, उनके सुझावो और अन्य प्रकार की अमूल्य सहायताओ से मैं अतिशय लाभान्वित हुआ हू। आदरणीय ठा० जगदेवसिंह को दर्शन-शास्त्र का महासागर कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। अरविन्द-दर्शन को समझने तथा साहित्य-सौन्दर्य की सूक्ष्मताओ के अध्ययन मे तो मुझे उनसे सहायता मिली ही है, साथ ही उनके विशाल पुस्तकालय का भी मैंने उपयोग किया है। प्रोफेसर सतप्रसाद सिंह (अध्यक्ष, अग्रेजी विभाग डी० ए० वी० कालेज, कानपुर) की अहेतुकी कृपा के कारण मुझे डी० ए० वी० कालेज के पुस्तकालय से जो सहायता प्राप्त हुई है उसके लिए मैं उनका हृदय से अनुगृहीत हू।

हिन्दी के मूर्धन्य समीक्षक सागर विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष आदरणीय आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के सुझावो से मैं केवल लाभान्वित ही नहीं हुआ हूं, वरन् उन्होने अतिशय कृपा करके इस प्रबन्ध का आद्यन्त अवलोकन भी किया है।

इन गुरुजनो के अतिरिक्त उन मित्रो के नाम को भी भुलाया नही जा सकता, जो अपने सुझावों तथा अन्य सहायताओ के लिए सदैव प्रसन्न वदन तत्पर रहे है। उनमे चिर-स्मरणीय रहेगे डा० रामसुरेश त्रिपाठी, रीडर, संस्कृत-विभाग, अलीगढ़ विश्वविद्यालय; डा० लक्ष्मी नारायण शर्मा, अध्यक्ष सस्कृत-विभाग, युवराज दत्त कालेज लखीमपुर, खीरी तथा डा० जगदीश नारायण त्रिपाठी, अध्यक्ष हिन्दी-विभाग डी० एन० कालेज, फतेहगढ़।

समाजशास्त्र के ख्यातनामा लेखक श्री शम्भूरत्न त्रिपाठी का सहयोग प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखन-प्रकाशन मे आद्यन्त रहा है; किन्तु अभिन्न हृदय-नैकट्य के कारण धन्यवादादि की औपचारिकता अनपेक्षित प्रतीत होती है।

१ जुलाई १९६५
युवराजदत्त कालेज
लखीमपुर (खीरी)

—प्रतापसिंह चौहान

विषय-सूची



१

परपरागत दार्शनिक पृष्ठभूमि और अरविन्द-दर्शन पर उसका प्रभाव

अरविन्द-दर्शन को प्रभावित करने वाले भारतीय सिद्धान्तों का संक्षिप्त परिचय

श्री अरविन्द के 'दार्शनिक सिद्धान्तो का स्वर आस्थावादी है। ब्रह्म, जीव, प्रकृति, ईश्वर, माया और आत्मा के प्रति उनका पूर्ण विश्वास है। यह दूसरी बात है कि वे इन सबको चैतन्य के विविध अवस्थाक्रम मे सूत्रित करके परम चैतन्य अथवा ब्रह्म का ही रूप मानते है और उनकी पृथक् सत्ता को स्वीकार नही करते। अतएव इससे यह पूर्ण स्पष्ट है कि उनकी दार्शनिक विचार-धारा पर वैदिक दर्शन, साख्य-योग-दर्शन, मीमासा-दर्शन, काश्मीरी शैव-दर्शन आदि आत्म-वादी दर्शनो तथा बौद्ध-दर्शन, जैन-दर्शन का किसी-न-किसी रूप मे प्रभाव पडा है। यहा यह देखने का प्रयास किया जा रहा है कि उनकी दार्शनिक विचार-सारणि किस सीमा तक उपर्युक्त दर्शनो से प्रभावित रही है। साथ ही इस बात की भी चेष्टा की जा रही है कि श्री अरविन्द की ब्रह्म, जीव, जीवन आदि के सम्बन्ध मे क्या मान्यता है ?

[अ] वैदिक दर्शन

वैदिक दर्शन का आयाम वेद, ब्राह्मण, उपनिषद् और गीता के सिद्धान्तो द्वारा सम्बद्ध माना जाता है। अतएव उपर्युक्त क्रम के अनुसार ही वैदिक दर्शन के सिद्धान्तों का सक्षिप्त परिचय उपस्थित किया जा रहा है।

(१) **वेदों का दार्शनिक चिन्तन**—भारतवर्ष की दार्शनिक परपरा के पुष्ट-बीज हमे आर्यो के सबसे प्राचीन ग्रन्थ वेदो से ही प्राप्त है। दार्शनिक सिद्धान्तों द्वारा दु ख के आत्यतिक निरसन का प्रयास ही दार्शनिक विचार-धारा के इतना प्राचीन होने का कारण प्रतीत होता है। मानव ने अपने जन्म के साथ-साथ ही अपने को सुख-दु ख के युग्म मे आबद्ध पाया। दु खो की अतिशयता के फलस्वरूप जो सताप और पीडाये हुई होगी, उनसे चिर विमुक्ति के लिए उसने तभी से अभियान प्रारभ कर दिया होगा। उसके उन प्राथमिक अभियानो का विवरण ससार के सर्वाधिक प्राचीन ग्रन्थो (वेदो) मे अकित प्राप्त होता है।

(२) **वेदों मे दार्शनिक विचारधारा के प्रकार**—वेदो के अन्तर्गत दार्शनिक विचारधारा का स्वरूप विविध प्राप्त होता है। उस विभाजन को हम कर्म और ज्ञान-काण्ड के नामो से जानते है । कर्म-काण्ड के अन्तर्गत उपासनाओ का तथा ज्ञानकाण्ड के अन्तर्गत आध्यात्मिक चिन्तनो का रूप प्राप्त होता हे । इस विभाजन का मूल हेतु यह प्रतीत होता है कि सर्व प्रथम साधक अथवा जिज्ञासु सदाचार के नियमो के पालन के द्वारा अपने अन्त करण की परिशुद्धि करले, जिससे उसकी मनोभूमि अध्यात्म-बीज के वपन करने योग्य हो जाय । वेदो मे जितनी उपासनाओ का उल्लेख हुआ है, उन सबका पालन सभी के लिए आवश्यक नही हे, क्योकि इन कर्मो मे कुछ तो ऐसे है, जिनके करने से कोई पुण्य अथवा अपूर्व वस्तु की उपलब्धि नही होती, किन्तु न करने से पाप होता है, जैसे सन्ध्योपासना आदि और कुछ अश्वमेध आदि नैमित्तिक अथवा काम्य कर्म है जिनके करने से फल की प्राप्ति तो होती है, किन्तु न करने से किसी प्रकार की हानि नही होती । इन काम्य तथा नैमित्तिक कर्मो को करने की वेद सभी को आज्ञा नही देता । अस्तु, अपनी योग्यता और अधिकार के अनुसार जिज्ञासु को इन कर्मो के सम्पादन द्वारा सफलता प्राप्त होती है, और अनाधिकार चेष्टा करने से जिज्ञासु सफल नही होता तथा उसे अनेक विघ्न-बाधाओ का सामना करना पडता है ।

अन्त करण को परिशुद्ध करने के लिए जिज्ञासु को किसी-न-किसी उपासना का अपनी योग्यता और अधिकार के अनुसार आश्रय अवश्य लेना चाहिए । यदि जिज्ञासु किसी उपासना का अवलब नही लेता तो उसके हृदय मे ज्ञान की ज्योति का प्रकाश नही होगा और न वह आत्मोपलब्धि कर सकता है । किन्तु उपासना अथवा कर्म का वैदिक सिद्धान्त यद्यपि पुष्ट चिन्तन-सरणि के कारण दर्शन-शास्त्र के अन्तर्गत ही आता है । किन्तु फिर भी इसे आनुषगिक ही समझना चाहिये, क्योकि इसमे मूल रूप से आध्यात्मिक विचार नही किया गया है ।

(३) **परम ज्योति अथवा आत्मा का अन्वेषण**—कर्म-काण्ड के उपर्युक्त साधनो के द्वारा जब वैदिक ऋषियो ने अपने दु खो की पूर्ण निवृत्ति करने मे अपने को असमर्थ पाया होगा तो प्रकृत्या उन्होने दैवी शक्तियो की शरण ली होगी । दैवी शक्तियो मे आदित्य को अत्यधिक जाज्वल्यमान तथा प्रभावशाली देखकर उन्होने अपने दु खो की निवृत्ति के लिए प्रार्थना की होगी । ऋग्वेदान्तर्गत उनकी यह स्तुति "हे आदित्य ! मुझे दाहिने और बाएँ का ज्ञान नही है, मै पूर्व और पश्चिम दिशाओ को नही जानता । मेरा ज्ञान परिपक्व नही हे और (ज्ञान के बिना) मैं मूढ और हतोत्साह हो गया हूँ, यदि आप की कृपा हो, तो मे अवश्य ही उस 'अभय-ज्योति' को प्राप्त कर सकता हूँ ।[1]" उनकी अन्तर्मुखी वृत्ति की परिचायिका तो है ही साथ ही उस अभय-ज्योति (आत्मा) की सर्वसमर्थ शक्ति के रूप मे मान्यता की भी

१—ऋग्वेद—२—२७—११ ।

द्योतिका है। ऋग्वेद् के एक अन्य मत्र (२—२७—१४) मे भी इस (अभय-ज्योति) की प्राप्ति के लिए प्रार्थना की गई है। किन्तु इस परम तत्व अथवा आत्मा की उपलब्धि बिना आत्म-समर्पण के असभव है। अस्तु इस परम ज्ञान की प्राप्ति के लिए साधक को अनेक मन्त्रो मे आत्म-समर्पण के लिए बता दिया गया है, क्योकि बिना पूर्ण आत्म-समर्पण के अहकार का पूर्ण निरसन नही हो सकता और अहकार के बिना नष्ट हुए मोह दूर नही हो सकता और बिना मोह-निवृत्ति के आत्म-लाभ असभव है।

वेद के सहिता-भाग के पढने से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि तत्कालीन व्यक्ति ससार के विषय मे पूर्णतया अवगत थे। वे मृत्यु से डरते थे और दीर्घ जीवन के लिए देवताओ की प्रार्थना करते थे।[1] वे सुख-दु ख, ज्ञान-अज्ञान, नित्य-अनित्य, अजर-अमर तथा इस लोक-परलोक के विषय मे पूर्ण अवगत थे और इसी हेतु वे अभय-ज्योति-स्वरूप परमात्मा के ज्ञान के लिए देवताओ की प्रार्थना करते थे। इसके अतिरिक्त उन्हे यह भी भलीभाँति ज्ञात था कि उपासना के समय साधक साध्य के साथ अभिन्न हो जाता है।[2] अर्थात् दूसरे शब्दो मे यह भी कहा जा सकता है कि जीवात्मा का परमात्मा के साथ तादात्म्य उपस्थित हो जाना ही मानव का चिर अभीष्ट है और वैदिक युग के लोग इस तथ्य से पूर्ण परिचित थे। उपर्युक्त उल्लेख से यह पूर्णतया स्पष्ट होता है कि भारतवर्ष मे दार्शनिक विचार-धारा सृष्टि के प्रारभ से ही विद्यमान है और साधक अपने दुखो की निवृत्तिके लिए अपनी उत्कट उपासनाओके द्वारा देवताओ के दु खो के साथ तादात्म्य स्थापित करने के लिए तत्पर रहते थे।[3]

(४) **वेद मे सृष्टि-विचार**—आत्मा और परमात्मा की अवस्थिति के चिन्तन के साथ-साथ ही जगत् अथवा सृष्टि की उत्पत्ति का विचार भी दार्शनिक चिन्ता-धारा का महत्वपूर्ण अग रहा है। वेद मे जगत् की उत्पत्ति के सम्बध मे विभिन्न मत प्राप्त होते है। कही पर अग्नि से, कही सोम से कही 'त्वष्टा' से कही-कही इन्द्र से और कही विश्वकर्मा और वरुण से सृष्टि की उत्पत्ति मानी गयी है।

इन विभिन्न मतो के मूल मे जो तथ्य सन्निहित दृष्टिगोचर होता है, वह है अपने-अपने इष्ट देवता को सर्व श्रेष्ठ और सर्वाधिक महान् मानना। वैसे यदि हम दार्शनिक दृष्टि से देखे तो सृष्टि की प्रत्येक वस्तु ब्रह्म का अश होने के कारण ब्रह्म ही है। इसी लिए साधना की चरमावस्था मे उनके इष्ट और ब्रह्म मे किसी प्रकार का भेद नही दृष्टिगोचर होता था। इस प्रकार अभेद बुद्धि के उदाहरण ऋग्वेद मे ही विद्यमान है।[4]

१—ऋग्वेद, १०—१६४—४, अथर्व वेद, ३—२—४ तथा २०—९६—९।

२—यजुर्वेद, १—५—१०।

३—यजुर्वेद, १—५—१०।

४—ऋग्वेद १—७।

नामदीय सूक्त[1] तो वेदका दार्शनिक सूक्त ही है। इस सूक्त मे सृष्टि-रचना का विशद विवरण प्राप्त होता है। इस सूक्त मे कहा गया है कि सृष्टि के प्रारभ मे न 'असत्' था और न 'सत्', और न अन्तरिक्ष और व्योम ही थे। उस समय मृत्यु का भी भय नही था। केवल वह 'एक' था और उसके अतिरिक्त और कुछ न था। सर्वत्र गहन अधकार का आच्छादन था। जल था, प्रकाश नही था इत्यादि ऋग्वेद मे सृष्टि के विषय मे विचार प्राप्त होते है। इस सूक्त से यह स्पष्ट होता है कि सृष्टि के प्रारभ मे कोई एक अव्यक्त चेतन था जिसके द्वारा पश्चात्पद-सृष्टि की विचित्रता-पूर्ण रचना हुई। ऋग्वेद मे उस अव्यक्त चेतन को 'तपस्' कहा गया है। वस्तुत 'तपस्' सर्वव्यापी शक्ति का नाम है, इसी के द्वारा ज्ञान, इच्छा और क्रिया शक्तियो की अभिव्यक्ति होती है। ठीक इसी भावना का उल्लेख ऋग्वेद के प्रथम मण्डल मे भी प्राप्त होता है।[2]

(५) **वेद के मन्त्र-भाग अथवा संहिता भाग के दर्शन का निष्कर्ष**—वेदो के अन्तर्गत नैतिक और नैमित्तिक अथवा काम्य कर्मो का विषय कर्म के दर्शन के रूप मे प्राप्त होता है।

वेदो के अन्तर्गत परमात्मतत्व का उल्लेख अभय ज्योति तथा एक व्यापक शक्ति, जो सभीको जन्म देती है के रूप मे प्राप्त होता है[3]। इन्द्र ही वह परम शक्ति है, जो कभी अग्नि, कभी सूर्य, कभी वायु के रूप मे वर्णित है। अन्तरिक्ष और नक्षत्र भी इन्ही इन्द्र के रूप है।[4]

वेदान्तर्गत सृष्टि की उत्पत्ति अग्नि से मानी गयी है। त्वष्टा ने जीवो को तथा इन्द्र ने समस्त पृथ्वी और अन्तरिक्ष को उत्पन्न किया। कही-कही विश्वकर्मा और वरुण को भी स्रष्टा के रूप में स्वीकार किया गया है। किन्तु, इन सबके मूल मे अपने इष्ट को ब्रह्म अथवा सर्वश्रेष्ठ शक्ति के रूप मे देखने का भाव सन्निहित रहा है। वस्तुत स्रष्टा एक ही है, चाहे उसे इन्द्र कहो, चाहे अग्नि अथवा किसी अन्य देवता या शक्ति के नाम से सबोधित करो।

वेदो (सहिता भाग) के अन्तर्गत 'कर्म' के दार्शनिक सिद्धान्त का महत्त्वपूर्ण वर्णन प्राप्त होता है। पूर्व जन्म के कर्मों से मुक्ति मिल जाय इसलिए व्यक्ति के लिए प्रार्थना का विधान है।[5] सचित तथा प्रारब्ध कर्मों का उल्लेख भी मन्त्रो मे प्राप्त होता

१—ऋग्वेद, १०—७२—२—४।

२—ऋग्वेद, १—३—१०—१२।

३—यजुर्वेद १६ अध्याय (पुरुष सूक्त)

४—सायण भाष्य

५—ऋग्वेद, ६—२—११

है[1]। 'देवयान' तथा 'पितृयान' मार्गो का भी विस्तृत विचार वेद मे प्राप्त होता है[2]। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद के अन्तर्गत नीच कर्मो को करने वाले किस प्रकार वृक्ष, लतादि स्थावर-शरीरो को प्राप्त करते है, का विशदता के साथ उल्लेख मिलता है[3]।

(६) **आत्म-तत्व का विकास**—वेदो के सहिता-भाग मे क्रम से पृथक् आत्मा का उल्लेख नही प्राप्त होता। इससे सिद्ध होता है परमात्मा से भिन्न आत्मा के स्वरूपनिर्धारण की चेष्टा बाद मे हुई। आत्मा की शोध के लिए जो भी प्रयत्न किए गये होगे, उनका मूलाधार व्यक्ति की दु ख निवृत्ति ही रही होगी[4]। ब्रह्य व्यापारो मे जब जिज्ञासु को अपने दु ख की निवृति का निदान न मिला होगा तो उसने अपने आभ्यतर की छान-बीन करनी आरम्भ की होगी और उसकी इस प्रकार की शोध का परिणाम आत्म-लाभ रहा[5] है। आत्मोपर्लब्धि के साथ-साथ उसके सभी प्रकार के दु खो की निवृत्ति भी हो गयी होगी[6]।

यद्यपि जैसा कि ऊपर कहा गया है, वेदो के सहिता भाग मे जिज्ञासु भिन्न-भिन्न देवताओ की स्तुतियो के द्वारा उन देवताओ को (इन्द्र, वरुण, पूषन आदि) अपनी दु ख-निवृत्ति का कारण जान कर उन्हे ही आत्मा समझने लगे। वेदो के सहिता-भाग मे आत्मा के विषय मे इससे अधिक विचार नही प्राप्त होता। किन्तु, वेदो के पश्चात् ब्राह्मण-ग्रन्थो मे भी यज्ञ-विधान की ही विशेष प्रतिष्ठा रही है और आत्मा के अन्वेषण की प्रगति प्राय गौण ही है।

[ब] ब्राह्मण तथा आरण्यक

(१) **आत्मा का स्वरूप**—जैसा कि ऊपर कहा गया है ब्राह्मण-ग्रन्थो मे आत्मा सम्बन्धी विचार अथवा अन्य दार्शनिक उपपत्तियो का अभाव है। किन्तु ब्राह्मण-ग्रन्थो की भाँति वेद का अपना-अपना आरण्यक ग्रन्थ भी है। ये ग्रन्थ ब्राह्मण-ग्रन्थो के सहायक है और ब्राह्मण-ग्रन्थो मे वर्णित यज्ञो के रहस्य का उद्घाटन करते है। इन ग्रन्थो मे दार्शनिक विचारणाओ का विशेष उल्लेख प्राप्त होता है। यही कारण है कि अनेक महत्त्वपूर्ण 'उपनिषद्' आरण्यक-ग्रन्थो के ही भाग है। जैसे 'ऐतरेय उपनिषद्' 'ऐतरेय

१—ऋग्वेद ३—३८—२, १—१६४—२०।

२—ऋग्वेद, ६—२—११

३—ऋग्वेद, ३—३८—२, १—१६४—२०

४—ऋग्वेद, ३—५५—१५

५—ऋग्वेद, ७—८—३, ७—१०१—६, ७—१०२—२।

६—डा० उमेश मिश्र, भारतीय दर्शन।

(अ) डा० राधाकृष्णन, इंडियन फिलासफी, वालूम १, पृष्ठ १६९।

ब्राह्मण' का, 'कौषीतकि उपनिषद्' कषोतकि आरण्यक का और 'महानारायण उपनिषद्' तैत्तरीय आरण्यक का भाग है। शतपथ ब्रह्मण के चतुर्थ खण्ड का कुछ भाग 'आरण्यक' कहलाता है और इसी आरण्यक के अन्तिम छ अध्याय 'वृहद्ारण्यक' नामक महत्वपूर्ण उपनिषद् हैं।

जैमिनीय ब्राह्मण मे विविध प्रकार के यज्ञो का पर्यवसान एक 'विष्णुरूप' मे हो गया। अब विष्णु को ही यज्ञ मान कर उन्ही की उपासना मे चरम पद की प्राप्ति समझी जाने लगी[1]। इसके अतिरिक्त केनोपनिषद् मे यक्ष तथा देवताओ के सवाद का भी यही निष्कर्ष है कि देवताओ से आत्मा भिन्न है।

इस प्रकार ब्रह्म-तत्व अथवा आत्म-तत्व का सर्व प्रथम परिचय हम ब्राह्मण-ग्रन्थो से ही पाते है। पहले-पहल साधकों ने मित्र, वृहस्पति, वायु तथा यज्ञ को ब्रह्म के रूप मे समझा[2]। किन्तु, ऐसा प्रतीत होता हे कि बाद को भक्तो ने ब्रह्म से देवताओ की उत्पत्ति मानी। इस प्रकार ब्राह्मण-ग्रन्थो मे हमे ब्रह्म का स्वरूप व्यापक रूप से मिलता है। किन्तु ब्राह्मण-ग्रन्थो मे आत्मा ब्रह्म से भिन्न ही तत्व रही है। उस समय तक ब्रह्म और आत्मा मे अभेद नही उपस्थित हो सका था। हॉ, ब्रह्म देवताओ से अभिन्न और उनका उत्पन्न करने वाला अवश्य माना जाता था। वह देवस्वरूप सर्वव्यापक स्वतत्र तत्त्व के रूप मे प्रतिष्ठित था। 'आत्मा' देवताओ मे भिन्न एक विशेष तत्त्व के रूप मे स्वीकृत था।

आरण्यकों में 'ब्राह्मण' के तीन स्वरूपो का उल्लेख प्राप्त होता है—(१) स्थूल रूप-पृथ्वी आदि के रूप मे, (२) सूक्ष्म रूप-मनस् आदि के रूप मे तथा (३) शुद्ध स्वरूप-प्रणव के रूप मे[3]। ब्रह्म का स्वरूप ज्ञानियो के लिए 'सत्' तथा अज्ञानियो के लिए 'असत्' है। प्रणव, जो ब्रह्म का ही स्वरूप है, से स्थावर तथा जगम रूप से जगत् की उत्पत्ति होती है और वह पुन उसी मे लय हो जाती[4] है। यही प्रणव सत्य और ज्ञान है तथा इसका स्वरूप अनन्त है[5]। इसकी अभिव्यक्ति परम प्रकाश मे होती है और इसी के दर्शन से मुक्ति प्राप्त होती है[6]।

आरण्यक के उपर्युवत वर्णनसे यह प्रकट होता है कि 'ब्रह्मन्' की मान्यता क्रमश

१—जैमिनीय ब्राह्मण, २—६८, यज्ञो वै विष्णुः तैत्तिरीय संहिता १—७—४।
२—शतपथ ब्रह्मण, ९—३—२—४।
३—तैत्तिरीय आरण्यक ७—६—८।
४—वही ७—८।
५—वही ८—६।
६—वही ८—२।

वेदान्त के ब्रह्म के स्वरूप के निकट आती गई। ब्रह्म का रूप जो ब्राह्मण-ग्रन्थो मे देवताओ के रूप मे प्रतिष्ठित था अब शुद्ध वेदान्त के ब्रह्म के समान माना जाने लगा।[१]

उपर्युक्त विचारणा से यह स्पष्ट होता है कि ब्राह्मण तथा आरण्यक-ग्रन्थो मे ब्रह्म और आत्मा के स्वरूप पृथक् थे और आत्मा के स्वरूप से देवता के स्वरूप का कोई सम्बन्ध नही था। अपने-अपने ज्ञान के विकासानुसार तत्कालीन जिज्ञासुओ ने आत्मा के स्वरूप की प्रतिष्ठा पृथक-पृथक रूप से की है। उदाहरणार्थ शतपथ ब्राह्मण मे मानव-शरीर के मध्य भाग को आत्मा के नाम से अभिहित किया गया है।[२] और उसी स्थल पर रुधिर, त्वचा, मास और अस्थि के लिए भी 'आत्मा' शब्द का प्रयोग किया गया है।[३] उसी ग्रन्थ मे मनस्, बुद्धि, अहकार और चित्त के लिए भी आत्मा शब्द प्रयुक्त हुआ है।[४] शतपथ ब्राह्मणान्तर्गत ही जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय अवस्थाओ के लिए भी 'आत्मा' शब्द का प्रयोग मिलता है।[५] पाश्चात् पद आत्म-तत्त्व आकाश के के साथ अभिन्न हो गया और इस प्रकार 'आत्मा' की पृथक् सत्ता स्वीकार की गई।[६]

ब्राह्मण-ग्रन्थो के अतिरिक्त आरण्यक- ग्रन्थो मे आत्मा के स्वरूप का सूक्ष्म चिन्तन प्राप्त होता है। किन्तु, वहा भी आत्मा के साथ एक मत नही दृष्टिगोचर होता। उनमे कही आत्मा को प्राण से अभिन्न माना है।[७] तो कही इसे 'विज्ञानमय' तथा 'आनन्द मय' की सज्ञा दी गई है।[८] इसके पश्चात् अन्त मे आरण्यको मे 'आत्मा' सम्बन्धी विचारणा की परिणति 'आनन्द' मे होती है। अर्थात् 'आत्मा' का स्वरूप चिर 'आनन्दमय'[९] है। ऐतरेय ब्राह्मण मे दावा पृथ्वी के मध्य के आकाश के साथ आत्मा का अभिन्न सम्बन्ध बताया गया है।[१०] ऐतरेय आरण्यक मे आत्मा-सम्बन्धी समग्र विवेचन प्राप्त होता है। आत्मा' ही समस्त लोको का स्रष्टा है, वह निरुपाधि तथा सोपाधि दोनो है, इसका भी विवरण इसी आरण्यक मे प्राप्त होता है। तदनन्तर इसी आरण्यक मे चिद् रूप पुरुष या 'ब्रह्मन' के साथ इस 'आत्मा' को अभेद बताया

१—वही ७—१—१।
२—७—१—१
३—७—१—१
४—७—१—१—१८
५—७—१—१—१८
६—जैमिनीय ब्राह्मण २—५४।
७—तैत्तिरीय आरण्यक ९—१।
८—तैत्तिरीयत्त आरण्यक ९—१।
९—तैत्तिरीय आरण्यक ९—१।
१०—१—३—८।

गया है ।[१] ऐतरेय ब्राह्मण मे ही 'आत्मा' को सर्वव्यापी स्वीकार करते कहा गया है कि शुद्ध चैतन्य को छोडकर इस जगत् मे और किसी भी वस्तु की अवस्थिति नही है । देवता, तथा स्थावर जगम, समग्र, जगत्, आत्मा ही है। यही आत्मा सृष्टा है, इसी मे सभी पदार्थों की स्थिति है और अन्त मे सभी पदार्थ इसी मे लय हो जाते है ।[२]

(२) **ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रन्थो में सृष्टि अथवा जगत्**—आत्मा अथवा ब्रह्म के क्रमिक विकास तथा स्थापना के विचार के साथ-साथ ही ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रन्थो मे सृष्टि-व्यापार पर भी विचार प्राप्त होते है । सृष्टि के सम्बन्ध मे भी एक विचार नही प्राप्त होता और उन अनेक विध एतद् सम्बन्धी चिन्तनाओ से यह प्रतीत होता है कि सृष्टि सम्बन्धी-परिकल्पना भी क्रमश ही विकसित हुई है । कुछ विचारको ने जगत् की उत्पति प्रजापति से मानी है और इनके स्वरूप की स्थूल परिकल्पना मे, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच वायु, पाँच भूत तथा मनस् का योग माना है । बाद को इन्ही प्रजापति को अग्नि से अभिन्न घोषित करके सर्व व्यापक मान लिया गया है । इन प्रजापति का शरीर सृष्टि के पाश्चात् नष्ट हो गया और उसी से अन्न की उत्पति हुई ।[३] किन्ही-किन्ही के अनुसार 'ऋत' से 'प्रजापति' का उद्भव हुआ और यास्क के अनुसार 'ऋत' की सज्ञा यज्ञ है ।[४] बाद को यह 'ऋत' 'ब्रह्मन' के साथ अभिन्न हो गया है ।[५] किन्ही-किन्ही स्थलो पर 'असत्' और 'जल' से भी सृष्टि की उत्पति का उल्लेख प्राप्त होता है । तैत्तरीय आरण्यक के अन्तर्गत असत् से सत् की उत्पति का उल्लेख प्राप्त होता है । ऐतरेय आरण्यक के अनुसार सभी पदार्थों मे मनुष्य की ही ऐसी सृष्टि हुई है, जिसमे आत्मा का समग्र अभिव्यजन हुआ है और इसी कारण उक्त आरण्यक सब प्रकार का ज्ञान मनुष्य मे ही मानता है । मानव की उत्पति का विवरण ऐतरेय आरण्यक मे विस्तार से प्राप्त होता है । अर्थात् उत्पन्न होने वाला जीव पिता के शरीर मे 'शुक्र' के रूप मे विद्यमान है । गर्भाधान के समय पिता ही अपनी स्त्री के उदर मे 'शुक्र' मे प्रविष्ट होकर जन्म-लेता है । इसी प्रकार अन्य ब्राह्मण-ग्रन्थो मे भी सृष्टि सम्बन्धी वर्णन प्राप्त होता है ।[६]

१—२—४—१—३ ।

२—२—६—१ ।

३—शतपथ ब्राह्मण, ७—१—४—१७, २३, ७—१—२—१, ६, ८—१—१—२३ ।

४—निरुक्त, ४—१९—९

५—तैत्तिरीय आरण्यक, १—३२ सायण भाष्य ।

६—(अ) भारतीय-दर्शन (श्रौत-दर्शन), बलदेव उपाध्याय

(ब) दि एशंसियल्स ऑफ इण्डियन फिलासफी, पृष्ठ १५

लेखक, एम० हिरियन्ना

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि ब्राह्मण और आरण्यक ग्रन्थो मे भारतीय दर्शन की विचार-धारा पूर्णतया प्रतिष्ठित हो चुकी थी।

[स] उपनिषदों में दार्शनिक विचार

जैसा कि उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वेद के सहिता, ब्राह्मण तथा आरण्यक विभाग मुख्यतया उपासना के ग्रथ है और गौण रूप मे ही उनमे दार्शनिक-सिद्धान्तो का निरूपण हुआ है, यद्यपि उपासना भी दर्शन का ही अग है। उपासना के विना अन्त:करण की शुद्धि असभव है और विना अन्त करण की शुद्धि के ज्ञानोदय हो ही नही सकता और बिना ज्ञान के आत्मानुभूति भी पूर्णतया असभव है। और इसी कारण सहिता, ब्राह्मण तथा आरयण्क ग्रथो मे उपासना के विचार के साथ-साथ आध्यात्मिक अथवा दार्शनिक विचारणाओ की प्रतिष्ठा भी प्राप्त होती है। और उपनिषदो मे दार्शनिक विचारणाओ की मुख्यता के साथ-साथ उपासना भी अनुस्यूत है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है वैदिक मन्त्रो को चार भागो मे वर्गीकृत किया गया है—(१) सहिता भाग (२) ब्राह्मण भाग (३) आरण्यक भाग तथा (४) उपनिषद् भाग। इन सभी को श्रुति कहा जाता है। प्रथम तीन भागो मे स्तुति तथा यज्ञादि को प्रधानता मिली है। उपनिषदो को वेद का ज्ञान-काण्ड कहा जाता है। इनमे तर्क के आधार पर दार्शनिक सिद्धान्तो की स्थापना की गई है। उपनिषदो का मुख्य विचारणीय प्रश्न 'आत्मा' का स्वरूप है। ब्राह्मण और आरण्यक ग्रन्थो मे आत्मा का स्वरूप ब्रह्म मे भिन्न है किन्तु, उपनिषदो के अनुसार 'आत्मा' ब्रह्म से अभिन्न माना गया है। ब्राह्मण तथा आरण्यक 'भेद' मे 'अभेद' की प्रतिष्ठा करते है और उपनिषदो मे अनुभूति के द्वारा अभेद की स्थिति प्रतिष्ठित हुई है।

(१) **उपनिषद् शब्द की व्युत्पत्ति**—'उपनिषद्' शब्द उप 'एव' निपूर्वक 'सद्' धातु से 'क्विप' प्रत्यय लगाकर बना है। 'सद' धातु का अर्थ है नाश, गति और शिथिल करना। 'उप' का अर्थ है 'समीप' तथा 'नि' का अर्थ है निश्चयपूर्वक। अर्थात् वह विद्या अथवा शास्त्र या विषय या पुस्तक जिसकी प्राप्ति से अविद्या का निश्चित रूप से नाश हो, जो मुमुदक्षु को ब्रह्म या विद्या के समीप से जाकर उसका साक्षात्कार करा दे और जो ससार के बन्धनो को शिथित कर दे, उपनिषद् कहलाते है। किंतु, वस्तुत ये सभी अर्थ एक ही विषय की प्रतिष्ठा करते है।

उपनिषद् की उपर्युक्त व्याख्या से यह स्पष्ट होता है कि उपनिषदो मे अविद्या के नाश के द्वारा 'विद्या' अर्थात् परब्रह्म के स्वरूप का निरूपण किया गया साथहै।

ही चिर आनन्द की उपलब्धि तथा दुखो के निवृत्ति के उपाय भी बताए गए है। ये ही बाते उपनिषद् की अभीष्ट स्थापनाओ की विषय है। स्थूल तथा सूक्ष्म ज्ञान की सभी बातें उपनिषदो मे प्राप्त होती है।' उपनिषदो के पश्चात् जितने दर्शनो की उत्पत्ति हुई उन सब ने मूल रूप मे उपनिषदो के सिद्धान्तो को माना है। इसलिए आस्तिक और नास्तिक दोनो प्रकार के दर्शनो पर उपनिषदो का प्रभाव किसी न किसी प्रकार मे अवश्य पडा है और इसी हेतु उपनिषद् मूल दार्शनिक ग्रथ है। उपनिषदो का परम लक्ष्य अद्वितीय, अखण्ड सत्, चित्, आनन्द परमात्मा का विचार अथवा साक्षात्कार है।

(२) **उपनिषद् का मुख्य विषय**—जैसा कि ऊपर कहा गया है उपनिषदो का प्रधान प्रतिपाद्य विषय 'आत्मा' का स्वरूप निर्धारण है। ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि वेद के सहिता, ब्राह्मण और आरण्यक भाग मे 'आत्मा' को ब्रह्म से पृथक् ही माना गया है उपनिषदो मे आत्मा की ब्रह्म के साथ अभिन्नता प्रतिपादित की गई है।[1] उपनिषदो के एतद्विषयक् प्रतिपादन मे विश्व मे एक 'आत्म-तत्व' ही रह गया। अस्तु, अब द्रष्टा और दृश्य तथा ध्याता और ध्येय मे कोई अन्तर नही रहा। बाह्य और आभ्यन्तर सर्वत्र एक ही तत्व मे समाविष्ट हो गए। बृहदारण्यक उपनिषद् मे कहा है[2] —सव अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मना मय प्राणमयश्चक्षुमय श्रोत्रमय आपोमयो पृथ्वीमय वायुमय आकाशमयस्तोमयो तेजोमय काममयो काममय क्रोध-मयो क्रोधमयो धर्ममयो धर्ममय सर्वमय.' इत्यादि।

उपर्युक्त उद्धरण से यह स्पष्ट है कि समग्र स्थूल-सूक्ष्म पदार्थ 'आत्मा' के ही विग्रह है। उपनिषद् मे 'आत्मा' को सर्वप्रिय माना गया है, इसीलिए इसे सर्वाधिक महत्व प्रदान किया गया है।[3]

आत्मा अथवा ब्रह्म के लक्षण को बताना प्राय असम्भव है, फिर भी ऋषियो ने अपनी क्षमता के अनुसार अनेक प्रकार से इसके स्वरूप को निर्धारित करने की चेष्टा की है। उन्होने कही तो इसके स्वरूप को "प्राण", 'अपान', 'व्यान', 'उदान' आदि वायुओ के रूप मे जो हमारे शरीर की रक्षा करती है, देखा है तो कही भूख-प्यास, जरा-मरण, शोक-मोहादि से हमारा उद्धार करने वाला माना है। कही पर इसके ज्ञान से ऐहिक एषणाओ से विरक्ति मानी गई है।[4] कही पर आत्मा को पूर्ण

१—बृहदारण्यक, २–५–१९।

२— ४–४–५

३—बृहदारण्यक, ४–५–६।

४—बृहदारण्यक, ४–५

और अखण्ड माना गया है । निष्कर्ष यह कि विभिन्न औपनिषद् ऋषियो ने आत्मा के स्वरूप को अनेक विध निरूपति किया है ।

(३) **उपनिषद् और ब्रह्म का स्वरूप**—उपनिषदो मे ब्रह्म के स्वरूप की विविध व्याख्या प्राप्त होती हे, अर्थात् वह मूर्त भी है और अमूर्त भी । यह मर्त्य भीहै और अमर्त्य भी, स्थिर तथा अस्थिर (यत्), सत् (स्वलक्षण) तथा त्यत् (अवर्णीय) भी है।[१] इसी को परमात्मा भी करते है ।

(४) **उपनिषद् और जीवात्मा** अविद्या—विशिष्ट ब्रह्म ही 'जीवात्मा' की सज्ञा पाता है । कर्म बन्धन मे पडकर वह सुख-दु ख का भोग करने के लिए ससार मे आता है और जन्म मरण से युक्त रहता है । इस जीवात्मा को सासारिक स्थूल ही दु खो का ही भोग नही करना पडता वरन् सुप्तावस्था मे स्वप्नो के दु ख-सुखो का भोग करता हे । और स्वप्नो के माध्यम से परलोक का भी भ्रमण करता हे । उपनिषद् का कथन है कि यह जीवात्मा स्वप्नावस्था मे अभिनव विपयो की सृष्टि कर लेता है ।[२] परन्तु, जीवात्मा और ब्रह्म तो वस्तुत एक ही है । अस्तु स्वप्न की सृष्टि भी ब्रह्म की ही सृष्टि है ।

(५) **उपनिषद् और सृष्टि अथवा जगत् का स्वरूप**—सृष्टि के विषय मे भी उपनिषद् मे विचार किया गया है । उपनिषद् के अनुसार सृष्टि के प्रारभ मे कुछ नही था । केवल मृत्यु ही थी । सर्व प्रथम मन, जल, तैजस्, पृथ्वी और अन्त मे प्रजापति की सर्जना हुई ।[३] एक दूसरे स्थल पर कहा गया है कि सर्व प्रथम पुरुष और उसके पश्चात् स्त्री की सृष्टि हुई और इन दोनो के सयोग से विश्व की रचना हुई ।[४] कही-कही पर यह भी उल्लेख प्राप्त होता है कि आकाश से सृष्टि की उत्पत्ति होती है और उसी मे उसका लय भी होता है ।[५] इस प्रकार उपनिषदो मे सृष्टि विषयक वर्णन अनेक प्रकार से प्राप्त होते है, किन्तु इन सभी वर्णनो से हम बडी सरलता से इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि सबसे प्रथम एक अव्यक्त तत्व था उसी मे व्यक्त रूप मे जगत् की सृष्टि हुई । वास्तव मे यह अव्यक्त तत्व ब्रह्म ही है जिससे समस्त ससार की उत्पत्ति होती है तथा उसी मे वह लय को भी प्राप्त होता है । उपनिषद् भी कहता है —

१—बृहदारण्यक, २–३–१

२—"स्वयं निर्माय" बृहदारण्यक, ४-३-९ ।

३—बृहदारण्यक, १-३-१, छान्दोग्य २-१-१-९ ।

४— ,, १-४-१

५—छान्दोग्य उपनिषद्, १-९-१

"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते ।
येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति ।"[१]

अर्थात् ब्रह्म ही जगत् का निमित्त और उपादान कारण है ।

[द] गीता-दर्शन

उपनिषद् युग के पश्चात् की शताब्दियाँ बडी विचित्र रही है । उपनिषद् काल मे यद्यपि दार्शनिको मे सिद्धात प्रतिपादन को लेकर मत-भेद था फिर भी उनके दृष्टिकोणो मे विशालता थी और पारस्पारक व्यवहार मे सद्भावना की भी कमा नही थी ।[२] किन्तु, जो मत-वैभिन्य-जनित विरोधाग्नि अभी धीरे-धीरे सुलग रही थी, वह अब अपने प्रचड रूप मे प्रज्वलित हो उठी । विभिन्न मतवादियो ने उन्मुक्त रूप से अपना विरोध प्रकट करना प्रारम्भ कर दिया । इस विरोध का एक ही विषय था वैदिक धर्म और दर्शन । इन विरोधो के द्वारा धार्मिक तथा दार्शनिक आत्मा को महती क्षति पहुँची । इस प्रकार के विरोधी मतो की सख्या कम नही थी और इस दृष्टिकोण से हमारा ध्यान इस काल की ओर विशेष रूप से आकृष्ट होता है । किन्तु, उस समय के विषय मे इतिहास हमे अधिक सूचना नही देता फिर भी जैन-अगो, बौद्ध निकायो, ब्राह्मण-ग्रथो, बाद के उपनिषदो तथा महाभारत से जो सामग्री प्राप्त होती है वह एक दूसरे की पूरक तो है ही, साथ ही उससे उपर्युक्त कथन की सत्यता भी प्रमाणित होती है ।[३]

विरोध से मानव के अभ्युदय और निःश्रेयस् की प्रगति मे भयकर व्याघात पडता है । अपने मत की प्रतिष्ठा मे रम कर व्यक्ति का मन सत्य से दूर हो जाता है । इसलिए इन विभिन्न विरोधी मतो के खण्डन तथा वैदिक-धर्म की पुनर्स्थापना के विषय मे तत्कालीन मनीषियो ने विचार किया । उनको एतद्विषयक् कार्य-सिद्धि महाभारत के सुदृढ आलबन मे हुई । महाभारत ने समग्र अवैदिक मतो को खण्डित करके वैदिक मत का विजय घोष किया । कदाचित इसीलिए महाभारत को पचम वेद के नाम से अभिहित किया जाता है । किन्तु यद्यपि महाभारत मे अनेक दार्शनिक, नैतिक राजनैतिक और सामाजिक विषयो का महत्व पूर्ण उल्लेख प्राप्त होता है । फिर भी गीता ही महाभारत का बहुमूल्य तथा सारवान महत्वपूर्ण अश है ।

गीता का आकार बहुत बडा नही है और उसका आयाम मात्र ७०० श्लोको के अन्तर्गत है, फिर भी इन ७०० श्लोको के भीतर निःश्रेयस् की प्राप्ति के जो उपाय बताए गए है अन्यत्र दुर्लभ है । सत्य का स्वरूप निर्विरोध होता है । गीता मे

१—तैत्तिरीय उपनिषद् ३-१ ।

२—कठ उप० १—१—२० ।

३—भारतीय दर्शन, बल्देव उपाध्याय, तृतीय सस्करण पृष्ठ ८८—९२।

किसी भी मत का विरोध नही प्राप्त होता । वास्तव मे गीता की महत्ता उसकी समन्वयात्मक दृष्टि मे है । गीताकार ने तत्कालीन सभी दार्शनिक मतो को अपनी समतापरक दृष्टि से समन्वय की शृखला मे अभूत पूर्व ढग से ग्रथित कर दिया है । स्थूल रूप से गीता के सिद्धान्त के विषय मे कहा जा सकता है कि वह उस व्यवहार की प्रतिष्ठा करता है जो ब्रह्म विद्या-सम्मत है । अस्तु, ब्रह्म विद्या के साथ व्यवहार की सगति देखने के लिए यह अत्यावश्यक है कि हम यह जान ले कि गीता के अनुसार ब्रह्म, जीव और जगत आदि का क्या स्वरूप है ?

(१) **गीता और ब्रह्मतत्व**—यद्यपि गीता के अध्यात्म-निरूपण की सुस्पष्टता मे सभी विद्वान् एक मत है फिर भी एतद्विषयक् विवेचन को एक सूत्रित करके किसी निश्चित सिद्धान्त का प्रतिष्ठापन दुष्कर कार्य है । कदाचित् इसी हेतु आचार्य शकर ने गीता को दुर्विज्ञेयार्थ कहा है ।[1] परम लक्ष्य अथवा परम तत्व का वर्णन न्यूनाधिक रूप मे प्रत्येक अध्याय मे प्राप्त होना है किन्तु आठवे तथा १३ वे अध्याय मे इसका विशद वर्णन प्राप्त होता है । इस परम तत्व अथवा ब्रह्म को गीता विविध रूप से स्वीकार करती है, अर्थात् वह उसे सगुण भी मानती है तथा निर्गुण भी, किन्तु फिर भी वह उन दोनो को अभिन्न तत्व के रूप मे स्वीकार करती है ।[2] गीता के अनुसार ब्रह्म सत् भी है और असत् भी तथा वह दोनो से परे भी है ।[3] वह समग्र भूतो के बाहर भी है और भीतर भी । वह अचर भी है और चर भी तथा वही दूर भी है और निकट भी ।[4] प्रथम ष्टि मे ब्रह्म की उपर्युक्त उपाधियाँ एक दूसरे की विरोधी प्रतीत होती हैं किन्तु वास्तव मे ऐसा नही है । क्योकि वह परम तत्व समग्र उपाधियो से परे है और उसमे समस्त विरोधो का पर्यवसान होता है ।

गीता के अनुसार भगवान मे दो भावो की सत्ता हैं । प्रथम अपर भाव तथा द्वितीय पर भाव । अपर भाव के अन्तर्गत भगवान एक ही अश के द्वारा योगमाया मे सयुक्त रहते है तथा उसी अश से जगत् मे अभिव्यक्त भी होते है । इसे भगवान् का विश्वानुग रूप भी कहते है । किन्तु भगवान की सत्तामात्र—जगत् तक ही सीमित नही है, वरन् वह इससे परे भी है । और जगत से परे जो उनका स्वरूप है, वास्तव मे वही उनका वास्तविक स्वरूप है । उनके इसी अव्यय रूप का नाम है पर भाव अथवा विश्वातिग रूप ।[5] गीता के अनुसार ब्रह्म-सता की व्याप्ति इन्ही दोनो भावो

१—तदिद् गीताशास्त्रं समस्ते वेदार्थ सार सग्रहमूत दुर्विज्ञेयार्थम् ।

१—सर्वेन्द्रिय गुणाभासं सर्वेन्द्रिय विवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च । (गीता १३।१४)

२—११।३७ ।

३—गीता, १३।१५

४—परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्—७।२४।

द्वारा प्रतिष्ठित हुई है। वैसे तो भगवान अथवा ब्रह्म सर्वव्यापक है। फिर भी ऐश्वर्यवान अत्यन्त सुन्दर तथा शोभाशाली और ओजस्वी पदार्थों मे परमात्मा की शक्ति का विकास अधिक प्रकट होता है।[१] गीता के दसवे अध्याय मे ब्रह्म का विशद वर्णन प्राप्त होता है।

(२) **गीता और जीवतत्त्व**—गीता जीव को चैतन्य होने के कारण परा प्रकृति के रूप मे ग्रहण करती हे। यह ब्रह्म की उत्तम विभूतियो मे से है। इसे ही वह 'क्षेत्रज्ञ' की भी सज्ञा देती है। शरीर ही 'क्षेत्र' है क्योकि कृतकर्मों के फल को वही धारण करता ह। जो इस क्षेत्र से भलीभाति अवगत है वही 'क्षेत्रज्ञ' है। जीवात्मा ही इस क्षेत्र अथवा शरीर के समग्र अग-उपागो से भली-भाँति परिचित हे चाहे उसका यह परिचय स्वाभाविक रूप से हो अथवा किसी के उपदेश द्वारा। वैसे तो गीता के पृथक्-पृथक् अध्यायो मे जीवात्मा का वर्णन प्राप्त होता है, किन्तु द्वितीय अध्याय मे इसके विषय मे विशेष रूप से चर्चा की गई है। गीता की यह मान्यता है कि आत्मा न तो मरता है और न जन्म ग्रहण करता है। वह नित्य, शाश्वत तथा प्राचीन होते हुए भी चिर नवीन है। इस नश्वर शरीर मे उसका कभी नाश नही होता।[२] अतएव, जो व्यक्ति उसे मरने वाला अथवा मारने वाला समझते है, वे दोनो उसमे अनभिज्ञ हे, क्योकि वह मरने और मारने की क्रियाओ से पृथक् हे।[३] जिस प्रकार मनुष्य जीर्ण-जीर्ण वस्त्रो को त्याग कर नवीन वस्त्रो को धारण करता है, उसी प्रकार वह जीर्ण-शीर्ण शरीरो को छोडकर नूतन शरीरो को धारण करता हे। गीता कहती है कि वह जीवात्मा अविकार, अच्छेद्य, अदाह्य तथा अक्लेद्य है, वह शाश्वत सर्वव्यापी, स्थिर, अचल तथा सनातन है।[५] यह जीवात्मा अनेक न होकर एक ही है। जिस प्रकार सूर्य समस्त जगत को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार जीव के द्वारा समस्त शरीर प्रोद्भासित रहता है।[६] गीता के अनुसार जीव ब्रह्म का सनातन अश है।[७] ब्रह्मसूत्रान्तर्गत भी गीता के उपर्युक्त सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है और उसमे गीता की साक्षी स्मृति-वाक्य के रूप मे दी गई है। जीव और ब्रह्म के अशाशी सम्बन्ध की गीता की मान्यता का क्या अर्थ हे ? गीता मे स्पष्ट नही किया गया।

१—यद्यद बिभूतिमत् सत्वं श्रीमदूर्जित मेव वा।
यतेदेवावगच्छं त्वं मम तेजो च सम्भवम् ॥ १०।४१ ॥

२—गीता, २।२०।

३—गीता, २।२०

४—गीता २।२०

५—गीत, २।२०।

६—वही, १३।३३।

७—ममैवांशो जीवत्मोके जीवमृत सनातन, गीता १५।७।

गीता के अद्वैत वादी टीकाकारो ने प्रतिबिब "वाद और अवच्छेद" वाद के सन्दर्भ मे इस परिकल्पना की उपपत्तिया प्रस्तुत की हे। परन्तु इस प्रकार की व्याख्याये बाद की जान पडती है।

(३) **गीता और जगत-तत्व**—गीता के जगत का स्वरूप भगवान के परिवेश में है, अर्थात् गीता के शब्दो मे यदि कहा जाय तो भगवान सब भूतो का सनातन अविनाशी बीज है।[1] जिस प्रकार बीज से वृक्ष उत्पन्न होता है और अन्त मे फिर बीज मे ही लीन हो जाता है, उसी प्रकार यह जगत् भगवान से उत्पन्न होता है और फिर उन्ही मे लय हो जाता है। गीता मे साख्यो की प्रकृति को स्वीकार किया गया है। इस प्रकृति को गीता कही अव्यक्त कहती है तो कही 'महद्ब्रह्म'। साख्यानुसार जगत् की उत्पत्ति प्रकृति से ही मानी गयी है, किन्तु गीता इस सिद्धान्त से अपना भिन्न मत रखती है। उसके अनुसार 'प्रकृति' स्वतन्त्र नही है। उसका अध्यक्ष अथवा नियन्ता ईश्वर है। उसी के निर्देशानुसार प्रकृति जगत् को उत्पन्न करती है, नही तो जड तथा अचेतन प्रकृति इतनी सामर्थ्यवाना कदापि नही हो सकती थी।[2] पशु-पक्षी आदि समस्त योनियो मे उत्पन्न होने वाले प्राणियो का उत्पत्ति स्थान महद्ब्रह्म है और ईश्वर बीज रखने वाला है।[3] अस्तु, इससे पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि प्रकृति का स्थान माता का और ईश्वर का पिता का है। इस प्रकार गीता के अनुसार ईश्वर से प्रकृति का स्थान-न्यून है। गीता जगत् को काल्पनिक अथवा मायिक नही मानती, वरन् वह उसकी दृष्टि मे यथार्थ और सत्य है।[4]

(४) **गीता में वर्णित पुरुषोत्तम तत्व**—जगत्-जीव और ईश्वर के अतिरिक्त गीता एक परम रहस्यमय तत्व पुरुषोत्तम का भी वर्णन करती है। साख्य के अनुसार जगत का कारण प्रकृति ही अव्यक्त रूप मे स्वीकार की गई है। परन्तु, गीता के परिशीलन से यह पता चलता है कि वह व्यक्ताव्यक्त अथवा प्रकृति और पुरुष से ऊपर पुरुषोत्तम तत्व को मानती है और इसी पुरुषोत्तम को वह सर्वोपरि मानती है। यह पुरुषोत्तम तत्व ही अक्षर ब्रह्म है, परब्रह्म है। प्रकृति इसी की निकृष्ट विभूति है। गीता के अनुसार अचला प्रकृति क्षर है तथा कूटस्थ अधिकारी पुरुष अक्षर है। किन्तु वह परमतत्व जो प्रकृति का अतिक्रमण करता है और अक्षर से भी उत्तम है वही पुरुषोत्तम' है।[5]

१—गीता ७।१०।
२—मयाध्यक्षेण प्रकृति सूयते सचराचरम।
हेतुनानेन कौन्तेय जगत् विपरिवर्तते ।। (गीता ९।१०)
३—गीता (१४।४)
४—'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत।',
५—यस्मात् चरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तम।
सतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथित पुरुषोत्तम ।। (गीता १५।१८)

जड जगत् से पृथक् चेतन ब्रह्म और अव्यक्त प्रकृति से परे सचेतन तत्व को 'अक्षरब्रह्म' कहते है ।[1] किन्तु जो ईश्वर ससार मे व्याप्त होता हुआ भी अपनी सत्ता सबसे परे रखता है, जो विश्वानुग होकर भी विश्व मे परे है, वही पुरुषोत्तम है ।

[य] मीमांसा-दर्शन (पूर्व तथा उत्तर)

अनेक विचारको ने 'मीमासा' को अन्य दर्शनो की भाँति, दर्शन-शास्त्र नही स्वीकार किया । क्योकि इसके मूल-सूत्र ग्रन्थ मे प्रमाणो को छोडकर, अन्य किसी दार्शनिक तत्व का विवेचन नही प्राप्त होना । इन प्रमाणो का भी विचार किसी दार्शनिक 'प्रमेय' की सिद्धि के लिए नही किया गया, वरन् मीमासा के मुख्य विषय धर्म को जानने और वेदार्थ के विचार के लिए हे । मीमासा का सबसे प्राचीन नाम 'न्याय' है । इस दर्शन के न्यायकणिका न्यायमाल विस्तर आदि ग्रन्थो मे न्याय शब्द को उपयोग मे लाया गया है । मीमासा ने वेद की कर्मकाण्ड-सबधी श्रुतियो के पारस्परिक विरोध का परिहार किया है । इसने अनेक 'न्यायो' का अन्वेषण किया है जिनके द्वारा ऊपर से दिखने वाले विरोधी वाक्यो को एक सूत्रित किया जा सकता है । कार्मकाण्ड का ज्ञानकाण्ड मे प्रथम होने के कारण इसे पूर्व मीमासा अथवा कर्म मीमासा कहते है । ज्ञान काण्ड को मीमासा होने के कारण इसे 'उत्तर मीमासा अथवा केवल मीमासा के नाम से अभिहित किया जाता है ।

(१) **मीमासा-दर्शन और आत्मा**—मीमासान्तर्गत नैयायिको की भाँति आत्मा को शरीर और इन्द्रिय आदि मे पृथक् एक सत्ता के रूप मे स्वीकार किया गया है । उसके अनुसार आत्मा अथवा जीवात्मा एक द्रव्य है । वेदानुसार यज्ञ के अनन्तर यजमान स्वर्ग को जाता है ।[2] इससे सिद्ध होता है कि शरीर तो यही रह जाता है, मात्र आत्मा स्वर्गलोक को प्रयाण करता है । इसी प्रकार वह (यजमान) जीवन मरण के बधन से मुक्त होता है—इस कथन से भी यह स्पष्ट प्रकट होता है कि देह, इन्द्रिय आदि विनाशी पदार्थो के अतिरिक्त कोई अविनाशी और नित्य पदार्थ है जो मुक्ति-लाभ करता है । मीमासा के अनुसार वही आत्मा अथवा जीवात्मा है । यह आत्मा ज्ञानवान है किन्तु स्वप्नावस्था मे विषय न होने के कारण इसमे ज्ञान नही रह जाता। इस प्रकार यह चेतन और जड तत्व समन्वित भी है ।

यह आत्मा कर्त्ता भी है और भोक्ता भी । वह व्यापक है और प्रत्येक शरीर मे भिन्न रूप रखने वाला है । ज्ञान, सुख, दु ख तथा इच्छादि गुण उसमे समवाय सबन्ध से रहते है । यह आत्मा ज्ञान सुखादि रूप नही है । भाट्ट मीमासक न्याय वैशेषिक मत के विपरीत आत्मा मे क्रिया के अस्तित्व को स्वीकार करते है । मीमासा

१—गीता ८।२०—२ ।

२—यज्ञमान · स्वर्ग लोकं याति ।

दो प्रकार के कर्मो को स्वीकार करती है—स्पन्द और परिणाम। इनमे आत्मा मे वे स्पन्द (स्थान-परिवर्तन) नही स्वीकार करते,[१] किन्तु परिणाम (रूप परिवर्तन) स्वीकार करते है। कुमारिल के अनुसार वस्तु भी नित्य है। उनके मतानुसार परिणामशील होने पर भी आत्मा नित्य पदाथ है। आत्मा चित् तथा अचित् दोनो अशो से समन्वित है अपने चिदश द्वारा 'आत्मा' प्रत्येक ज्ञान का अनुभव कराता है पर अचिदश द्वारा वह परिणाम को प्राप्त होता है। न्याय वैशेषिक वाले सुख, दु ख, इच्छा, प्रयत्नादि को आत्मा के विशिष्ट गुणो के रूप स्वीकार करते है किन्तु भाट्ट मत इन्हे अचिदश का परिणाम मानता है।[२] वेदान्तियो के मत के विपरीत कुमारिल आत्मा को चैतन्यस्वरूप न मानकर चैतन्य विशिष्ट स्वीकार करते है। प्रभाकर के अनुसार आत्मा मे क्रियावत्ता नही है। कुमारित के अनुसार आत्मा अनुभवगम्य है। उनका कहना है "अहमात्मान जानामि", अर्थात् मै अपने को जानता हू, इस अनुभव-वाक्य द्वारा यह सिद्ध होता है कि कर्त्ता अपने अस्तित्व को जानता है। वास्तव मे इसमे 'आत्मान' आत्मा के अतिरिक्त और कुछ नही है। इस प्रकार कुमारिल के अनुसार आत्मा ज्ञानकर्ता भी है और विषय भी किन्तु प्रभाकर 'अह' के पद के द्वारा जाना गया, मानते है। उनके मत से प्रत्येक ज्ञान मे कर्त्ता-रूप मे आत्मा की सत्ता है। उदाहरणार्थ, 'घटमहं जानामि' अर्थात् 'मै घडे को जानता हू' इस अनुभव वाक्यान्तर्गत घट ज्ञान कर्त्ता आत्मा ही है। अस्तु प्रत्येक ज्ञान के कर्तृत्व द्वारा आत्मा का अस्तित्व मानना उचित प्रतीत होता है।[३]

(२) **मीमांसा और ईश्वर**—शवर के अनुसार ईश्वर की सत्ता नही है। उनका कहना है कि इस जगत् के कर्त्ता का कही भी कोई प्रमाण नही मिलता। शवर नैयायिको की तरह वेद को भी ईश्वर कृत नही मानते। कुमारित 'प्रलय' आदि को ही नही स्वीकार करते, अतएव सृष्टि के कर्त्ता के रूप मे अथवा सृष्टि की दूसरी सृष्टि साथ क्रमबद्धता को स्थिर रखने के लिए एक सर्वज्ञ चेतन ईश्वर की आवश्यकता भी नही समझते। जैमिन के अनुसार यज्ञ से ही वाछित फलो की प्राप्ति होती है, ईश्वर के कारण नही। अस्तु, ब्रह्म सूत्र तथा प्राचीन मीमासको के अनुसार ईश्वर की सत्ता सिद्ध नही होती।[४] बाद के मीमासको को इस सिद्धान्त मे त्रुटि प्रतीत हुई और

१—यजमानत्वमप्यात्मा सक्रियत्वात् प्रपद्यते।
न परिस्पद एवैक: क्रिया न · कण भोजिवत् ॥ श्लो० वा० पृ० ७०७।

२—चिदंशेन दृष्टत्वं सो यमिति प्रत्यंभिज्ञा, विषयत्व च अचिंदशेन।
ज्ञान सुखादि रूपेणपरिणामित्वम्। स आत्मा अहं प्रत्ययेनैव वेद्य·।
काश्मीरक सदानन्द-अद्वैत ब्रह्मसिद्धि

३—मा० मे० पृ० (१९२-१९४)

४—धर्म जैमिनिरत एव-ब्रह्म सूत्र ३।२।४०।

उन्होने ईश्वर की सत्ता यज्ञपति के रूप मे स्वीकार की। आपदेव तथा लौगाक्षिभास्कर ने गीता के ईश्वर समर्पण सिद्धान्त को स्वीकार किया और उसे श्रुतिसम्मत मानकर मोक्षप्राप्ति के लिए समग्र कर्मो के फलो को ईश्वर को समर्पित करने के लिए कहा।[1] वेदान्त देशिक ने इसी तात्पर्य से 'सेश्वर मीमासा' नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया। 'प्रभाकर विजयान्तर्गत सुन्दर तर्को द्वारा ईश्वर सिद्धि को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है।[2] किन्तु फिर भी प्राचीन मीमासा मे ईश्वर की मान्यता नही है। उसमे देवताओ की भी पृथक् सत्ता नही स्वीकार की गई। मीमासक देवताओ को मन्त्रात्मक मानते है, यही उनका परिनिष्ठित सिद्धान्त है।

(३) मीमासा मे जगत का स्वरूप—हम अपनी इन्द्रियो द्वारा बाह्य वस्तुओ को प्राप्त करते है। उनके द्वारा जिस रूप मे जगत् की उपलब्धि होती है, मीमासक उसी रूप मे ससार की सत्यता स्वीकार करते है। इस उपलब्धि ज्ञान को उन्होने तीन स्तभो मे वर्गीकृत किया है—(१) भागायतन, (२) भोग साधन तथा (३) भोग विषय। जिस शरीर मे रहकर आत्मा दु ख सुख का अनुभव करता है, भोगायतन कहलाता है। इन्द्रियो को जिनके द्वारा आत्मा सुख-दु ख का भोग करता है भोग साधन कहलाता है और बाह्य पदार्थ, आत्मा जिनका भोग करता है, भोग विषय है। इन्ही तीनो प्रकार की वस्तुओ से युक्त यह अनेक रूप प्रपच का और छोर नही है। मीमासा के अनुसार न तो इस जगत् का मूल उद्गम ही है और न इसकी आत्यतिक प्रलय ही होती है। वह केवल जीवन-मरण को मानती है और जगत् का कभी नाश नही होता। कुछ भीमासको के अनुसार ससार की उत्तपत्ति अणुओ के द्वारा हुई है।[3] उनके अनुसार जगत् की वस्तुएँ अणु से उत्पन्न हुई हैं उनका कहना है कि कर्मो के फलान्मुख होने पर अणुओ के भोग से व्यक्ति उत्पन्न होते हैं तथा फल-समाप्ति पर विच्छेद हो जाता है और वे अवान्तर परिवर्तन को प्राप्त होते हैं। न्याय वैशेषिक के अन्तर्गत भी जगत् की उत्पत्ति परमाणुओ से स्वीकार की गई है, पर दोनो दर्शनो मे एतद्विषयक् मान्यता मे अनेक भेद है। न्याय के अनुसार परमाणु अनुमानित किया गया है, प्रत्यक्षा सिद्ध नही है। उसके अनुसार सूर्य की किरण जब किसी छिद्र मे प्रवेश करती है तो कुछ सूक्ष्म द्रव्य दृष्टिगोचर होते हैं, वे त्रसरेणु है

१—ईश्वर समपण बुद्धया क्रियमाणस्तुनिःश्रेयसहेतु.। न च तदर्पण बुद्ध मानुष्ठाने प्रमाणमावः। यत्करोषि यदश्नाभोति भगवद्गीता स्मृतरैव प्रमाणत्वात्। स्मृतिचरणे तत्प्रमाण्यस्य श्रुतिमूलकेत्वेन व्यवस्थापनात् (अर्थसंग्रह पृ० १९६, मीमासा न्याय प्रकाश पृ० १९०

२—प्रभाकर विजय, पृष्ठ १८२।

३—प्रभाकर विनय पृ० ४३-४६

कुमारिल अणुवाद को मीमांसा का सर्व सम्मत सिद्धान्त नहीं स्वीकार करते।

और उनके छठे भाग को परमाणु कहते है। किन्तु मीमासको को यह मत स्वीकार नही है। उनके अनुसार जो कण हम अपनी आँखो से देखते है वे ही परमाणु हैं और वे इनसे सूक्ष्म की कल्पना से बिलकुल इनकार करते है। मीमासा-सम्मत यही जगत् का स्वरूप है।[1]

[र] सांख्य-दर्शन

इस जगत् की सत्ता इस हेतु है कि वह प्रकृति और पुरुष के पारस्परिक भेद को नही जानता। किन्तु, जिस समय जगत् को पुरुष के विशुद्ध स्वरूप का ज्ञान हो जाता है, वह दु:ख की आत्यतिक ताडना से सदा के लिए निवृत्ति पा जाता है। इस ज्ञान को परिभाषान्तर्गत बाधने से 'प्रकृति-पुरुषान्य ताख्याति 'अथवा प्रकृति-पुरुष विवेक सिद्ध होता है। अर्थात् वह ज्ञान जो प्रकृति-पुरुष का अभिज्ञान करावे। इसी की दूसरी सज्ञा है 'सख्या=सम्यक् ख्याति=सम्यक् ज्ञान=विवेक ज्ञान। साख्य दर्शन मे सख्या को मौलिक रूप मे स्वीकार किया गया है और इसी कारण इस दर्शन को 'साख्य' की सज्ञा दी गई है। महाभारत के अन्तर्गत साख्य की यही प्रामाणिक व्याख्या प्राप्त होती है।[2] कुछ लोग साख्य को गणना के अर्थ मे ग्रहण करते है और इसका सबध 'सख्या' से जोडते है। किन्तु, यह व्याख्या प्रथम व्याख्या के समान प्रामाणिक नही मानी जाती।[3] साख्य-दर्शन द्वैतमत का प्रतिष्ठापक है। उसकी यह स्थापना है कि प्रकृति और पुरुष दो मूल तत्व है और इन्ही के पारस्परिक सबध से जगत् की उत्पत्ति होती है। साख्य के अनुसार प्रकृति का स्वरूप जड है और वह एक है, किन्तु पुरुष चेतन है तथा अनेक है। नीचे इन पर विस्तार से विचार किया जा रहा है।

(१) **सांख्य की प्रकृति**—प्राय प्रत्येक दर्शन का मूल विषय इस जगत् की उत्पत्ति रही है। जब दार्शनिको ने देखा होगा कि जगत् के समस्त पदार्थ-मन, शरीर, इन्द्रिय बुद्धि इत्यादि अपनी सीमा मे बँधे हुए है तथा परतन्त्र हैं और किसी चेतन कर्ता के कार्य रूप मे अवस्थित हैं और इनका कर्ता कोई और है जो इन सबके मूल में है। तो वे उसकी विचारणा मे व्यापृत हुए होगे। बौद्धो, जैनों तथा न्याय—वैशेणिक के अनुसार वह मूल तत्व 'परमाणु' है। किन्तु, सांख्य इस सिद्धान्त को त्रुटि पूर्ण

१—जालरन्ध्र विसरद्रवित जो जालभालुरपदार्थविशेषान्।
अल्पकानिह पुनः परमाणून् कल्पयन्ति हि कुमारिल शिष्याः।
(मान मेयोदय पृ० १६४)

२—संख्या प्रकुर्वते यैव प्रकृति च प्रचक्षते।
तत्वानि च चतुर्विशत् तैन 'संख्या' प्रकीर्तित ॥ महाभारत।

२—दोषाणांच गुणानांच प्रमाणांप्रविभागत :।
कञ्चिदर्थमभिप्रेत्य सा संख्येत्युपार्यताम् ॥ महाभारत।

समझता है। साख्य का कहना है कि भौतिक परमाणुओ से स्थूल जगत् की उत्पत्ति सभव हो मकती है परतु, उनसे मन, बुद्धि के समान सूक्ष्म पदार्थों की उत्पत्ति सर्वथा असभव है। अस्तु, साख्य स्थूल-सूक्ष्म यावत् कार्यों की उत्पादिका 'प्रकृति' को स्वीकार करता है।

प्रकृति की स्वरूप-प्रतिष्ठा के लिए अनेक विधि प्रयास किया गया है। उन युक्तियो मे से कुछ इस प्रकार है :—

(१) इस ससार के समस्त पदार्थ सीमित और परतन्त्र है। अतएव इनका मूलाधार स्वतन्त्र अथवा निराधार और असीम होना चाहिए।

(२) ससार के समस्त पादार्थों की सत्ता तीन वर्गो मे विभक्त की जा सकती है। अर्थात् प्रत्येक पदार्थ सुख-दु ख और मोह से आवृत्त है। अतएव एक ऐसी मूल शक्ति होनी ही चाहिए जो इन सब मे सद्भाव रख सके।

(३) कारण के द्वारा कार्य की निष्पति एक सर्वमान्य सिद्धान्त है। यह कारण शक्ति कार्य की अव्यक्तावस्था के अतिरिक्त और कुछ नही है। अस्तु, यह सिद्ध हुआ कि समस्त कार्यों की उत्पादिका एक व्यक्त शक्ति अवश्य है।

(४) जगत् के आविर्भाव मे कारण मे कार्य होता है और विनाश काल मे कार्य उसी कारण मे विलीन हो जाता है। इससे सिद्ध होता है कि सृष्टि के समय जो पदार्थ उस मूल शक्ति से उत्पन्न होते है, प्रलय काल मे उसी मे लय हो जाते है। साख्य के अनुसार यही अव्यक्त तथा मूल शक्ति 'प्रकृति' है।[1] साख्य इसे अजन्मा तथा कारण के रूप मे स्वीकार करता है। यदि इस तत्व के कारण का शोध किया जाय तो अवस्था दोष लगता है। अस्तु, प्रकृति को ही जगत् का आदि कारण मानना सर्वथा उचित प्रतीत होता है। साख्य के अनुसार प्रकृति सत्व, रज तथा तम गुणो की साम्यावस्था है। वह कारण रहित, नित्य, व्यापक, विषय, सामान्य, निष्क्रिय, निराश्रित, अलिंग, निरवयव, स्वतन्त्र, विवेक रहित, सामान्य, अचेतन और प्रसव-धर्मिणी है।[2]

(२) **सांख्य में जगत का स्वरूप**—साख्य, जगत के समस्त पदार्थों को सुख-दु:ख और मोहात्मक मानता है। एक ही पदार्थ किस प्रकार सुख-दु ख और मोह का कारण बनता है, इसको एक उदाहरण के द्वारा इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है मान लीजिए एक सुन्दर रमणी किसी की पत्नी है। वह रमणी अपने पति के लिए तो आन्नद प्रदायिका है किन्तु पर पुरुष यदि उसके सौन्दर्य से मुग्ध होकर उसकी प्राप्ति

१—देखिए-सांख्य कारिका १५-१६ सांख्य सूत्र तथा सांख्यप्रवचन भाष्य १/११०, १/१२-१२७।

२—सां० का० (१०११)

को चेष्टा करता है और अपने इस कार्य मे असफल होता है तो इस अप्राप्ति के फलस्वरूप उसको असीम दुःख होता है और कभी वह मोहाविष्ट भी हो जाता है। इन तीनो को साख्य 'गुण' कहता है। वैशेषिक दर्शन और साख्य दर्शन के 'गुण' शब्द मे मात्र नाम की ही समता है वैसे दोनो की मान्यता मे एकान्त अतर है। वैशेषिक के 'गुण' सयोग-विभागशाली, और लघुता आदि धर्म से युक्त होने के कारण द्रव्य रूप ही है, किन्तु वाचस्पति मिश्र के मतानुसार ये तीनो प्रकृति के स्वरूप का धारण करने वाले तथा पुरुष के अर्थ के सिद्ध करने वाले हैं[1]। विज्ञानु-भिक्षु गुणो का अर्थ रस्सी ग्रहण करते हैं। अस्तु उनके मतानुसार पुरुष को बन्धन युक्त करने वाले त्रिगुण-सम्पन्न महत् तत्व आदि के रचयिता होने के कारण इन्हे गुण कहते है[2]। गुणो के तीन प्रकार है—सत्व, रज और तम। सत्वगुण प्रीति रूप, और प्रकाश प्रदान करने वाला होता से। रजोगुण का स्वरूप दुःख देनेवाला चंचल और कार्य प्रवर्तक होता है। तमोगुण मोहरूप तथा भारी और रोकने वाला होता है। इस प्रकार यद्यपि ये गुण परस्पर भिन्न स्वभाव वाले है फिर भी इनकी वृत्ति पुरुष के लिए अनुकूल एकाकार होती है[3]।

ये गुण व्यक्ता तथा अव्यक्ता दोनो अवस्थाओ मे परिणामशील होते हैं। प्रकृति-अवस्था मे उनमे पारस्परिक सभोग न होने पर भी-क्योकि उस समय वे अपनी विशुद्धावस्था मे अवस्थित रहते है—परिणाम होता है जिसे साख्य—मतानुसार 'सदृश परिणाम' कहते है। सृष्टि दशा मे गुण परिणाम नही विकार उत्पन्न करते है। गुण इन्द्रियातीत है। उनके स्वरूप का अनुभव किसी भी दशा मे असभव है।

जब ये तीनो गुण साम्यावस्था को प्राप्त करते है तो उसकी सज्ञा 'प्रकृति' होती है। साख्य दर्शन परिणाम नित्यता को बौद्धो के समान ही स्वीकार करता है। साख्य का मत है कि जगत् के समस्त पदार्थ प्रतिक्षण परिवर्तित हो रहे है। परन्तु वह इस परिणाम को ऐकान्तिक नही स्वीकार करता क्योकि अवस्था परिवर्तित होने पर ये गुण (सत्व, रज, तम) उसमे अनुस्यूत रहते हैं। गुणो की साम्यावस्था के कारण जब प्रकृति अपने अव्यक्त रूप मे अधिष्ठित रहती है तो उस समय प्रलय होता है। जब गुणो का वैषम्य होता हो तो सृष्टि उत्पन्न होती है। प्रलयवस्था मे भी प्रकृति परिणाम शालिनी होती है। किन्तु अंतर इतना ही होता है कि उस समय वह अपने से भिन्न पदार्थ को उत्पन्न नही करता वरन् अपने को ही उद्घाटित करता है। इसी को 'स्वरूप-परिणाम' कहते हैं। इस प्रकार भौतिक जगत् के विषय में साख्य की यह दृढ

१—परार्थागुणाः (त० कौ० का० १२।

२—गुण शब्दः पुरषों प्रकरणस्वात् पुरुष पशु बन्धक त्रिगुणात्मक महदारिज्जु निर्मातृ-त्वाच्च प्रयुज्यते। सा० प्र० भा० १—६१।

३—सा० का० ० (१२—१३)।

मान्यता है कि वह प्रतिक्षण परिवर्तित होता रहता है। चिति शक्ति ही ऐसी है जिसमे कोई परिवर्तन नही होता[1]।

(३) सांख्य और पुरुष—प्रकृति के अतिरिक्त साख्य जिस तत्व को प्रधानता देता है, वह है पुरुष। साख्य पुरुष को त्रिगुणातीत, विवेकी, विषयी, विशेष, चेतन और अप्रसवधर्मी मानता है। यह पुरुष स्वयमेव चैतन्य रूप है। जगत् के समस्त पदार्थ त्रिगुणसयुक्त तथा चेतन होते है। उनमे तीनो गुण तो प्रकृति के अश और चेतन पुरुष का अश है। पुरुष अविकारी, कूटस्थ, नित्य, और सर्व व्यापक है। पुरुष निष्क्रिय तथा अकर्ता भी है। जगत् की समस्त क्रिया प्रकृति के द्वारा परिचालित होती है। पुरुष तो मात्र द्रष्टा रहता है। त्रिगुणातीत होने के कारण ही यह नित्य मुक्त है। और इसी हेतु वह प्रकृत्या कैवल्य-सपन्न है। इसीलिए साख्य उसे मध्यस्थ भी कहता है।[2]

साख्य के पुरुष की कल्पना मुख्यतया पाच पुष्ट अधारो पर अधिष्ठित की गई है[3] —

(१) सघात परार्थत्वात्।
(२) त्रिगुणादि विपर्ययात्।
(३) अधिष्ठानात्।
(४) भोक्तृ भावात्।
(५) कैवल्यार्थ प्रवृते

ससार के समग्र पदार्थ सघातमय हैं। उदाहरणार्थ घर को ही लीजिए। घर क्या है? चूना ईट, पत्थर, लोहा लकडी आदि वस्तुओ का समुदाय ही तो है। कपडा क्या है? अनेक धागो के समूह के अतिरिक्त और क्या है? किन्तु ये सभी सगठित वस्तुएँ स्वय अपना उपयोग नही कर सकती, अतएव इनका उपभोक्ता पृथक् कोई अन्य ही होना चाहिए और वह जगत् से नितान्त विलक्षण 'पुरुष' के अतिरिक्त और कोई नही है।

त्रिगुणात्मक प्रकृति से भिन्न होने के कारण किसी एक असघात पदार्थ की कल्पना न्याय सगत है।

बिना चेतन के अधिष्ठान के जड पदार्थ मे किसी प्रकार की प्रवृत्ति अथवा सक्रियता दृष्टिगोचर नही होती। उदाहरणार्थ बिना चेतन सारथि के रथ एक स्थान से दूसरे स्थान को नही जा सकता। इससे सिद्ध होता है कि सुख-दुःख और मोह

१—प्रतिक्षण परिणा मिनोहि सर्वं एव भावाः ऋते चितिशक्ते।

(म० कौ० का० ५।)

२—सां० का० १९।

३—सां का० १७ का०।

सयुक्त जड जगत् को कोई चेतन पदार्थ सक्रिय बनाता है अथवा कार्य-प्रवृत्त करता है।

जगत् के समस्त पदार्थ भोग्य है[1]। इससे सिद्ध होता है कि इनका भोक्ता कोई अवश्य है। यह भोक्ता इन पदार्थो मे निहित गुणो से सर्वथा भिन्न भी है और भोक्ता 'पुरुष' के सिवाय और कोई नही है।

इस जगत् मे प्राय. यह देखा जाता है कि कुछ व्यक्ति ससार के भोगो से विरक्त होकर मुक्ति की प्राप्ति के लिए प्रयास करते है। और भौतिक ससार की किसी भी वस्तु के लिए यह असभव है कि वह मुक्ति-लाभ के लिए यत्नशील हो और इस प्रकार इस त्रिगुणात्मक जगत् के दु:खो से निवृति के लिए प्रयास करें। किन्तु, त्रिगुणो के भीतर कोई एक ऐसा चेतन पदार्थ अवश्य है, जो मुक्ति की कामना करता है। वही चेतन तत्व (पदार्थ) पुरुष है।

साख्य का यह पुरुष एक नही अनेक है। साख्य का मत है। कि यदि पुरुषो की एकता होती तो एक पुरुष के जन्म लेने पर सभी का जन्म हो जाता किन्तु ऐसा देखा नही जाता। ऐसे ही अनेक उदाहरणो से वह अपने एतद्विषयक् सिद्धान्त की पुष्टि करता है।[2]

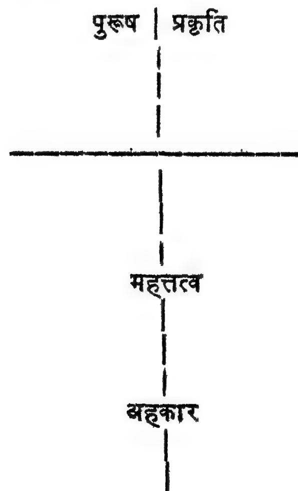
(४) **सांख्य और सृष्टि**—साख्य दर्शन के अनुसार प्रकृति और पुरुष के सयोग से सृष्टि की उत्त्पति होती है। क्यो कि प्रकृति तो जड है यह स्वयमेव सृष्टि को उत्पन्न कर ही नही सकता और निष्क्रम होने के कारण अकेला पुरुष भी सृष्टि का उत्पादक नही हो सकता। अस्तु, पुरुष और प्रकृतिक का सयोग ही सृष्टि की उत्पति का हेतु है। चेतन पुरुष की अध्यक्षता मे ही जड प्रकृति सृष्टि के कार्य को सपादित करती है। साख्य-दर्शन के सृष्टि सम्बन्धी उपर्युक्त सिद्धान्त को लेकर बहुधा एक प्रश्न किया जाता है कि विरुद्ध स्वभाव की जड़ प्रकृति का चेतन पुरुष से सम्बन्ध किस प्रकार सभव होता है। साख्य इस प्रश्न का उत्तर अन्धे-लँगडे के दृष्टा द्वारा इस प्रकार देता है कि अधा चलने की तो क्षमता रखता है किन्तु देख नही सकता और लगडा देखता तो है किन्तु चल नही सकता। जिस प्रकार वे दोनो मिल कर अपने कार्य को सुचारु रूप से सपादित करने मे समर्थ होते है ठीक उसी प्रकार प्रकृति और पुरुष सृष्टि-क्रिया मे सफलता प्राप्त करते है। प्रकृति स्वभावत. भोग्य है इस लिए बिना भोक्ता के उसका स्वरूप सिद्ध नही होता और पुरुष प्रकृति के सयोग का इसलिए इच्छुक रहता है कि मोक्ष की सिद्ध कर लें।[3]

१—भोगापवर्गार्थं दृश्यम् (यो० सू० २-१८)।

२—विशेष जानकारी के लिए स्वामी हरिहरानन्द आ कृत योग भाष्य का बंगला अनुवाद द्रष्टव्य है।

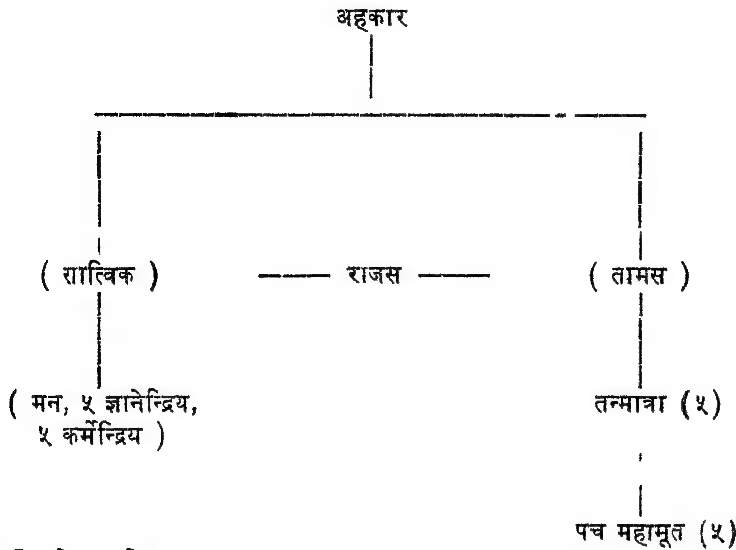
३—सां० का० २१।

पुरुष के नैक्टूय से जड़ प्रकृति मे विकार उत्पन्न होता है। प्रथम विकार की सज्ञा साख्य ने महत्तत्व दी है, वह उसे जगत उत्पति का बीज का कहता है। व्यक्ति (व्यष्टि, इकाई) मे इस तत्व को बुद्धि कहते हैं। बुद्धि भले-बुरे-कार्य-अकार्य का विवेक देती है[1]। सात्विक बुद्धि के चार गुण माने गए है—(१) धर्म, (२) ज्ञान, (३) वैराग्य और (४) ऐश्वर्य। तामस बुद्धि के गुण उपर्युक्त गुणो से बिल्कुल विलोम है। महत्तत्व से अहकार की उत्पति होती है। अहकार का भाव आने से व्यक्ति अपने "मैं" अथवा 'अहम्' को सर्वाधिक महता प्रदान करता है। इस अवस्था मे वह इस प्रकार सोचता है, "मैं ही इस कार्य को करने मे समर्थ हू"। यह सब मेरा ही है "आदि। यह अहकार मे तीन प्रकार का होता है, यथा सात्विक, राजस और तामस। सात्विक अहंकार से 'मन' राजस से दश इन्द्रियो और तामस से पंच तन्मात्राओं की उत्पति होती है[2]। शब्द, स्पर्श, रुप, रस तथा गन्ध के अत्यन्त सूक्ष्म रूप को तन्मात्रा कहते हैं। इनका स्वरूप इतना सूक्ष्म है कि इनका साक्षात्कार केवल भोगियों को ही होता है। शब्द-तन्मात्रा से शब्द-गुण आकाश की उत्पत्ति होती है। शब्द तन्मात्रा सयुक्त स्पर्श तन्मात्रा से शब्द स्पर्श गुणवाली वायु की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार तेज, जल, पृथ्वी की उत्पत्ति पूर्व तन्मात्राओ के सयोग और अपनी तन्मात्रा से होती है[3]। साख्य के अनुसार सृष्टि-वृक्ष निम्न प्रकार है—



(शेष अगले पृष्ठ पर)

१—सां० का० २३।
२—सां० प्र० मा० २।१८
३—सा० का० २२।



[ल] योग-दर्शन

श्री अरविन्द को साधारण जनो मे मुख्यत प्रतिष्ठा एक योगी के रूप मे ही प्राप्त है। वे चिन्तक अथवा दार्शनिक भी है, इसको तो इनके अध्येता ही जानते है। निश्चय ही योग का सर्वाधिक प्रभाव उनके जीवन मे पडा है। कहना तो यह चाहिए कि योग-साधन के द्वारा ही उनकी दार्शनिक विचारणा का भी जन्म हुआ है। अस्तु, इस स्थल पर सक्षिप्त किन्तु सर्वा ग रूप से भारत की इस आध्यात्मिक उपलब्धि का विश्व-सस्कृति की देन पर विचार किया जा रहा है।

योग को यदि हिन्दुओ की सर्वाधिक प्राचीन अमूल्य सम्पत्ति के रुप मे स्वीकार किया जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। योग ही एक ऐसी विद्या है जिसके लिए कोई विवाद नही करता और जिसे सभी एक स्वर से स्वीकार करते है। मोक्ष प्राप्ति के लिए योग से बढकर और कोई विद्या नही है। योग की उपलब्धिया अकथनीय है। योगियो का प्रातिभ-ज्ञान और उनका अन्तर्यामित्व यौगिक उपलब्धियो के ही फल-स्वरूप था। सभी धर्म प्रचारको और दार्शनिको ने योग की उपयोगिता को मान्यता प्रदान की है और अपनी-अपनी दृष्टि से उसका विवेचन प्रस्तुत किया है। योग सम्बन्धी दृष्टि-विभिन्नता के कारण योग की अनेकविध साधन-प्राणालिया बन गई है। बौद्ध धर्म के पाली त्रिपिटको और सस्कृत-ग्रन्थो मे योग के ऊपर विशेष रूप से प्रकाश डाला गया है। जैन धर्म मे योग को बडी प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है। महाबीर स्वय ही बडे योगी थे। उमास्वाती ने 'तत्वार्थ सूत्र' मे तथा हेमचन्द्र ने 'योग-शास्त्र' मे स्वतन्त्र रूप से योग पर सुन्दर प्रकाश डाला है। तन्त्र तो यौगिक साधनाओ के आकर ग्रथ ही माने जाते है। गोरखनाथ के नाथ-सप्रदाय का योग के कारण ही

इतना समादर हुआ कि उसे 'योगी' सम्प्रदाय की पृथक् सज्ञा ही मिल गई। नाथ-पथी साधुओ को योग की 'हठयोग' प्रणाली का विशेषज्ञ और आचार्य माना जाता है। हठयोग के अतिरिक्त योग-शास्त्र मे, तत्र योग, नत्र योग आदि योगो की विशद चर्चा प्राप्त होती है। परन्तु, इस स्थल पर चूकि योग का दार्शनिक विवेचन ही अभीष्ट है, इसलिए 'राजयोग' के नाम से प्रतिष्ठित पातजलि योग पर ही प्रकाश डाला जा रहा है।

(१) **योग-दर्शन की प्राचीनता**—योग-दर्शन के जो सूत्र आज उपलब्ध है, साधारण तया उनके रचयिता का नाम पतजलि कहा जाता है। याज्ञवल्क्य स्मृति मे हिरण्य-गर्भ को योग का वक्ता माना गया है।[1] महर्षि पतजलि ने प्रतिपादित योग शास्त्र का उपदेश मात्र दिया है।[2] अस्तु, उन्हे योग का प्रवर्तक न कह कर सशोधक ही कहना अधिक समीचीन प्रतीत होता है। भारतीय परम्परा मे योग-सूत्र के रचयिता महर्षि पतजलि और पाणिनि व्याकरण के महाभाष्य के निर्माता पतजलि एक ही व्यक्ति माने जाते है। दोनो ने ही स्फोटवाद को स्वीकार किया है। योग स्फोटवाद को स्वीकार करता है और भी अनेक ऐसे कारण है जिनसे यह प्रतीत होता है कि उप-र्युक्त ग्रन्थो का रचयिता एक ही व्यक्ति था, महर्षि पतजलि ही थे।[3] अस्तु यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि योग-सूत्र की रचना विक्रम पूर्व द्वितीय शतक मे हुई।

पतजलि योग-दर्शन मे चार पाद है जिनकी सूत्र सख्या पादानुसार (५१-५५ - ५५ - ३४) १९५ है। योग-दर्शन का प्रथम पाद, समाधि पाद है। इस पाद मे समाधि के विविध रूपो तथा भेदो, चित्त तथा चित्त-वृत्तियो पर विशद रूप से प्रकाश डाला गया है। द्वितीय पाद का नाम है, साधन-पाद। इस पाद मे क्रिया योग, क्लेश तथा उसके भेद, क्लेशो को दूर करने का साधन, हेय 'हेतु', हानि और हानोपाय आदि पर तो प्रकाश डाला ही गया है साथ ही योग के अष्टाग आदि महत्वपूर्ण विषयो का भी विशद विवेचन किया गया है। योग-दर्शन के तृतीय पाद (विभूति पाद) मे धारणा, ध्यान और समाधि के पश्चात् योग से प्राप्त होने वाली विभूतियों का वर्णन प्राप्त होता है। योग सूत्र के चतुर्थपाद मे समाधिसिद्धि, निर्माण-चित्त, विज्ञानवाद और कैवल्य का निराकरण किया गया है।

पातजलि योग-दर्शन के ऊपर व्यास-भाष्य अत्यत महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। योग-सूत्र के गूढ तत्वो का रहस्योद्घाटन करने मे इस ग्रन्थ का अद्वितीय स्थान है। इन

१—हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः (याज्ञवल्क्य स्मृति)

२—शिष्टस्य शासनमनुशासन (त० वै० १।१)

३—हिस्ट्री आफ इन्डियन फिलासफी, भाग ९ पृष्ठ २२५-२३५ (डा० दास गुप्त कृत)

व्यास का समय सदिग्ध है। पुराणो के रचयिता व्यास और इनमे अभिन्नता की सगति किसी भी प्रकार नही बैठाई जा सकती, क्योकि पुराणो के रचयिता व्यास अत्यत प्राचीन है।

योग-सूत्रो की अन्य टीकाओ मे भोज कृत- 'राजमार्तण्ड" भावागणेश की 'वृत्ति' रायनन्द यति की 'मणिप्रभा' अनन्त पण्डित की 'योग चन्द्रिका, 'सदाशिवेन्द्र सरस्वती का 'योग सुधारक' नागोजी भट्ट की लघ्वी और वृहतीवृत्तियाँ अत्यधिक प्रसिद्ध है।

(२) **योग शास्त्र का विषय**—योग शास्त्र केवल बुद्धि-विग्रहो पर विचार करता है। अस्तु, उसका विशेष सम्बन्ध, चित' से है। चित्त की विविध भूमिकाओ को योग-शास्त्र अपनी विचारणा और चिन्तना का लक्ष्य बनाता है। वास्तव मे योग शब्द समाधिपरक 'युज' धातु (युज समाधौ) से निष्पन्न होता है। अस्तु योग का व्युत्पति से प्राप्त अर्थ 'समाधि' है पतजलि के मतानुसार 'योग योगश्चित्त वृत्तिनिरोध [1] अर्थात चित की वृत्तियो का रोकना योग है। यहाँ परचित से अभिप्राय अन्त करण[2] से है। चित्त ही वास्तव मे सत्व प्रधान—प्रकृति परिणाम है। किन्तु चित्त प्राकृति है इलिए यह प्रतिक्षण परिणामशाली है और इसी कारण सत्व-रज-तथा तम गुणो के उद्रेक के कारण उसका त्रिविध रूप देखा जाता है—प्रख्याशील-प्रवृतिशील तथा स्थितिशील'। प्रख्या अथवा ज्ञान से युक्त होने पर चित्त मे सत्व-रज और तम तीनो गुणो का उद्रेक होता है और व्यक्ति ऐश्वर्य और शब्दादि विषयो का अनुरागी बनता है। तम मे सयुक्त होने पर चित मे अधर्म-अज्ञान-अबैराग्य और अनैश्वर्य का उद्रेक होता है। किन्तु, तम का आवरण नितान्त क्षीण हो जाता है तो व्यक्ति की वृत्ति धर्म, ज्ञान, वैराग्य आदि मे रमती है। प्रथमावस्था मे रज और तम से सयुक्त चित्त ऐश्वर्य और विषयो को प्राप्त नही कर पाता। परन्तु जब चित्त मे रज का लेश भी नही रह जाता तब चित्त सत्वनिष्ठ होकर प्रकृति पुरुप की अन्यताख्याति अथवा विवेक ज्ञान की उपलब्धि कर लेता है। और इसी प्रकार वह धर्ममेघ समाधि मे प्रतिष्ठित हो जाता है।[3]

(३) **योग के प्रकार**—पतजलि के अनुसार योग के दो प्रकार है। वे प्रथम की सप्रज्ञात और द्वितीय को असप्रज्ञात के नाम से अभिहित करते है।

जिस समय साधक की अन्य वृत्तिया क्षीण हो जाती है और चित्त एकाग्र होकर एक वस्तु के सतत ध्यान मे सलग्न रहता है, उस अवस्था को सप्रज्ञत समाधि

१—पतंजलि योग दर्शन (समाधि पाद १/ सूत्र २)

२—मन-बुद्धि और अहंकार-चित्त।

३—व्यास-भाष्य १—२।

कहते है । इस समाधि के द्वारा प्रज्ञा की प्राप्ति होती है, जो सत्यार्थ का प्रकाश करती है, कर्म बन्धनो को शिथिल करती है तथा निरोध का निकट लाती है ।[१] किन्तु इतर वृत्तियो के निरोध से जिस प्रज्ञा का उदय होता है उसका भी निरोध परमावश्यक है, क्योकि प्रज्ञा का स्वरूप चाहे जितना भी सात्विक क्यो न हो, है तो वह भी वृत्ति ही । अस्तु, जब इसका निरोध हो जायगा तभी सब वृत्तियो का निरोध होगा । इस निरोध के हो जाने पर असप्रज्ञात समाधि होती है ।

चित्त की एकाग्रता का लेकर पतजलि ने समाधि के दो भेद किए है । प्रथम को उन्होने सप्रज्ञात समाधि और द्वितीय को असप्रज्ञात समाधि कहा है ।

सप्रज्ञात समाधि चित्त की वह अविचलित है जिसमे साध्य वस्तु के ऊपर चित्त चिरकाल तक स्थिर बना रहता है । इसे सबीज समाधि भी कहते है, क्योकि इस अवस्था मे चित्त को समाहित करने के लिए किसी न किसी बीज अथवा आलबन की आवश्यकता होती है । किन्तु, निरुद्ध दशा मे चित्त के समक्ष किसी भी प्रकार का आलबन नही होता और समस्त वृत्तिया बन्द हो जाती है तो उस स्थिति को असप्रज्ञात समाधि कहते है ।[२] सप्रज्ञात समाधि के चार और असप्रज्ञात समाधि के दो भेद किए गए है ।

(४) **क्लेश और योग**—चित्त अनेक क्लेशो मे आक्रान्त रहता है । बिना उन क्लेशो मे निवृत्त पाये योग-मार्ग मे सफलता नही मिलती । ये समग्र क्लेश विपर्य रूप है । कर्मो का जन्म क्लेशो से होता है । और क्लेशो से कर्मो की उत्पत्ति होती है अत वे परस्पर सहायक है ।[३]

पतजलि ने पाच प्रकार के क्लेश माने है—(१) अविद्या, (२) अस्मिता (३) राग, (४) द्वेष और (५) अभिनवेश ।

(१) अनित्य, अपवित्र, दु ख तथा अनात्म मे क्रमश नित्य, पवित्र, सुख तथा आत्म बुद्धि रखना अविद्या है । (२) दृक्शक्ति, पुरुष दर्शन बुद्धि से बिलकुल भिन्न है, परन्तु दोनो को एकात्मक मानना 'अस्मिता' है । (३) सुखप्रद वस्तुओ मे जो तृष्णा-भाव होता है उसे 'राग' कहते है । (४) राग के विरुध जो दु.ख की भावना होती है उसकी स्मृति-मात्र से जो क्रोध होता है। उसे द्वेष कहते है । (५) क्षुद्राति क्षुद्र जीव से लेकर विद्वानो तक को जो मृत्यु का भय रहता है उसे 'अभिनिवेश' कहते है ।

१—यस्त्वेकाग्रे चेतसि सद्भूतमर्थं प्रद्योतयति, क्षिणोति च क्लेशानिकर्म बधनानि । श्लथयति निरोधमभिमुखं करोति स सं 'प्रज्ञातो योग इत्याख्यायते । (योग-भाष्य १—१)

२—(यो० भा० १—१८)

३—स० वै० २—३ ।

(५) **अष्टांग योग**—चित्त के विकल्पो को निरुद्ध करने के लिए पतजलि ने आठ प्रकार की साधन-प्रक्रियाओ की प्रतिष्ठा की है। ये क्रियात्मक पक्ष से प्रक्रियाये योग के सम्बन्ध रखती है। अत शरीर, मन तथा इन्द्रियो की शुद्धि के लिए पतजलि ने आठ प्रकार के योगागो का निर्देश किया है।[1] उनके नाम क्रमशः इस प्रकार है

(१) यम (२) नियम (३) आसन (४) प्राणायाम (५) प्रत्याहार (६) धारणा (७) ध्यान (८) समाधि।

यम का तात्पर्य सयम से है। पतजलि ने यम के पाच प्रकार माने है, यथा (य) अहिंसा अर्थात् सभी प्राणियो से समान प्रेम रखना और किसी भी स्थिति मे द्रोह न करना। अ) सत्य-मन, वचन से एक होना। (स) अस्तेय-चोरी न करना अर्थात दूसरे के धन के लिए कामना न करना। (द) ब्रह्मचर्य-उपस्थ इन्द्रिय का सयम करना तथा फ) अपरिग्रह-विषयो के अर्जन-रक्षण से उदासीन रहना।

नियम भी पाच प्रकार के माने गए हैं। यथा (क) शौच—आभ्यतर और बाह्य और शुचि। आभ्यतर शुचि मलो को अच्छी प्रकार धोने से होती है और वाह्य शुचि मिट्टी, जल और पवित्र भोजन करने से होती है।

(ख) सन्तोष- आवश्यक तथा अनिवार्य साधनो के अतिरिक्त अधिक वस्तुओ को ग्रहण करने की इच्छा न होना।

(ग) तप-सुख-दुख, भूख प्यास आदि द्वन्द्वो को सहन करना तथा चन्द्रायण आदि कठिन व्रतो का करना।

(घ) स्वाध्याय-मोक्ष-प्रदायक शास्त्रो का अध्ययन और प्रणव का जप।

(ङ) ईश्वरप्रणिधान-ईश्वर को सभक्ति सभी शुभाशुभ कर्मो का समर्पण करना।

पतंजलि ने स्थिर सुखासन का अपनी योग-पद्धति मे विधान किया है[2]। स्थिर तथा सुख-प्रदायक बैठने की सज्ञा आसन है। ध्यान के लिए साधक को ऐसे आसन की आवश्यकता होती है, जिसमे उसे सुख-शान्ति दोनो प्राप्त हो सके। कमलासन, सिद्धासन आदि अनेक आसनो का विधान योग-ग्रथो मे प्राप्त होता है। इन आसनो के करने से मन अपने चाचल्य को छोडकर एकाग्र हो जाता है। इन आसनो सिद्ध होने पर द्वन्द्वो से उत्पन्न पीडा सन्तप्त नही करती।

आसन सिद्ध हो जाने पर साधक प्राणो के आयाम मे तत्पर होता है। श्वास-प्रश्वास की गति विच्छेद को प्राणायाम कहते है। बाहरी वायु का लेना श्वास और भीतरी वायु का बाहर निकालना प्रश्वास कहलाता है। इस श्वास-प्रश्वास की गति

१—**यो० सू०** २—२९।
२—**यो० सू०** २—४५।

को नष्ट करने की क्रिया को प्राणायाम कहते है। पतजलि ने अपने योग सूत्र मे चार प्रकार के प्राणायामो का वर्णन किया है।[1] उनके नाम क्रमश वाह्य, आभ्यन्तर, स्तभ-वृत्ति, चतुर्थ प्राणायाम अथवा केवल कुभक है।[2] प्राणायाम की साधना द्वारा विवेक ज्ञान के ऊपर आवरण डालने वाले कर्मो का नाश होकर मन एकाग्र हो जाता है।[3]

जब चित्त के समान इन्द्रियाँ अपने वाह्य विषय से आसक्ति छोडकर निरुद्ध हो जाती है तब इस स्थिति को प्रत्याहार कहते है। प्रत्याहार के द्वारा इन्द्रियाँ पूर्णतया वश मे हो जाती है इस स्थिति मे मन जो कुछ उनमे कार्य लेना चाहता है लेता है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार को योग का बहिरग कहा जाता है, क्योकि इनमे मुख्यतया इन्द्रियो पर ही वश प्राप्त किया जाता है। योग के अन्तरग साधन धारणा, ध्यान और समाधि है क्योकि विवेक इन्ही के द्वारा प्राप्त होता है।

योग सूत्र मे 'देश बन्धश्चित्तस्य धारणा' कहा गया है।[4] इसका तात्पर्य है चित्त को लगाना। चित्त को एक स्थान पर लगाकर एकाग्र करने की विधियाँ अनेक है। उदाहरणार्थ हृदय मे, नासिकाग्र मे जिह्वाग्र आदि मे या किसी पदार्थ मे। इन अधिष्ठानो मे से किसी पर ध्यान एकाग्र करने से कार्य सरलता से सम्पन्न हो जाता है।

जब ध्येय वस्तु अथवा इष्ट मे साधक का निरन्तर ध्यान हो जाता है और किसी अन्य वस्तु का ज्ञान विक्षेप नही उपस्थित करता तो इसे ध्यान कहते है।

पतजलि योग-दर्शन की अन्तिम उपलब्धि है समाधि। समाधि की व्युत्पत्ति 'सम्यगाधीयते एकाग्री क्रियते विक्षेपान परिहृत्य मनो यत्र स समाधि' अर्थात् समग्र विक्षेपो से हटकर चित्त ध्येय वस्तु मे एकाग्र होकर अपने स्वरूप से शून्य हो जाता है और ध्येय वस्तु से तद्रुपता प्राप्त कर लेता है, उस अवस्था को समाधि कहते है। ध्यानावस्था मे ध्याता ध्येय और ध्येय वस्तु पृथक्-पृथक् रहते है किन्तु समाधि अवस्था मे ध्येय वस्तु ही अवशिष्ट रहती है।

(६) **कैवल्य प्रकृति**—कैवल्य की स्थिति मे आरूढ होकर साधक अपने चरम अभीष्ट को प्राप्त कर लेता है। कैवल्य का अर्थ है केवल हो जाना अथवा अकेले रहने की स्थिति। जब पुरुष बुद्ध से विच्छिन्न हो जाता है तब अपने स्वरूप मे प्रतिष्ठित होना है। इसी को कैवल्य कहते है। इस पुरुषार्थ शून्य अवस्था मे गुण अपने कारण मे विलीन हो जाते है।[5]

१—यो० सू० २।५०-५१।
२—इनके विशेष विवरण के लिए देखिये बलदेव उपाध्याय कृत भारतीय दर्शन पृष्ठ ३६१-६२।
३—यो० सू० २।५२-५३।
४—यो० सू० ३।१।
५—पुरुषार्थ शून्यानां गुणानां प्रति प्रसवः कैवल्य स्वरूप प्रतिष्ठा व चितिशक्तिरिति। (यो० सू० ४-३४)

कैवल्य की स्थिति के अनुसार चार प्रकार के योगियो का पतजलि ने विधान किया है। उनके नाम इस प्रकार है —(१) प्रथम कल्पिक (२) मधु भूमिक (३) प्रज्ञाज्योति और (४) अतिक्रान्त-मानवीय।[1] अष्टाग योग से युक्त होने पर जो योगी शीघ्र ही योग मार्ग मे प्रविष्ट होते है उन्हे प्रथम कल्पिक योगी कहते है। सप्रज्ञात अथवा वितर्कानुमत समाधि मे अधिकार प्राप्त कर लेने के कारण इनके अन्तर्गत अन्तर्ज्योति का स्फुरण होना प्रारभ हो जाता है।

मधुमती भूमिका मे पहुँचे हुए योगी का चित्त अतिशय शुद्ध हो जाता है और इस स्थिति मे योगी को देवता तथा अप्सराओ से अनेक प्रलोभन दिए जाते है। इस अवस्था मे योगियो का परीक्षा काल होता है। यदि योगी के चित्त मे तनिक भी अहकार अथवा आसक्ति की भावना आई कि वह पतित हुआ।

प्रज्ञा ज्योति की स्थिति मधुभूमिक से श्रेष्ठ मानी गयी है। इस अवस्था मे योगी पञ्च भूतो ओर पचेन्द्रियो की पच अवस्थाओ पर अधिकार पाकर भूतजयी और इन्द्रियजित हो जाता है। पचभूतो पर विजयी होने के कारण योगी का शरीर वज्रवत् तथा अणिमा, महिमादि सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती है और इन्द्रिय जित् होने के कारण मनोजवित्व, विकरण भाव तथा भूत प्रकृति पर विजय प्राप्त हो जाती है। इन सिद्धियो को मधुप्रतीक कहा जाता है।[2]

पचभूतो और इन्द्रियो पर विजयी होने पर योगी 'अस्मिता' मे प्रतिष्ठित हो जाता है। इस अवस्था मे अधिष्ठित होने पर उसको अनन्त शक्ति प्राप्त हो जाती है। वह सर्वज्ञ हो जाता है और समग्र भावो मे अवस्थान करने की शक्ति प्राप्त कर लेता है। उसकी इस प्रकार की सिद्धि को 'विशोका' सिद्धि कहते है।[3] इसके पश्चात् योगी को पर वैराग्य की प्राप्ति हो जाती है और वह त्रिगुणातीत हो जाता है। अब वह सभी दृश्य और चिन्त्य पदार्थो से मुक्त होकर परम पद मे स्थित हो जाता है। इस स्थिति को पतजलि ने 'अतिक्रान्त भानवीय' स्थिति कहा है। योगी की यह चरम उपलब्धि है।

(७) **योग और ईश्वर**—योग-दर्शन मे ईश्वर का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। साख्यदर्शन के समान योगी भी २५ तत्वो को मानता है केवल साख्य से यह ईश्वर तत्व को अधिक मानता है। इसीलिए योग को 'सेश्वर साख्य' कहते है। योग के अनुसार क्लेश, कर्म विपाक और आशय से अपरामृष्ट अर्थात् जिस पर उपर्युक्त किसी बात का प्रभाव न पडा हो, ऐसे पुरुष विशेष की सज्ञा ईश्वर है।[4] मुक्त पुरुष और

१—योो सू० ४।३४।
२—वही ३।४९।
३—यो० सू० ३।४९।
४—योग-दर्शन १।२४।

ईश्वर मे मात्र इतना भेद है कि मुक्त पुरुष पूर्व काल मे बन्धन मे रहता है और प्रकृतिलीन भविष्य काल मे बन्धन की सभावना रहती है। किन्तु, ईश्वर सदैव ही निर्बन्ध और ईश्वर ही रहता है।[1] शाश्वत होने के कारण वह भूत, वर्तमान और भविष्य तीनो कालो से अनवच्छिन्न है। वह सबसे महान है तथा वेद-शास्त्रो का उपदेष्टा भी ईश्वर ही है।

उपर्युक्त विशेषताओ से विशिष्ट इस ईश्वर की उपयोगिता योग शास्त्र की मौलिक प्रतिष्ठा कही जा सकती है। योग शास्त्र मे ईश्वर विषयक सूत्र तीन बार आए है।[2] इन तीनो सूत्रो मे 'प्रणिधान' पर बडा प्रकर्ष दिया गया है। अस्तु-आवश्यक है कि प्रणिधान शब्द का अर्थजा लिया जाय। 'प्रणिधान' शब्द मे 'प्र' और 'नि' उपसर्ग है तथा धान का अर्थ है धारण कारना या धरना। इसका भाव यह हुआ कि 'प्र' 'प्रकृष्ट रूप से 'नि' निश्चय पूर्वक 'धान 'धारण करना या धरना। इस का तात्पर्य यह हुआ कि अखिल ब्रह्माण्ड को ईश्वर का स्वरूप समझकर चित्त मे धरना। ईश्वर के ऊपर अकाट्य अवाध निश्चयात्मक परम भक्ति करना। अस्तु अनुराग पूर्वक निरन्त चित्त का ईश्वर मे लगना अथवा प्रेम पूर्वक समस्त कर्म फलो को ईश्वर को अर्पण कर देना ईश्वर प्रणिधान है। इस प्रकार जब चित्त सर्वतोभावेन ईश्वर को समर्पित हो जाता है तो उसकी क्लेशादि बाधाएँ और समस्त वासनाएँ क्षीण हो जाती है और वह समाधि मे लीन हो जाता है। अत समाधि की सिद्धि का सर्व सुलभ साधन ईश्वर प्रणिधान है। इसके अतिरिक्त योगमे ईश्वर की एक और विशिष्ट उपयोगिता मानी गयी है वह पूर्वकाल मे होने वाले गुरुओ का भी गुरु माना गया है।[3] अत. वही तारक मन्त्र का प्रदाता भी है। साँख्य के अनुसार केवल मुक्त पुरुष ही ज्ञान के उपदेष्टा माने गए है किन्तु योग-दर्शन मुक्त पुरुषो का भी गुरु ईश्वर को मानता हे। निश्चव ही ईश्वर विषयक इस प्रकार की विचारणा योग दर्शन की मौलिक और उपयोगी देन है।

[व] क ाश मी रीय शै व दर्शन

काश्मीरीर शैव वर्शन एक अद्भूत विचारणा है। इसे 'प्रत्यभिज्ञा दर्शन 'त्रिक्र्दर्शद' और माहेश्वर दर्शन के नाम से भी प्राचीनो द्वारा अभिहित किया गया

१—यथा मुक्तस्य पूर्वा बन्ध कोटि : प्रज्ञायते नैवमीश्वरस्य।
यथा वा प्रकृतिलीनस्योत्तरा बन्ध कोटिः संभाव्यते नैवमीश्वरस्य। सतु सदैव मुक्ता सदैव ईश्वरः।

(यो० भा० १।२४)

२—१ /२३ /२/१ २/४५।

३—स पूर्वेषामपि गुरुः काले नानबच्छेदात्।

है। शाकर वेदान्त मे प्रतिपादित माया का स्वरूप जिज्ञासु के लिए अत्यन्त दुरूह है। शाँकर वेदान्त के अनुसार माया अनादि तथा जड तत्व है और वह ब्रह्म को आच्छन्न करती है। इसी प्रकार साँख्य का पुरुष चैतन्य-स्वरूप है। उसमे कतृत्व शक्ति नही है। उसमे जड प्रकृति के सयोग से क्रिया शक्ति उत्पन्न होती है। किन्तु वेदान्त प्रतिपादित इन तथ्यो के द्वारा साधक या जिज्ञासु बडे भ्रम मे पड जाता है। अनेक मान्यताओ के ऊहापोह मे उसे विचारविभ्रम होना स्वाभाविक है। काश्मीरीय शैव दर्शन ने साख्य के पुरुष और वेदान्त की माया और ब्रह्म को विशेष रूप से जानने की चेष्टा की है। प्रत्यभिज्ञा- दर्शन के प्रतिपादको के मत से दूसरी भूमिका पर पहुँचते ही उपर्युक्त तत्व साधक के समक्ष एक विचित्र स्थिति मे उपस्थित होती है। उसे इस स्थिति मे समस्त वस्तुए चिन्मय दृष्टिगोचर होती है। उस 'चिन्मय जगत मे सभी अभिन्न हे। वहाँ पर केवल परमशिव की ही एक मात्र अनुभूति होती है। वह परम शिव ही चित् है और उसी से सभी चिन्मय पदार्थ आविर्भूत होकर पुन. उसी मे लीन हो जाते है। 'सृष्टि 'को वे इसी परमशिव तत्व का 'उन्मीलन 'कहते है।[1] इस भूमि का नामकरण काश्मीरीय दार्शनिको ने प्रत्यभिज्ञा भूमि 'अथवा शैव दर्शन की सज्ञा दी है।

प्रत्यभिज्ञा दर्शन वास्तव मे एक अद्वैतवाद ही है इसी कारण इसे 'ईश्वराध्द्वयवाद' भी कहते है। इसके प्रतिपादको मे भी अभिनवगुप्त पादाचार्य का नाम मूर्धन्य माना जाता है किन्तु ब्रह्माद्वैत और ईश्वराध्द्वयवाद की सज्ञाओ से जिस प्रकार एकता प्रतीत होती है, उसी प्रकार वास्तव मे उनके सिद्धान्तो मे साम्य नही है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन भी अज्ञान और माया को स्वीकार करता है किन्तु-उसके द्वारा स्वीकृत अज्ञान और माया शॉकर अद्वैत और सॉख्य दर्शन के समान स्वतन्त्र नही है यह परमतत्व शिव के अधीन है। उन शिव की लीला से अज्ञान का उदय और लय दोनो होते है। किन्तु-अज्ञान के उदय अथवा लय से परम शिव मे किसी प्रकार का परिवर्तन नही होता। माया की क्रीडा और उसके द्वारा सृष्टि का आविर्भाव दोनो परमशिव की लीलान्तर्गत ही है।

(१) **शैव दर्शन और ब्रह्म अथवा परमचेतन**—काश्मीरीय शैव-दर्शन के अनुसार प्रत्येक जीव मे निवास करने वाला शिव तत्व ही 'आत्मतत्व' है। यह शिव तत्व चैतन्य रूप है।[2] इसी तत्व को परासंवित परमेश्वर शिव अथवा परमशिव के नाम से भी अभिहित किया जाता है। शैव-दर्शन की मान्यता के अनुसार यह तत्व मात्र जीव मे ही

१—अन्तः स्थितवता मेव घटते वहिरात्मना (ईश्वर प्रत्भिज्ञा पृ ३२)
उन्मीलनम् अवस्थित स्यैव प्रकटीकारणम् (प्रत्यभिज्ञा हृदयम् पृ०६)

२—चैतन्यमात्मा, शिवसूत्र, १, १।

नही प्रत्युत ससार की यावत वस्तुओ चाहे वह जड हो अथवा चेतन सभी मे व्यष्टि अथवा समष्टि रूप से वर्तमान है। इसकी अवस्थिति बडी अद्‌भुत है। यह सभी वस्तुओ मे व्याप्त होने पर भी एक है और एक होने पर भी समग्र वस्तुओ मे निवास करता है। यद्यपि यह देश कालातीत है फिर भी इसकी उपस्थिति सार्वकालिक और सार्वभौम है। यह नित्य और अनन्त है। वस्तुत सभी विश्व इसी तत्व का अभिन्न रूप है। परम शिव ३६ तत्वो द्वारा विश्व मे भासमान होता है।[1] वस्तुत इस तत्व के अतिरिक्त और कुछ भी ग्राह्य अथवा ग्राहक रूप मे नही है। इन्ही परम शिव भट्टारक का स्फुरण नाना वैचित्र्यो के रूप मे होता है।[2] इस परम शिव का स्वरूप इच्छा ज्ञान और क्रिया से समन्वित है और यह पूर्णानन्द के स्वभाव वाला है।

परमशिव तत्व प्रकाशात्मा है तात्पर्य यह कि विमर्श ही इसका स्वभाव है। विमर्श का अर्थ है पूर्ण अकृत्रिम अहभाव की स्फूर्ति यदि शिव के अन्तर्गत विमर्श न हो तो वह जड और अनीश्वर हो जायँगे। शिव की यह स्फूर्ति। सृष्टि काल मे विश्वाकार स्थिति मे विश्व प्रकाश और सहार काल मे आत्मसात करने वाली होती है।[3] इसी को चित् चैतन्य स्वातन्त्र्य कर्तृत्व स्फुरत्ता सार हृदय स्पन्द भी कहते है। किन्तु त्रिक् दर्शन अथवा शैव दर्शन मे प्रतिपादित ब्रह्म के स्वरूप मे अन्तर है। जहाँ ब्रह्मवाद मे निर्विकार ब्रह्म मे किसी प्रकार का कर्तृत्व नही है वहाँ शैव दर्शन के ईश्वराध्यवाद मे परमेश्र मे स्वातन्त्र शक्ति सपन्नता और कर्तृत्व है। इसमे आत्मा का स्वरूप सृष्टि स्थिति सहार अनुग्रह और विलय का सम्पादन करने वाला है। परन्तु शाकर मत मे ब्रह्म का स्वरूप इसमे विपरीत स्वभाव वाला माना गया है।

(२) **काश्मीरीय शैव दर्शन मे परमेश्वर और जगत् का सम्बन्ध**—अभिनव गुप्त पादाचार्य ने परमेश्वर और जगत् का पारस्परिक सम्बन्ध दर्पण बिंववत माना है, अर्थात् जिस प्रकार किसी निर्मल दर्पण के अन्तर्गत ग्राम, नगर, वृक्षादि प्रतिबिम्बित होने पर उससे अभिन्न होते हुए भी भिन्न प्रतीत होते है, इसी प्रकार पूर्ण ज्ञानस्वरूप परमेश्वर मे प्रतिबिंवित यह विश्व उससे अभिन्न होता हुआ भी घटपटादि के रूप मे पृथक् अवभासित होता है[4]। जगत के इस प्रतिबिबन का लोक के प्रतिबिंबन से मौलिक भेद है। लोक मे प्रतिबिंब की अवस्थिति बिंब के कारण होती है, परन्तु त्रिक् दर्शन मे परमेश्वर की स्वातन्त्र्य शक्ति के फलस्वरूप बिना बिंब के ही

१—'अखिलम् अभेदेनैव स्फुरति' प्रत्यभिज्ञा हृदय पृष्ठ ८।

२—प्रत्यभिज्ञा हृदय, पृष्ठ ३, ८, शिवदृष्टि १-२।

३—विमर्शो नाम विश्वाकारेण, विश्वप्रकाशेन, विश्वसंहरेण च अकृत्रिमाहमिति स्फुरणम्। (परा प्रवेशिका पं० २)।

४—परमार्थसार (का० १९।१३)

जगत् का प्रतिबिब स्वयमेव उत्पन्न होता है। इस आभास अथवा प्रतिबिंब के सिद्धान्त की मान्यता के कारण त्रिक्दर्शन की दार्शनिक दृष्टि को 'आभासवाद' के नाम से अभिहित किया जाता है।[1]

शैव दर्शन की यह दृढ मान्यता है कि यह जगत् चिन्मयीशक्ति की स्फुरणा है, अतएव हम इसे असत्य नही कह सकते। परिणामवादियो के अनुसार वस्तु का स्वरूप परिवर्तित होकर दूसरा आकार धारण करता है, किन्तु शैव दर्शन के मतानुसार तो परमशिव के तिरोधान होने पर यह विश्व ही अन्धा हो जायगा। अस्तु, इस सबध मे आभासवाद ही प्रामाणिक और तर्क सम्मत प्रतीत होता है[2]।

(३) शैवदर्शन मे सदाशिव और ईश्वर मे अंतर—शिवशक्ति के आन्तर निमेष को सदाशिव और वाह्य निमेष ईश्वर कहते है।[3] किन्तु इसके पूर्व कि सदाशिव और ईश्वर के अन्तर को समझा जाय आवश्यक है कि शिवशक्ति के विषय मे जान लिया जाय। शैवमतानुसार जब परमेश्वर के मन मे सृष्टि करने की कामना उत्पन्न होती है तो उसके दो रूप हो जाते हे—शिव तथा शक्ति। यह शक्ति विमर्शरूपिणी है अर्थात् यह पूर्ण अकृत्रिम अहकार की स्फूर्ति है। इसी विमर्श रूपिणी शक्ति के द्वारा सृष्टि स्थिति और सहार सभव होता है। शिव चिद्रूप अवश्य है परन्तु उन्हे अपनी चेतनता का ज्ञान नही है। मदिरा मे मादकता होने पर भी उसे अपनी मादकता का बिलकुल ज्ञान नही होता। ठीक इसी प्रकार बिना शक्ति के शिव को अपने चेतन अथवा प्रकाश रूप का ज्ञान नही होता। इसीलिए कहा जाता है कि शिव बिना शक्ति के 'शव' ही है। शिव और उनकी शक्ति अभिन्न है।[4] इसी शिवशक्ति के आन्तर-वाह्य उन्मेष को सदाशिव और ईश्वर कहते है। अचल परमेश्वर मे सदाशिव के रुप मे किंचित् गति की स्फुरणा

१—आभास रूपा एव जडचेतन पदाथा· (प्रत्यभिज्ञा विमर्शिणी)

२—अविद्या अनिर्वाच्या चायत्ते इति व्याहतम्॰।
परमेश्वरी-शक्तिरेव इयमिति हृदयावर्जक. क्रमः।
तस्मात् अनपह्नुनीयः प्रकाशविमर्शात्मा संवित्स्वभावः परम
शिवः भगवान् स्वातन्त्र्या देव प्रकाशते इत्यथं स्वातन्त्र्यवादः
प्रोन्मीलितः।

३—ईश्वरो बहिरुन्मेषो निमेषोऽन्तः सदाशिवः—
अभिनव-प्रत्यभिज्ञा विवृतिविमर्शिणी। ईश्वर प्रत्यभिज्ञा ३।१।३

४—न शिव शक्ति रहितो न शक्तिर्व्यतिरेकिणीः
शिव· शक्तस्तया भावान् इच्छया कर्तुमीहते
शक्तिशक्तिमतोर्भेदः शैवो जातु न वर्ण्यते॥
सोमानद-शिवदृष्टि ३।२।३।

होती है। किन्तु इस स्थिति मे जगत् का मान अव्यक्त रूप मे ही होता है।[1] सत्ता का आरभ यही से होने के कारण इसका नाम सादाख्य तत्व है।[2]

विकासोन्मुख ज्ञान की तीसरी अवस्था को शैव-दर्शन ने ईश्वर तत्व कहा है। यह ईश्वर तत्व सदाशिव का बाह्य रूप है। इस स्थिति मे जगत् का स्पष्ट किन्तु आत्मा के अश के रूप मे अथवा आत्मा से अभिन्न अनुभव होता है। सदाशिव रूप के विमर्श मे 'अह' और ईश्वर रूप मे 'इद' का प्राधान्य रहता है।

(४) **शैव-दर्शन और माया का स्वरूप**—शैवदर्शन मे 'अह' और 'इद' मे पृथकत्व स्थापित करने वाली शक्ति को माया की सज्ञा दी गई है।[1] यहा पर अहमश पुरूष और इदमश प्रकृति है। किन्तु शिव को पुरूष रूप मे आने के हेतु माया के पाच कचुको (आवरणो) की आवश्यकता होती है। इन कचुको के नाम इस प्रकार है—कला, विद्या, राग काल और नियति। माया के इन कचुको के कारण असीम शक्ति सम्पन्न जीव ससीम और अल्पशक्ति वाला हो जाता है। वह अपने को किचित् कतृत्व शक्तियुक्त, अल्पज्ञ, विषयानुरागी, अनित्य तथा नियमित कार्य करने वाला मानने लगता है। माया के इन कचुको से आच्छादित जीव की सज्ञा पुरूष है। महत्तत्व से लेकर पृथ्वी तक के सभी तत्वो का मूल कारण 'प्रकृति' है।

(५) **निष्कर्ष**—परमेश्वर चिद्रूप है और उसकी शक्ति 'विमर्श' है। बिना विमर्शिणी शक्ति के शिव 'शव' के समान है।

ब्रह्म अथवा परमेश्वर की शक्ति सत्य है, इसलिए जीव और जगत भी सत्य है। ये सब शिव मय है।

जगत् का समग्र वैचित्र्य एक का ही विलास है। भेद की अनुभूति अभेद के कारण ही होती है। शक्ति शिव की ही स्फुरता है, अन्य कुछ नही।

पुरुष और प्रकृति मे पृथकता नही है, वरन् दोनो अभिन्न है एक ही के दो प्रकार। इसी को 'शिवभक्ति' का सामरस्य या चिदानन्द की प्राप्ति कहते है।

काश्मीरीय शैव-दर्शन ही वास्तव मे वास्तविक अद्वैत की प्रतिष्ठा करता है। इसी अद्वैत की प्राप्ति से वस्तुत. दु ख की आत्यतिक निवृत्ति तथा परमानन्द की प्राप्ति होती है।

१—अहंताच्छादित अस्फुटे दन्तामयं यादृशं परावररूपं विश्वं ग्राह्यम् प्रत्यभिज्ञा हृदय-पृष्ठ ७।

२—सादाख्यायां भवं सादाख्यं यतः प्रभृति सदिति प्रख्या
ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिणी ३।१।२

३—कलादीनां तत्वानोविवेको माया।
—शिव सूत्र ३।३।

[म] जैन-दर्शन

जैन-दर्शन को दर्शन-शास्त्र के इतिहास मे 'नास्तिक' दर्शन के रूप मे स्वीकार किया गया है। इस दर्शन मे 'ईश्वर' की सत्ता की स्वीकृति नही है, किन्तु इसके अध्ययन से यह विदित होता हे कि दार्शनिक-विचार धारा नास्ति से अस्ति की ओर प्रवहमान है। क्योकि चार्वाक दर्शन के अनुसार आत्मा मौलिक है, किन्तु जैन-दर्शन मे उसकी पृथक् सत्ता स्वीकार की गई है। यह दूसरी बात है कि जैनो द्वारा मान्य अलौकिक गुणो सपन्न आत्मा भौतिक्त से स्वतन्त्र नही है। किन्तु अन्य अनेक बातो मे जैन-मत के सिद्धान्त आस्तिक दर्शनो से सादृश्य रखते है। उदाहरणार्थ दु ख की आत्यतिक निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति, इनका भी चिर अभीष्ट है। कठोर तपस्या एव साधन के द्वारा ये भी काया, मन और वाणी के नियत्रण पर बल देते है और इस प्रकार अन्त करण की शुद्धि-द्वारा परमात्मा का साक्षात्कार आस्तिको के समान इनका भी लक्ष्य है। इसी हेतु जैन लोग 'सम्यक् दर्शन', 'सम्यक् ज्ञान' और 'सम्यक् चारित्र्य' इन तीनो रत्नो की प्राप्ति के लिए जीवन भर सतत प्रयत्नशील रहते है।

(१) **जैन दर्शन और आत्म-तत्व**—जैसा कि ऊपर कहा गया है जैन-दर्शन ने आत्म-तत्व पर गभीरता से विचार किया है, किन्तु उमकी इस विचारणा मे आत्मा भौतिकता से निवृत्ति नही प्राप्त कर सकी। जैन दर्शन मे ईश्वर की सत्ता की स्वीकृति आस्तिक-दर्शनो के समान नही प्राप्त होती। जैन दार्शनिको ने अनेक विध तर्कों द्वारा ईश्वर-सत्ता का खण्डन किया है और वे अपने इस कर्म मे सतत् जागरूक रहे है। किन्तु, ईश्वर के ऊपर अपने भयकर तर्क-वाणो से सतत से वर्षा करते रहने पर भी जैन हृदय-हीन नही हो सके और उन्होने साधना द्वारा 'सर्वज्ञ', राग-द्वेषातीत, तीनो लोको मे पूजित तथा सामर्थ्यवान व्यक्ति अथवा साधक को 'अर्हत' की सज्ञा दी। जैनो के इस 'अर्हत' और सिद्धो, सतो तथा वेदान्तियो के सिद्ध पुरुष अथवा जीवन्मुक्त मे सारत कोई अन्तर नही दृष्टिगोचर हाता। इस प्रकार भवबन्धन की ग्रथियो से मुक्त प्राणी को ही जैनदर्शनानुसार 'महाबीर' कहा जाता है।[1] और ऐसे जीवनमुक्त व्यक्ति को वेदान्त तथा अन्य आस्तिक-दर्शन ईश्वर के समकक्ष मानते है—"ईश्वर" ही मानते है। किन्तु प्रत्यक्षत जैनियो ने ईश्वर को नही माना यद्यपि वे आत्म-साक्षात्कार पर विश्वास करते है।

जीव और जैन-दर्शन—जैन-दर्शन जीव को चैतन्य-द्रव्य के रूप मे स्वीकार करता है। उनके अनुसार चैतन्य जीव का सामान्य लक्षण है। जगत् के समग्र

१—सर्वज्ञो जित रागादि दोष्स्त्रैलोक्य पूजितः।
यथास्मितार्थबादी च देवोऽर्हन परमेश्वरः।

प्राणियो मे चैतन्य उपलब्ध होता है। जैन दर्शनानुसार प्रत्येक जीव को प्रकृत रूप से अनन्त ज्ञान, दर्शन और असीम सामर्थ्य से सम्भव माना गया है परन्तु कर्मावरणों के कारण उसमे उपर्युक्त स्वाभाविक धर्मो का उदय नही होता। जीव के शुभ कर्मो मे प्रवृत्त होने पर कर्म का आवरण नष्ट होने लगता है और वह अपने स्वाभाविक (उपर्युक्त) गुणो मे अधिष्ठित हो जाता हैं। जैनो के अनुसार दर्शन तथा ज्ञान और गुणो के विभिन्न स्तरो के कारण जीव के प्रकार मे अनेक भेद हो गए है। जीव शुभाशुभ कर्मो का करने वाला हे तथा कर्मफल का भोगने वाला भी। जीव स्वय को भी प्रकाशवान बनाता है तथा दूसरी वस्तुओ को भी। यद्यपि जैन-दर्शन जीव की नित्यता स्वीकार करता है फिर भी वह उसे परिणामशील मानता है। वह उसे शरीर से पृथक् मानता है और उसकी सत्ता की घोषणा चेतनता से करता हे। जैन-दर्शन जीव को मध्यम-परिणाम-विशिष्ट मानता है और इस प्रकार वह आत्मा को विभु मानने वाले अद्वैत-दर्शन तथा अणु मानने वाले वैष्णव-दर्शन के युगल अन्तो की छोडकर मध्यम मार्गी है। जीव जिस शरीर को अपना निवासास्थान बनाता है उसी के परिमाण को धारण कर लेता है। जिस प्रकार दीपक घर को आलोकित करता है उसी प्रकार जीव भी जिस शरीर को अपना आवास बनाता है आलोकित करता है। हाथी के विशाल शरीर मे रहने वाला जीव अतिशय परिमाण वाला तथा चीटी के शरीर मे बसने वाला जीव अल्प परिमाण वाला होता है। जिस प्रकार दीपक सकोच-विकासशील होता है, उसी प्रकार जीव भी। अल्प होने के कारण उसका ज्ञान कराने मे इन्द्रियाँ अक्षम है, परन्तु अनुभूति (स्वसवेदन) प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा उसका ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

(३) **जैन-दर्शन मे जगत का स्वरूप**—जैन-दर्शन जगत के मूल मे अनेक तत्वो के अस्तित्व को स्वीकार करता है। इस प्रकार वह बहुत्ववाद को स्वीकार करता है। यह दर्शन प्रारम्भ से ही यथार्थवादी है। हमारी बाह्येन्द्रियाँ तथा अन्तरिन्द्रियाँ जिस प्रकार जगत् का अनुभव करती है, जगत् का वही स्वरूप जैन-दर्शन को स्वीकार है। अन्य दर्शनो की इस मान्यता मे कि मन, बुद्धि और अन्तरिन्द्रिय द्वारा गृहीत विषय ही जगत् का स्वरूप हो सकता है—अपना वैपरीत्य मानता है और दोनो के समन्वय मे अपनी अवस्था प्रकट करता हूँ। जैन-दर्शन के अनुसार वाह्य जगत् की सत्ता प्रमाणित करने के लिए मन और वाह्येन्द्रियो की भी उपयोगिता की महत्ता मे रच-मात्र सदेह नही करना चाहिए। इस प्रकार जैन-दर्शन बहुल्य सवलित वास्तव वाद (प्लुरलिस्टिक रीअलिजूम) का समर्थक है। इस दृष्टि के कारण वह जगत् के समस्त प्रदेशो मे जीवो की सत्ता स्वीकार करता है तथा उन्हे किसी प्रकार की हानि न पहुँचे 'अहिंसा' परमोधर्म के उदात भाव की प्रतिष्ठा करता है।

[ष] बौद्ध-दर्शन

(१) **आत्म-तत्व**—बौद्ध-दर्शन पूर्णतया अनात्मवादी दर्शन है। वह किसी भी दशा मे ईश्वर और आत्मा के स्वरूप को स्वीकार करने के लिए तैयार नही। उसने ईश्वर और आत्मा का प्रयत्न-पूर्वक खण्डन किया है फिर भी गौतम-बुद्ध के जीवन से यह नही प्रतीत होता है कि वे आत्म तत्व को नही स्वीकार करते थे। कहा जाता है कि जब जब महात्मा गौतम बुद्ध से आत्मा के विषय मे प्रश्न किया गया, वे मौन हो गए। इसी से पश्चात् के विद्वानो ने यह अर्थ निकाला कि वे आत्मा के स्वरूप को नही मानते। किन्तु, वेदान्त के अनुसार भी आत्मा अनिर्वचनीय है। उसके विषय मे वाणी द्वारा कुछ भी नही कहा जा सकता। सभवत आत्मा विषयक प्रश्न पर गौतमबुद्ध के मौन का यही तात्पर्य रहा हो।[1] गौतम बुद्ध का यह भी अभिमत था कि बिना आत्मा और ईश्वर की मान्यता के केवल चारित्र्य के अन्धार पर भी इस क्षणिक जगत् से निवृति प्राप्त हो सकती है, निर्वाण मिल सकता है। अस्तु उनका प्रकर्ष चरित्र-सवर्द्धक तत्वो की ओर सर्वाधिक रहा है।

बौद्ध धर्म की इन आचार-प्रधान शिक्षाओ मे मूलत. दो दार्शनिक-सिद्धान्तो की प्रधानता दृष्टिगोचर होती है—(१)सघातवाद और (२) को सन्तान वाद के नाम से अभिहित किया गया है। गौतम बुद्ध के पूर्व आत्म-तत्व का विशद निरूपण भारतीय मनीषा के आकर ग्रन्थो-उपनिषदो मे हो चुका था। गौतमबुद्ध को उपनिषद् प्रतिपादित आत्म-रहस्य का विस्तृत विश्लेषण अभिप्रेत था। गौतम बुद्ध के मत से आत्मतत्व की स्वीकृति समस्त दुष्कर्मो तथा दुष्प्रवृत्तियो की मूल कारण है। कदाचित् इसीलिए आत्म-तत्व की पृथक् सत्ता स्वीकार नही की।[1] वे मन सम्बन्धी अनुभवो और विभिन्न प्रवृत्तियो को मानते है। किन्तु, आत्मा को उनके समूह से पृथक् पदार्थ नही स्वीकार करते। उनके अनुसार आत्मा प्रत्यक्ष गोचर मानसिक प्रवृत्तियो का समूह मात्र है। उनका कहना है कि इन प्रवृत्तियो के सघात से पृथक् आत्मा की सत्ता का कभी भी आभास नही होता।

बौद्धो ने आत्मा के स्वरूप को नाम रूपात्मक माना है। इन्द्रियानुभवगम्य स्व स्वरूप का निरूपण करने वाले पदार्थो का नाम सज्ञा है। वह प्रत्येक वस्तु जिसमे गुरुत्व हो तथा स्थान घेरती हो 'रूप' कहलाती है। अत उनका रूप से तात्पर्य जल, तेज, वायु और उनसे उत्पन्न शरीर से है जिसमे न तो गुरुत्व है और न स्थान घेरता है ऐसे द्रव्य को ही 'नाम' कहते है जिसका अर्थ है मन तथा मानसिक प्रवृत्तिया। उपर्युक्त विवेचन के अनुसार नाम-रूप का अर्थ हुआ शरीर तथा मन और शारीरिक कार्य तथा मानसिक प्रवृत्तिया। अस्तु बुद्ध के अनुमार आत्मा इस शरीर तथा मन,

---

१—ऐन आउट लाइन ऑफ मैटा फिज़क्स—ठा० जयदेवसिंह।

भौतिक तथा मानस प्रवृत्तियो का सघात मात्र है। बौद्ध रूप का तो एक ही स्वरूप मानते है किन्तु नाम के चार प्रकार स्वीकार करते है। उनके नाम क्रमश (१) वेदना, (२) सज्ञा, (३) सस्कार और (४) विज्ञान है। अतएव आत्मा, वेदना, सज्ञा, सस्कार तथा विज्ञान इन पाच समुदायो (स्कन्धो) का पुन्जीभूत रूप है। बौद्धो के अनुसार भून एव भौतिक पदार्थ को रूप, वस्तु के साक्षात्कार को सज्ञा, उसमे उत्पन्न दु.ख-सुखादि को वेदना अतीत अनुभव के द्वारा उत्पन्न होने वाले तथा स्मृति के कारण भूत सूक्ष्म मानसिक प्रवृत्ति को सस्कार और चैतन्य को 'विज्ञान' के नाम से पुकारते है। बौद्धो के ये ही पच स्कन्ध कहलाते है।[1]

आत्मा के विषय को भदन्त नागसेन ने मिलिन्द प्रश्न (पृ० ३०-३३) मे यवनाधिपति मे एक सुन्दर उपमा द्वारा बहुत ही स्पष्ट रूप से समझाया है। नागसेन ने राजा मे रथ के विषय मे निम्न प्रश्न किए —

(१) क्या दण्ड अथवा अक्ष रथ है ?

(२) क्या पहिए (चक्र) रथ है ?

(३) क्या रस्सिया अथवा लगाम, चाबुक रथ है ?

राजा ने उपर्युक्त सभी प्रश्नो का निषेधात्मक उत्तर दिया। इस पर नागसेन ने पुन. प्रश्न किया कि तब आप फिर किसे रथ मानते है ? राजा को अन्त मे स्वीकार करना पडा कि दण्ड, चक्र आदि पुर्जों के आधार पर व्यवहार के लिए रथ का नाम रख लिया गया है।[2] वैसे इन पुर्जों (अवयवो) के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु अथवा अवयवी की सत्ता नही हे। उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध होता है कि नागसेन के पच स्कन्धादि ही वास्तव मे सत्य है और नितान्त रूप से अगोचर है। इन्ही स्कन्धो (अवयवो) के आधार पर 'आत्मा' की कल्पना-मात्र व्यवहार के लिए करली गई है। वास्तव मे आत्मा की सत्ता है ही नही। बौद्धो का यही नैरात्मवाद है।

(२) **बौद्धो का सन्तानवाद और उनको जगत्-सबंधी परिकल्पना**—त्रिपिटक आत्मा और जगत् को अनित्य मानते है। इन दोनो का समग्र-सम्बन्ध दो क्षण का भी नही है। बौद्धो के अनुसार यह पच स्कन्ध दो क्षण भी एक अवस्था मे नही रहता, वरन् वह प्रत्येक क्षण परिणाम प्राप्त किया करता है। इस प्रकार बौद्धो के अनुसार जीव तथा जगत् दोनो परिणामशाली है। बौद्धो ने इस परिवर्तन को दो उदाहरणो द्वारा समझाया है—प्रथम उदाहरण है जल-प्रवाह का तथा (२) दीपशिखा का। उनका कहना है कि जिस प्रकार हम जल मे स्नान करते है दूसरी बार फिर वही जल नही रह

१—दी० नि० पृष्ठ ११३-१५।

२—अनुभवार्थमात्मानं रूपमतीति।

(स) आचार्य नरेन्द्र देव, बौद्ध-धर्म-दर्शन (पंचदश अध्याय)

जाता वरन् उसमे परिवर्तन होता है। ठीक इसी प्रकार दीपक मे एक-एक लौ निकल कर अस्त होती जाती है और उसके स्थान पर नयी लौ का जन्म होता है और इसी प्रकार यह तारतम्य बना रहता है।

बौद्ध मनीषी भदन्त नागसेन ने इस परिवर्तन को दूध के विकारो का अत्युत्तम उदाहरण देकर समझाया है। उनके अनुसार जिस प्रकार दूध से दही, दही से मक्खन और मक्खन से घी बनता है और इस विकार मे परिवर्तन बिलकुल स्पष्ट प्रतीत होता है, इसी प्रकार किसी वस्तु के अस्तित्व के प्रवाह मे एक अवस्था की उत्पत्ति और दूसरे का लय होता है। और इस प्रकार एक सतत प्रवाह जारी रहता है। किन्तु प्रवाह के सातत्य मे एक पल का भी अन्तर नही होता, क्योकि एक के लय होते ही दूसरे की उत्पत्ति होती है। जन्मान्तर ग्रहण मे भी प्रवाह का यही स्वरूप रहता है। जिस समय एक वस्तु का अन्तिम विज्ञान अन्त को प्राप्त होता है दूसरे जन्म का प्रथम विज्ञान प्रारम्भ हो जाता है।[1] इस प्रकार बौद्ध दर्शनानुसार ससार मे वास्तविक एकता एक अलभ्य वस्तु है। गौतम बुद्ध के इस सिद्धान्त मे हमे दो विपरीत मतो के समन्वय की चेष्टा उपलब्ध होती है। प्रथम मत सत्ता पर विश्वास करता है और दूसरा मत असत्ता का निश्चयी है। किन्तु बुद्ध मध्यम प्रति-पक्ष के अनुगामी होने के कारण सत्य सिद्धान्त की अवस्थिति दोनो के मध्य मे स्वीकार करते है। सत्ता और असत्ता के मध्य उन्होने 'परिणाम' के सिद्धान्त को माना है। उनके मत से इस जगत मे 'परिणाम' ही सत्य है, किन्तु इसके अन्तर्गत विद्यमान किसी 'परिणामी' पदार्थ को वे स्वीकार नही करते। दार्शनिक जगत् मे गौतम बुद्ध की यह जगत्-सम्बन्धी विचारणा अपूर्व मूल्यवान वस्तु के रूप मे स्वीकार की जाती है।

श्री अरविन्द की दार्शनिक मान्यताएँ

(क) ब्रह्म और परम चेतन का स्वरूप

'श्री अरविन्द के अनुसार ब्रह्म गम्भीर आत्मानुभूति से प्राप्त वह अद्वितीय सत्ता है जो अनिवर्चनीय, शुद्ध, निर्गुण और निर्माप स्वरूप वाली है। किन्तु, जब हम इसे बौद्धिक आधार पर समझना चाहते है तो अनेक विभेद उठ खडे होते है और हम उस सत्ता के समझने मे बिलकुल असमर्थ रहते है। बुद्धि द्वारा ब्रह्म का विश्लेषण जगत् को अनन्त द्वन्द्वो मे विभक्त कर देता है। स्थूल रूप से वे सभी द्वन्द्व, जड-चेतन के अन्तर्गत आ जाते है। किन्तु प्रश्न यह उठता है कि चेतन के अन्तर्गत विरोधी तत्व अचेतन अथवा जड आया कैसे ? इसके उत्तर मे श्री अरविन्द का कहना है कि ब्रह्म अथवा उस परम चेतन सत्ता की सीमा स्थिर नही की जा सकती,

१ मि० प्र० पृष्ठ (४९-५०)

क्योकि वह असीम और अमाप है। श्री अरविन्द का एतद्विषयक् उत्तर अत्यन्त तर्क-सम्मत है। वे कहते है कि ब्रह्म की सत्ता और जगत् की विविधता के रूप मे उसके ये द्विविध अभिव्यजन सत्य है, क्योकि उनके अनुसार शुद्ध चेतना और तत्सम्बन्धी जगत् के पदार्थो के बाह्य अनुभवो को शुद्ध भी कर सकती है, उन्हे स्थगित भी कर सकती है, उससे परे भी जा सकती है, किन्तु किसी भी दशा मे नाश नही कर सकती। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते कि ब्रह्म के समान ही यह जगत् भी सत्य है। इनमे से किसी भी एक सत्ता का निषेध करना सहज है किन्तु, इन दोनो मे समन्वय स्थापित करना ही सच्ची और फलद बुद्धिमत्ता होगी।[1]।

'ब्रह्म की उपर्युक्त स्थापना जो उसकी स्थिरता और गति को लेकर हुई है मात्र मनोवैज्ञानिक है। वास्तव मे ब्रह्म, स्थिरता और गति से भी परे है, वह एकत्व और अनेकत्व से भी परे है। किन्तु, फिर भी उसका अभिव्यजन एक और अनेक दोनो मे होता है। इसीलिए शास्त्र इस गतिमय जगत को शिव का नृत्य कहता है, जो भगवान को अनेक शरीरो के माध्यम से अभिव्यक्त करके उनका नृत्य देखना है। अस्तु, वह स्वय ही नृत्य है, स्वय ही द्रष्टा है और स्वय ही उनमे परे भी है। इसका उद्देश्य, मात्र आनन्द है। किन्तु, चू कि हम स्थिरता और गति, एकता और अनेकता के परे कुछ भी नही कह सकते इसलिए हमे (ब्रह्म और जगत्) दोना सत्ताओ को स्वीकार कर लेना चाहिए।'

'ब्रह्म और जगत् दोनो की सत्ता स्वीकार कर लेने के पश्चात् देश काल मे सीमित असीम गति का सम्बन्ध हम देश एव काल के परे असीम सत्ता के साथ कर सकते है, इस असीम सत्ता का स्वरूप ऐसा है, जिसे हम न तो ससीम कह सकते है और न असीम। यह शक्ति अध नही है वरन् चेतना-सम्पन्न है, क्योकि अध शक्ति से चेतन की उत्पत्ति नही हो सकती। किन्तु, जब हम बुद्धि के आधार पर जगत् को समझने अथवा समझाने की चेष्टा करते है तो अनेक विभेदो का जन्म होता है। यदि हम मन और बुद्धि के स्तर से ऊपर उठ कर और तटस्थ भाव से शुद्ध चेतना के आधार पर इसे समझने का प्रयास करे तो ऐसा आभास होगा कि असीम सत्ता,

---

1. The movement of energy, the becoming are also a fact, also a reality. The supreme intuition and its corresponding experience may correct the other, may go beyond, may suspens, but do not abolish it. We have therefor two fundamental facts of pure existence and world-existence, a fact of Being, a fact of becoming. To deny one or other is easy, to recognise the facts of conciousness and find out their relation is the true and fruitful wisdom. (The Life Divine, Page 94, Para II, Vol I)

असीम गति और असीम क्रिया स्वत. असीम काल तथा देश के अन्तर्गत अपना अभि-व्यजन कर रही हे। यह महाचेतना इतनी विराट् है कि ब्रह्माण्ड की महान् से महान् वस्तु, इसके समक्ष मात्र अणु है। यह महाचेतना अपने आनन्द के लिए व्यक्त और अव्यक्त द्विविध रूपो मे एक साथ स्थित है। यह महाचेतना सर्वव्यापक है और सबको गतिमय बनाती है, स्थिर दिखाई पडने वाली वस्तुओ को भी यह गति देती रहती है, केवल वह गति चक्षु-गोचर नही होती।'

'विज्ञान ने अन्तिम सत्ता के रूप मे 'मैटर' को ही स्वीकार कर लिया है। किन्तु वास्तव मे 'मैटर' से भी परे शक्ति एव गति के रूप मे एक सत्ता है और वही ब्रह्म है। चू कि हम देश और काल की सीमाओ मे आवद्ध है, इसलिए वह सत्ता दृष्टिगोचर नही होती। वास्तव में उसका साक्षात्कार हम अन्तर्चेतना (Intuition) के द्वारा ही कर सकते हे, क्योकि अन्तर्चेतना हमे देश एव काल के परे ले जाती है और देश तथा काल के परे ही ब्रह्म है इसे एक उदाहरण के द्वारा इस प्रकार समझा जा सकता है। जब हम चलते है तो हमारे कदम पृथक्-पृथक् पडते है, परन्तु बार-बार रखने पर उनसे एक गति का प्रादुर्भाव होता है। इसी प्रकार प्रत्येक अणु-परमाणु पृथक्-पृथक् होने पर भी एक गति का उत्पन्न करते है। विश्व मे सर्वत्र व्याप्त 'यह' गति एक प्रकार का ब्रह्म का स्वरूप ही है।'

(ख) जीव का स्वरूप

'श्री अरविन्द जीव को चेतन सत्ता के रूप मे स्वीकार करते है। यह चेतन सत्ता ब्रह्म और जगत् के साथ अद्वैत सम्बन्ध रखती हे। यह ब्रह्म का ही एक अश है। समग्र जगत् अपने मूल रूप मे शक्ति के अतिरिक्त और कुछ नही है। यह शक्ति या प्राण-तत्व ही अनेक सूक्ष्म तथा स्थूल वस्तुओ के रूप मे परिवर्तित हो जाता है। हमारे प्राचीन शास्त्रो मे मूल सत्ता को समुद्रवत् माना गया है। समुद्र का जल जिस प्रकार एक बार आन्दोलित होकर अनेक तरगो को जन्म देता है उसी प्रकार ब्रह्म रूपी समुद्र से उसकी गति के परिणाम स्वरूप लहरो के समान अनेक रूप उत्पन्न होते है। यह गति अथवा शक्ति विद्युत की शक्ति के रूप मे भी रहती है तथा अणु-परमाणुओ के रूप मे परिवर्तित होकर सर, सरिता, पर्वत, जल, वायु, वृक्षादि के रूप मे भी बदल जाती है। जिसको हम जड-तत्व की सज्ञा देते है वह वास्तव मे शक्ति या गति का स्थूल रूप ही है।'

'इस चेतना का विकास जड तत्व के द्वारा नही हुआ वरन् चेतना की शक्ति की ही सज्ञा 'फोर्स' है और यह शान्ति की अवस्था मे ब्रह्म मे ही सन्निविष्ट रहती है।[1]'

---

1. Force is inherrent in Existence. Shive and Kali, Brahman and Shakti, are one and not two who are separable.

The Life Divine, Page 99.

इसलिए ब्रह्म शान्त क्यो नही रहता ? वह क्यो स्थित है ? अथवा उसका क्यो अभिव्यजन होता है आदि प्रश्न उसी प्रकार नही उठते जैसे कि हम यह नही पूछ सकते कि ब्रह्म ही क्यो है ? हम केवल ब्रह्म की अभिव्यक्ति, गति के सिद्धान्त, रूप-निर्माण और विकास-प्रक्रिया के विषय मे ही यत्किचित अपने विचार प्रकट कर सकते है ।[1]

'यदि हम तान्त्रिको की भाँति यह स्वीकार करे कि चेतना का विकास शक्ति के अधीन होकर होता है तो यह स्वीकार करना पडेगा कि ईश्वर की अन्तिम सत्ता नही है। उससे भी परे एक महान सत्ता के अस्तित्व को स्वीकार करना पडेगा । अस्तु, वह लीलामय ब्रह्म अपनी लीला के लिए अपने एक अश पर प्रकृति का आधिपत्य स्वीकार करता है और यह अश जीवात्मा के अतिरिक्त और कुछ नही है, जो शुद्ध चैतन्य है और इसका विकास जड (Matter) से नही हुआ । निष्कर्ष यह कि ब्रह्म मूल चेतना है जिसका एक अश जिसे हम क्रियात्मक ब्रह्म अथवा ईश्वर कह सकते हे अपने ऊपर शक्ति अथवा प्रकृति के प्रभाव को स्वीकार करता है, क्योकि बिना इस स्वीकृति के सृष्टि की लीला का विकास बिलकुल असम्भव है और इसके परिणाम स्वरूप अशरीरी शुद्ध चैतन्य व्यक्तिगत आत्मा प्रकृति के बन्धन मे बधता है और शरीर मे स्थित रहता है ।[2] किन्तु, यह जीवात्मा क्या है ? साधारणतया हम इसे उस प्रकट तत्व के रूप मे स्वीकार करते है जो निद्रा और मूर्छा के अतिरिक्त जागृत चैतन्य के रूप मे वर्तमान रहता है और निद्रावस्था अथवा मूर्छावस्था मे जो हमसे पृथक् हो जाता है। किन्तु, ध्यानपूर्वक विचार करने पर इस विचारणा मे दोष दृष्टिगोचर होते है तथा यह विचारणा अत्यत स्थूल है, दार्शनिक चिन्तना से इसका कोई सबध नही, क्योकि निद्रित दशा, मूर्छावस्था तथा मादक द्रव्यो के प्रयोग के कारण सज्ञा-शून्य स्थिति मे भी कोई तत्व जागता रहता है, जो इन अवस्थाओ की समाप्ति के पश्चात् हमे उनके अनुभवो की सूचना देता है। इस सबध मे हमारे प्राचीन विचारकों का उचित ही मत

---

1. We cannot put that question to eternal self existence and ask it either why it exists or how it came into existence, neither can we put it to self force or existence and its inherent nature of impulsion to movement. All that we can then inquire into its manner of self-manifestation, its principles of movement and formation, its process of evolution. (The life Divine, Page 101)

2. A Brahman, Compelled by Prakriti is Brahman but an inent infinite with an active content a concious holder of force of whom his force is master. (Thə Life Divine, Page 101)

था कि हमारी जागृतावस्था मे जिस चेतना की अनुभूति होती है वह [1] समग्र नही है, वरन् पूर्ण का एक अत्यन्त छोटा अश मात्र है। यह जीवात्मा (Conciousness) केवल मनुष्य तक ही सीमित नही है वरन् वनस्पति और धातु मे भी समान रूप से वर्तमान है, जहाँ हमने उसे अभी पूर्णतया स्वीकार नही किया है।[2] किन्तु हमारे अन्तर्गत जिस प्रकार जीवात्मा का विकास प्राप्त होता है वह धातु, वनस्पति और पशुओ से भिन्न है। मनुष्यो से कम पशुओ मे, पशुओ से कम वनस्पति मे और वनस्पतियो से कम धातुओ मे इस चेतना की अवस्थिति प्राप्त होती है। इस प्रकार निम्न कोटि की चेतना क्रमश विकसित होती हुई परम चेतना मे मिलने को सतत प्रयत्न शील है। जीव का शिव से मिलने का यही रहस्य है, जीव और ब्रह्म का यही सबध हे।[3] किन्तु इस तथ्य को हम साधारणतया स्वीकार नही करते क्योकि, हम कठिन तथा जो सहज बोधगम्य नही है, उसे निषेधात्मक दृष्टि से देखने के आदी है।[4] अस्तु, चाहे हम विश्व के समग्र विग्रहो मे चेतन अथवा अति चेतन (Super conscient) पुरुष का निवास न स्वीकार करे फिर भी एक विकसनशील शक्ति ऐसी हे जो उनके वाह्य अथवा अभ्यन्तर विकास की उत्तरदायी अवश्य है।[5]'

'श्री अरविन्द की जीव सबधी उपर्युक्त विचारणा से जो निष्कर्ष निकलते है, उनकी तालिका इस प्रकार हो सकती है .—

१—ब्रह्म का एक अश अपने ऊपर प्रकृति का प्रभाव स्वीकार करता है। वह अश उसके (प्रकृति के) बधन मे बध कर कर्म करता है । उसे ईश्वर कहते है। प्रकृति के छोटे-छोटे विग्रहो (मनुष्य, पशु, वनस्पति आदि—) सज्ञाओ मे जो चेतना अपने को आबद्ध करती है, उसी को जीव कहते है।

२—प्रकृति के इन विभिन्न विग्रहो मे बन्दी चेतना ही दु ख-सुख का भोग करती हुई प्रतीत होती है।

३—इस जीवात्मा का सर्वाधिक विकास मनुष्य मे हुआ है। उससे कम पशु आदि मे और उससे कम वनस्पति मे और सबसे कम धातु आदि मे। यदि हम चेतना

---

1. Not only so, but we may now be sure that old thinkers were right when they declared that even in our small selection from our entire concious being. It is a superficies, it is not even the whole of our mentality. (The Life Divine, Page 102)

२. वही, पृष्ठ १०२

३. वही, पृष्ठ १०२–१०३।

४. वही, पृष्ठ १०५।

५. वही, पृष्ठ १०६।

के विकास की इस प्रक्रिया को अस्वीकार करे तो फिर उसको जड से प्रादुर्भूत मानना पडेगा, किन्तु, जड से तो जड की ही उत्पत्ति सभव है और फिर हम उसकी विकास-सगति ब्रह्म से नही मिला सकते और ऐसा न करने से विकास-प्रक्रिया मे अनेक दोष आ जायेंगे।

८—जीव किसी अन्य लोक से नही आता जैसा कि प्राचीनो का मत है वरन् वह समग्र पदार्थों मे चेतना के विभिन्न रूपों मे अनुस्यूत है, और एक दिन क्रमश: विकसित होकर परम चेतन मे मिल जायगा, जिसका वह एक अश है।[1]

(ग) जगत् का स्वरूप

श्री अरविन्द ने भी अन्य दार्शनिकों की भाँति जगत् के स्वरूप पर विचार किया है। उनकी जगत् सबधी मान्यता उपनिषदो और साख्य दर्शन के अधिक निकट है। साख्य के अनुसार भौतिक शक्ति का विस्तार भौतिक तत्व मे ही हुआ है जिसकी प्रथम स्थूल अभिव्यक्ति ध्वनि अथवा शब्द के रूप मे हुई है। यह ध्वनि सूक्ष्म भौतिक आकाश का गुण है। उस सूक्ष्म और विशुद्ध ध्वनि से रूप नही बन सकने, अस्तु उसकी सतत क्रिया द्वारा वायु का जन्म हुआ। वायु ने शक्ति और शक्ति के मध्य सम्पर्क के रूप मे गृहीत हुई। परन्तु, इतना होने पर भी रूप–निर्माण सभव नही हो सका। किन्तु, यह प्रक्रिया बराबर क्रियात्मक बनी रही और इसीके द्वारा अग्नि का जन्म हुआ, जिसके परिणामस्वरूप रूप (Form) का दर्शन मिला। वह प्रक्रिया पूर्ववत् क्रियाशील बनी रही जिसमे आगे चल कर जल तथा पृथ्वी तत्वो की सृष्टि हुई। किन्तु, इस विकास क्रम मे एक दोष था। वह यह कि शक्ति द्वारा उद्भूत ध्वनिसपर्क से सवेदनात्मक शक्ति किस प्रकार अस्तित्व मे आई। साख्य ने इस दोष के परिहार के लिए दो अन्य अभौतिक तत्वो को स्वीकार किया है, महत् और अहकार को। साख्य के सृष्टि सबंधी इस सिद्धान्त मे यद्यपि दोष है फिर भी यह विज्ञान के सर्वाधिक निकट है। विज्ञान शक्ति पर विश्वास करता है। प्राचीन विचारकों ने भी शक्ति को, ज्ञान-शक्ति, इच्छा-शक्ति और क्रिया शक्ति के विग्रहो मे स्वीकार किया है। शक्ति के उपर्युक्त विग्रहो से हमारी सारी क्रियाये परिचालित होती है। यह शक्ति और कुछ नही ब्रह्म की ही शक्ति है।

सृष्टि अथवा जगत् के मूल मे यही शक्ति है। यह शक्ति जीवन (Existence) मे व्याप्त है। शिव और काली, ब्रह्म और उसकी शक्ति अभिन्न है और इनको किसी प्रकार भी पृथक नही किया जा सकता।[1] अचेतन शक्ति (Force) अपनी बिश्रामा-

---

1. Force is in herent in Existence. Shive and Kali, Brahman and Shakti, are one and not two who are separable.

वस्था अथवा क्रियाहीन अवस्था मे चेतन सत्ता के अन्तर्गत उसकी शक्ति के रूप मे अन्तर्निहित रह सकती है। शकराचार्य को इस सिद्धान्त मे दोष दृष्टिगोचर हुआ। वे इस सिद्धान्त से सहमत नही हो सके कि जड-तत्व (चाहे वह क्रियाहीनता की अवस्था मे ही क्यो न हो) चेतन सत्ता मे रह सकता है। इसीलिए उन्होने अपनी एतद्सबधी विचारणा मे जड-तत्व अथवा जगत् को मिथ्या स्वीकार किया [1] और इस प्रकार उन्होने चेतन–तत्व की शुद्धता की रक्षा की, किन्तु ऐसा करने मे शकराचार्य को भी 'माया' की शाश्वत सत्ता स्वीकार करनी पडी। इस प्रकार अचेतन शक्ति अथवा माया को शाश्वत स्वीकार कर लेने पर केवल इतना विचार और शेष रह जाता है, कि यह जगत् उस शक्ति का विवर्त रूप है अथवा उसकी अभिव्यक्ति होता है। श्री अरविन्द की अभिव्यक्ति का ही प्रकार मान्य है। अभिव्यक्ति से ब्रह्म की जगत् के साथ एक सूत्रता बनी रहती है। दूसरे शब्दो मे यह कहा जा सकता है कि ब्रह्म ही स्थूल जगत् के रूप मे अभिव्यक्त हो गया है। एक उदाहरण से उपर्युक्त मान्यता स्पष्ट हो जायगी। ब्रह्म बिलकुल समुद्रवत् है। जिस प्रकार समुद्र मे उसकी गति की शक्ति सन्निविष्ट है और उसी गति से अनेक रूप वाली तरगो का जन्म होता है, तथा फिर वे नष्ट हो जाती है अर्थात् उनके रूप निरन्तर बनते-बिगडते रहते है ठीक इसी प्रकार जगत् मे भी नाना रूपो के नाश-निर्माण की परपरा चला करती है। अभिव्यक्ति ब्रह्म का स्वभाव है, इसलिए ये प्रश्न बिलकुल असगत है कि समुद्र अशान्त क्यो रहता है? [2] अथवा ब्रह्म जो निर्लिप्त और असग है उसके द्वारा जगत् का विकास कैसे हुआ? अस्तु यह सिद्ध हुआ कि सर्वत्र अकेला ब्रह्म ही है और उसीके कारण समग्र पदार्थों की अवस्थिति है; क्योकि सभी ब्रह्म है।[3]

(घ)—ब्रह्म जीव और जगत् का पारस्परिक सबध

'ब्रह्म, जीव और जगत् की पृथक् विवेचना के पश्चात् उनके पारस्परिक संबध की सगति बिठाना सरल होजाता है। श्री अरविन्द ब्रह्म की सत्ता सर्वव्यापक और सर्व शक्तिमान रूप मे स्वीकार करते है। जीव और जगत् उसी सत्ता [3] के परिवेश मे ही है अथवा यो कहो उसीकी अभिव्यक्ति है। वे ब्रह्म के विषय मे उपनिषदो से पूर्ण सहमत है। उपनिषद् का कहना है कि जो कुछ भी है निश्चित रूप से ब्रह्म ही है, मन ब्रह्म है, जीवन ब्रह्म है और जड भी ब्रह्म है। ब्रह्म ही वृद्ध मनुष्य, बालक और बालिका है, वही पक्षी और कीट भी है। ब्रह्म वह चेतन शक्ति है जो समग्र सत्ता मे

---

१. ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या।

2. The Life Divine, (Page 127 Vol. I)

3. The Brahman alone is, and because of It all are, for all are the Brahman, this Reality is the reality of everything that we see in Self and Nature. The Life Divine Vol. II, Page 45.

अनुस्यूत अपने को जानती है, ब्रह्म वह शक्ति है जो ईश्वर और असुर (Titan & Demon) की शक्ति सन्तुलित रखती है । ब्रह्म वह शक्ति है जो मानव, पशु और प्रकृति के विभिन्न रूपों तथा शक्तियो मे कार्य करती है , ब्रह्म आनन्दस्वरूप है जो इस जगत् का प्रच्छन्न प्राण (Secret bliss) 'ईथर' है जिसके बिना हम जीवित नही रह सकते । ब्रह्म समग्र जगत् की अन्तरात्मा है । वास्तव मे ब्रह्म सब चेतन प्राणियो का स्वामी है, उनकी चेतना का वही अधिष्ठान है । वह अचेतन पदार्थों मे भी परिव्याप्त है । वह समय भी है और काल की परिखाओ का अतिक्रमण भी करता है । वह स्थान भी है और जो कुछ स्थान के अन्तर्गत है वह भी है । वह कारण भी और उसका उपादान (Casuality) भी वह विचारक और उसका विचार दोनो है, वह जुवारी भी है और उसका पाँसा भी । वास्तव मे ब्रह्म जो कुछ है और जो कुछ नही है, वह सभी है । वह सार्वभौम (Cosmic) आत्मा है जो सभी प्राणियो को अपने परिवेश मे लिए हुए है और व्यक्ति भी वही आत्मा है । आत्मा ईश्वर का एक अश मात्र है । वस्तुत बात यह है कि उसकी महद प्रकृति अथवा चेतन-शक्ति ही इस प्राणि जगत् मे प्राणी बन गई है । सर्वत्र ब्रह्म का ही आधिपत्य है और उसीके कारण समग्र वस्तुओ की सत्ता है । यह वास्तविकता उस प्रत्येक वस्तु की है जिसे हम आत्मा और प्रकृति दोनो मे पाते है । ब्रह्म अथवा ईश्वर का जगत के रूप मे यह अभिव्यजन उसकी योग-माया अथवा उसकी चैतन्य शक्ति (Conciousness Force) के कारण सभव हुआ है ।'

/ अध्यात्म के प्रथम अनुभव के रूप मे इसे स्वीकार किया जा सकता है कि एक पूर्ण, नित्य और अनन्त आत्म-सत्ता, आत्म-ज्ञान और आत्मानन्द समग्र विश्व मे परिव्याप्त (Pervades) है और साथ ही उससे परे भी है । किन्तु, इस सत्य के दो पक्ष है, वैयक्तिक और अवैयक्तिक (Persnonal & Impersonal) और वह मात्र सत्ता ही नही है, वरन् उसके तीन रूप है—पूर्ण (Absolute being), शाश्वत और अनन्त । अस्तु, हमे ब्रह्म को पहिचानने के लिए उसकी तीन मूल अवस्थाओ को स्वीकार करना पडेगा । भारतीयो ने उन्हे ब्रह्म, आत्मा और पुरुष अथवा ईश्वर की सज्ञा दी है । यह ब्रह्म हमारे समक्ष आत्मा और ईश्वर के रूप मे अभिव्यक्त होता है । अत. उसकी चेतन शक्ति के तीन रूप है । प्रथम चेतना माया है जो समग्र पदार्थों की सर्जिका-शक्ति है ; दूसरी शक्ति प्रकृति है जो चैतन्य-पुरुष (Concious Being) के निरीक्षण मे समग्र वस्तुओ की व्यवस्था करती है और जो गत्यात्मक है, और तीसरी शक्ति आत्मा है जो देव पुरुष (Divine Being) की शक्ति है । आत्मा मे सर्जन शक्ति भी है और समग्र दैवी कार्यों की व्यवस्थापिका भी है । ये तीन अवस्थाएँ और उनकी शक्तियाँ समग्र अस्तित्व अथवा विश्व और प्रकृति की मूलाधार है । यदि इन सबको एक मान लिया जाय तो जो असमानता (Supracosmic Transcen-

ब्रह्माण्डोत्तर और हमारी व्यक्तिगत सत्ता के पृथकत्व मे प्रकट रूप मे दृष्टिगोचर होती है, उसका समाधान हो जाता है और ब्रह्म प्रकृति और हम एक ही सत्ता की अवस्थाओ द्वारा शृङ्खलित हो जाते है।[1]'

'किन्तु, हम ब्रह्म, जीव और जगत् को भिन्न-भिन्न इसलिये समझते है क्योकि हम माया है। यह माया कौन सा तत्व है ? श्री अरविन्द माया के दो रूप मानते है—निम्न माया और उच्च माया। जब हम इस निम्न माया के प्रभाव मे होते है तो ब्रह्म की ओर उन्मुख नही होते, अर्थात् हम यह नही समझ पाते कि एक के अतिरिक्त दूसरा पदार्थ है ही नही। यह माया भिन्नत्व तथा विरोध की जननी है। जगत्-बन्धन मे बँधे हुए आत्मा पर इसी निम्न कोटि की माया का प्रभाव रहता है। किन्तु, उच्च माया, जो श्री अरविन्द के अनुसार ऊर्ध्व चेतन की स्थिति मे रहती है मे, जीव, जगत् और ब्रह्म मे द्वैत नही दिखाई पडता। वास्तव मे इस स्थिति को माया की सज्ञा देना भ्रामक है। श्री अरविन्द इसे उच्च माया इसलिए कहते है क्योकि जीवात्मा ब्रह्म के अस्तित्व के साथ अपने अस्तित्व से भी परिचित है और वह द्वैत-ज्ञान से पूर्णतया मुक्त नही हुआ। श्री अरविन्द की मान्यता के अनुसार इस माया से पलायन करने से उस पर विजय नही प्राप्त की जा सकती। क्योकि तत्व-प्राप्ति का यह प्रथम सोपान है और इसके द्वारा प्रदत्त मानसिक सुख-दुखो का अनुभव अनिवार्य है। क्योकि समग्र द्वन्द्व ईश्वर द्वारा निर्मित है और यदि इनका सम्यक् अनुभव किया गया तो ब्रह्म की समग्र अनुभूति नही हो सकती, उसकी लीला ही अधूरी रह जायगी।[2]

उपर्युक्त निम्न माया से जब मन ऊपर उठ जाता है तो वह उच्च माया के साम्राज्य मे प्रवेश करता है, जिसे श्री अरविन्द ऊर्ध्व चेतन की अनुभूति की अवस्था कहते है। इस स्थिति मे पहुँच कर जैसा ऊपर कहा गया है जड-चेतन अथवा द्वैत-भाव से मन ऊपर उठ जाता है। उसे सर्वत्र एक ही तत्व की अनुभूति होती है। भारतीय दार्शनिको मे श्री शकराचार्य ने केवल चेतन तत्व को ही महत्ता दी है और जड का एकान्त निषेध किया है और भौतिकवादी विचारको ने केवल जड की ही सत्ता स्वीकार की है; किन्तु श्री अरविन्द ने जड को चेतन का ही रूप सिद्ध करके एतद् सम्बन्धी अपने भव्य सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की है। चेतना का जड तत्व के रूप मे सहसा ही विकास नही हुआ वरन् उसको जड तत्व तक पहुँचने मे अनेक सोपानो मे यात्रा करनी पडी है। श्री अरविन्द की इन सोपानो की परिकल्पना मे अद्भुत मौलिकता है।

---

१. दि लाइफ डिवाइन, पेज ४६–४७, वाल्यूम २

2. The lower present and deluding mental Maya has first to be embraced, then to be Overcome, for it is God's play with division and darkness and limitation desire and suffering in which he subjects himself to the force that has come out of himself to be Obscured.

अरविन्द के अनुसार मूल चेतन ब्रह्म है। ब्रह्म अपनी माया के द्वारा अपने को मन, प्राण और जड के रूप मे अभिव्यक्त करता है। जड तत्व के द्वारा ही यह जगत् विकसित हुआ है। जडतत्व, मन तथा प्राण मे बद्ध ब्रह्म की ही सज्ञा जीव होती है। वास्तव मे ये ब्रह्म की तीन अवस्थाये है। चूंकि हम विभाजन द्वारा ही किसी वस्तु को समझना चाहते है इसलिए एक ही ब्रह्म को सच्चिदानन्द मे विभक्त कर दिया गया है।'

जीवन का स्वरूप और आदर्श

'ब्रह्म, जीव और जगत् की विचारणा के पश्चात् यह आवश्यक है कि हम श्री अरविन्द द्वारा निर्णीत और प्रतिष्ठित जीवन के स्वरूप और आदर्श पर विचार कर ले। श्री अरविन्द जीवन को जडतत्व से पृथक् नही स्वीकार करते। वे जड़तत्व के भीतर भी प्राण शक्ति की क्रिया स्वीकार करते है। जिस स्थिति को हम मृत्यु की सज्ञा देते है, वह जीवन की ही प्रक्रिया है। जिस प्रकार भौतिक तत्व पृथक् होकर भी अपनी सत्ता रखते है, उसी प्रकार उनमे बद्ध शक्ति का एक रूप जीवन भी सतत् बना रहता है। वह किसी भी अवस्था मे नष्ट नही होता।[1] वस्तुओ का रूप-परिवर्तन, उनका प्रकट और अदृश्य होना शक्ति की गति के अतिरिक्त और कुछ नही है। जीवन और जड़तत्व दोनो ही ब्रह्म के रूप है। समग्र विश्व के नष्ट हो जाने पर भी मूल जीवन-शक्ति सतत् विद्यमान रहती है, क्योकि वह अविनाशी है। निष्कर्ष यह कि एक सर्वव्यापक गतिमय जीवन शक्ति है—जिसका भौतिक रूप, मात्र बाह्य सवेदन है—जो भौतिक जगत् के समग्र रूपों की सर्जना करती है तथा समग्र विश्व के नष्ट हो जाने पर भी नष्ट नही होती। वह इतनी शक्तिवती है कि जब तक उसे किसी महद्शक्ति का अवरोध न प्राप्त हो, वह नूतन विश्व की सर्जना करती जायगी। इस प्रकार जीवन अथवा प्राणतत्व वह शक्ति है जो जगत् के समग्र रूपो की सर्जना करती है, रक्षा करती है और उसका विनाश करती है। साधारणतया लोगो का विश्वास है कि पृथ्वी आदि जडतत्वों मे जीवन नहीं होता। किन्तु श्री अरविन्द के अनुसार जीवन ही पृथ्वी, वनस्पति, पशुओ आदि में अपनी अभिव्यक्ति करता है। समग्र सत्ता सार्वभौम जीवन शक्ति है जो जड तत्व के रूप मे अभिव्यक्त हो गईहै। किन्तु, वनस्पति और मानव चेतना मे अन्तर है। श्री अरविन्द का कहना है कि वनस्पति मे जीवन शक्ति का साधारण रूप प्राप्त होता है, पशुओं मे उससे अधिक और मानव मे सर्वाधिक। यह इसलिए है क्योकि जड़तत्व (धातु

---

1 All renews itself. Nothing perishes. There is one all pervading life or dynamic energy-the material aspect being only its outer most movement-that creates all these terms of the physical Universe.

—The Life Divine Vol. I, P. 213,

पाषाणादि) से लेकर मानव तक प्राणतत्व का विकास हुआ है। धातु आदि जड़-पदार्थो मे भी जीवन है, यद्यपि प्रत्यक्षतः उनमे इसके चिह्न दृष्टिगोचर नही होते। श्री अरविन्द ने प्राणशक्ति की उस चेतना की प्रत्यय-पूर्ण व्यवस्था की है। उन्होने चेतन तथा अवचेतन के युग्म का उदाहरण लेकर अपने तर्क को स्पष्ट करने की चेष्टा की है। उनका मत है कि हम प्राय उन पदार्थो को प्राणवान समझते है जिनमे शारीरिक प्रतिक्रिया और सवेदन दृष्टिगोचर होते है। किन्तु, शारीरिक सवेदन तो जीवन के मात्र बाह्य उपलक्षण है। उदाहरणार्थ सास लेना और चलना-फिरना इसी प्रकार की सवेदन क्रियाये है। वनस्पति पर जब इस प्रकार के प्रयोग किए जाते है तो उनमे भी सकोचन आदि की क्रिया दृष्टिगोचर होती है। इससे सिद्ध होता है कि उनमे सकुल प्राण-शक्ति अन्तर्निहित है तथा उनके भी विकसित होने की कामना है और उनके अस्तित्व मे एक सुव्यवस्थित चेतन शक्ति प्रच्छन्न रूप से परिव्याप्त है। तात्पर्य यह कि जगत् के समग्र स्थूल-सूक्ष्म पदार्थो मे एक गतिमय शक्ति प्रवह्मान है, जिसका रूप पदार्थ की स्थिति के साथ परिवर्तित होता रहता है। अस्तु, प्रत्येक भौतिक पदार्थ मे चाहे वह धातु हो, वनस्पति हो, पशु हो अथवा मानव हो, सभी मे यह सक्रिय शक्ति भरी हुई है। इस प्रक्रिया को हम जीवन शक्ति कहते है।) इस विश्व शक्ति की भिन्न-भिन्न सज्ञाये है, यथा मानस शक्ति, जीवन-शक्ति, तथा भौतिक शक्ति।[1] मृत्यु के पश्चात् भी प्राणशक्ति श रीर मेविद्यमान रहती है, यद्यपि हम जिस प्राणशक्ति से परिचित है, समाप्त हो जाती है। क्योकि कभी-कभी कुछ सीमाओ के अन्तर्गत हम उचित उपचारो के द्वारा मृत को पुनर्जीवित कर लेते है। इससे यह सिद्ध होता है कि उसमे प्राणशक्ति परिव्याप्त रही है। केवल वह साँस नही ले सकता था, हाथ-पैर नही हिला सकता था, उसकी मस्तिष्क क्रिया बन्द हो गयी थी, जिसे हम जीवितावस्था मे देखते है। यदि यह जीवन शक्ति सघटित न हो जाती तो हम किसी दशा मे भी उपचार द्वारा व्यक्ति को पुनर्जीवित न कर सकते थे। श्री अरविन्द के मत से बाह्य जीवन-शक्ति का आन्तर जीवन-शक्ति से विछोह होने पर ही मृत्यु होती है। उन्होने इसे एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया है। वे अपस्मार (Catalepsy) का उदाहरण लेते है। उनका कहना है कि अपस्मार के दौरे मे रोगी के शरीर मे जीवन के चिह्न दृष्टिगोचर नही होते; फिर भी उसमे चेतना रहती है। यद्यपि वह अपने चैतन्य द्वारा अपनी वेदना को नही प्रकट कर सकता। किन्तु, इससे इस परिणाम पर नही पहुँचा जा सकता कि वह व्यक्ति मर गया है, वरन् इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि साधारण रूप से होने वाली शारीरिक क्रिया स्थगित हो गयी है और मानसिक क्रिया अभी तक जीवित है। यही अवस्था समाधि मे साधक की होती है। (श्री अरविन्द का इस अवस्था पर यह मत है कि वास्तव मे ऊपरी चेतना-शक्ति उपचेतन मानस धरातल

1. The life Divine, Vol. I, Page 217

मे खिच जाती है और जीवन अथवा प्राण शक्ति उपक्रियाशील जीवन मे खिच जाती है। और इस प्रकार या तो समग्र मानव अवचेतन सत्ता मे मग्न हो जाता है या वह ऊपरी प्राण-शक्ति को उठाकर अवचेतन मे प्रतिष्ठित करता है जब कि उसका आभ्यन्तर अतिचेतन तक उठ जाता है।[1]

श्री अरविन्द के जीवन-सम्बन्धी उपर्युक्त विवेचन मे यह सिद्ध होता है कि यदि जीवन वह शक्ति हे जो जड तत्व से निसृत होकर ज्ञान अथवा मन पर समाप्त होती है तो हमे यह भी स्वीकार करना पडेगा कि प्राण-शक्ति आरम्भ से ही जड के अन्तर्गत थी, नही तो वह जड से कैसे उत्पन्न हो सकती ? इसलिए यह स्वीकार करना होगा कि जीवन शक्ति अणु से लेकर मानव तक अभिव्यक्त होती है। अणु मे अवचेतन स्थिति, पशु मे अग सचालन आदि क्रियाओ के रूप मे अभिव्यजन होता है और वनस्पतियो मे विकास की मध्यमावस्था प्राप्त होती है। वास्तव मे जीवन चेतना की सार्वभौम प्रक्रिया है जो जड मे अवचेतन स्थिति मे रहती है। इस शक्ति को तीन रूपो मे विभक्त किया जा सकता है—

(१) जिसमे जीवन जड तत्व के साथ निस्पन्द है (२) वह मध्यम अवस्था जिसमे चेतना की स्फुरणा हो जाती है और (३) वह सर्वश्रेष्ठ अवस्था जिसमे चेतना और सवेदन पूर्णतया विकसित होकर विवेक को जन्म देते है। अरविन्द के मत से मध्यमावस्था का अतिशय महत्व है; क्योकि वास्तव मे जीवन-चिह्नो का द्योतन यही से होता है और जड-चेतन की मध्यस्थता का कार्य भी यही अवस्था करती है।[2]

जीवन का उद्देश्य—

श्री अरविन्द द्वारा प्रतिष्ठित जीवन के स्वरूप को जान लेने के पश्चात् यह आवश्यक है कि हम उसके उद्देश्य से भी परिचित हो जायँ। जब हम अपने विषय मे विचार करते है तो हमे ज्ञात होता है कि हमारा मन जागतिक बन्धनों मे पूर्णतया आबद्ध है और हमारा उपचेतन प्राण के दृढ बन्धन मे जकडा हुआ है। जब हम अपने ऊर्ध्व चेतन की ओर दृष्टिपात करते है तो वह मन के अनेक आवरणों से आच्छादित प्राप्त होता है। निष्कर्ष यह कि हमारा जीवन तथा मन दोनो अपने समग्र स्तरों के साथ जड तत्व के बन्धन मे आबद्ध है। अत जैसा उपनिषदों का मत है पृथ्वी ही हमारा आधार है और भौतिक जगत् का प्रारम्भ यही से होता है। जीवन के माध्यम से मन अभिव्यक्त होता है और मन के माध्यम से ऊर्ध्वचेतन व्यक्त होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि ये सारे तत्व किस प्रकार एक दूसरे से

1. The life Divine, Vol. I, Page 218
2. „ „ „ 225-286

अनुस्यूत होकर अन्योन्याश्रित है। अस्तु, जड़ और चेतन दोनो पदार्थ यथार्थ है, कोई भी मिथ्या नही। जीवन ब्रह्म की शक्ति है जो निरन्तर अपनी प्रजनन क्रिया द्वारा अनेक रूपो मे ठीक उसी प्रकार अभिव्यक्त होती है जिस प्रकार डाइनमो अपनी बैटरी के धक्के सहन करके भी निर्माण-कार्य मे व्याप्त रहता है। इससे सिद्ध होता है कि जीवन पृथक् तत्व नही है, वरन् उसके पीछे एक और चेतन शक्ति कार्य करती है और वह शक्ति मन और उससे ऊपर ऊर्ध्व चेतन है। अस्तु, जीवन मन और शरीर की मध्यवर्तिनी प्रक्रिया है। अतएव, जीवन प्रारम्भ से अन्त तक एक अधीनस्थ तत्व है।[1]'

डार्विन तथा उसके अनुयायियो की अब तक की स्थापना यह रही है कि वातावरण के दबाव से जीवन मे विभिन्नता प्रकट हुई है। इससे केवल यह सिद्ध होता है कि प्राणी का उद्देश्य केवल जीवित रहना है, किन्तु केवल इतना ही नही, उसका उद्देश्य जीवन को पूर्ण बनाना उसको समग्रता प्रदान करना भी है।[2] क्योकि वातावरण को अपने अनुकूल परिवर्तित करने या बनाने से जीवन के उद्देश्य की पूर्ति नही होती। इस प्रकार जीवन सुरक्षा की भावना स्थायी नही है, जबकि जीवन का उद्देश्य स्थायी सुरक्षा होना चाहिए।

'मूलत शाश्वत् जीवन की प्राप्ति की इस भावना मे डार्विन के उद्देश्य से कोई विरोध नही है। क्योकि जीवन की ऊर्ध्व गति मे विकासवाद का सिद्धान्त कोई विरोध नही उपस्थित करता। श्री अरविन्द के अभिव्यक्ति सिद्धान्त के अन्तर्गत ही डार्विन का आत्म-रक्षा सिद्धान्त आ जाता है। डार्विन-मतावलम्बियो के अनुसार मानव के समग्र व्यापार आत्म-रक्षा से प्रेरित होते है। उसके सामाजिक सगठन, वैवाहिक सम्बन्ध, शासन-प्रबन्ध तथा व्यापारादि इसी प्रवृत्ति के द्योतक है। डार्विन के इस सिद्धान्त मे वैयक्तिक स्वार्थो को अधिक बल दिया गया है, परिणामतः जीवन दृष्टि समग्र न होकर एकाङ्गी हो गयी है। किन्तु, अरविन्द का अभिव्यक्ति सिद्धान्त समग्रता परक है। वस्तुत. डार्विन के विकासवादी जीवन-सिद्धान्त की व्याप्ति केवल भौतिक विकास तक ही सीमित है। परन्तु इस पर यह प्रश्न उठता है कि यह भौतिक विकास किसके लिए है? इसका हेतु क्या है? इसका उत्तर डार्विन-मतावलम्बियो के पास नही है। इसका उत्तर हमारे प्राचीन ऋषियो और श्री अरविन्द ने दिया है। उत्तर है मानसिक अभिव्यजन। अथर्ववेदान्तर्गत इसका तथ्याङ्कन एक व्यक्ति का प्रभाव दूसरे व्यक्ति के मन पर किस प्रकार पड़ता है, की स्वीकृति द्वारा किया गया है। प्राचीन ऋषियो का तो यहाँ तक कहना है कि इस जन्म की भावनाओ का प्रभाव दूसरे जन्म पर भी पडता है।'

1 The life Divine Vol. 1 Page 220

" " 241

'शारीरिक विकास के साथ हमे आन्तर-सगठन पर भी ध्यान देना चाहिए। वास्तव मे मृत्यु हमारे शारीरिक सगठन को ही नष्ट करती है।[1] इससे हमे वैयक्तिक अह के विकास के लिये प्रेरणा मिलती है। क्योकि वैयक्तिक अह पर बाह्य प्रकृति का दबाव पडता है और साथ ही वह उसे आत्मरक्षा का अवसर भी देती है। डार्विन का यह सिद्धान्त कि 'योग्यतम ही अवशिष्ट रहता है' शरीर और मन के लिए ही ठीक उतरता है। आन्तरिक चेतना के विकास मे लोक-मानस और वैयक्तिक मन सगठित होने लगते है। भौतिक जगत की भाँति आन्तरिक चेतना-विकास मे सघर्ष का अवकाश नही है।'

'हमारे समक्ष जीवन का उद्देश्य स्पष्ट न होने के कारण शरीर तथा मन ही प्रधान तत्व बन गए है। जिसके फलस्वरूप प्राय प्रत्येक क्षेत्र मे द्वन्द्व और सघर्ष दृष्टिगोचर होते है। वास्तव मे प्रेम के द्वारा बहुविध सामाजिक विकास हुए है। प्रेम एक ऐसी मानसिक स्थिति है जिसमे आदान-प्रदान अपेक्षित है। किन्तु, आज के समाज मे प्रदान की भावना से अपहरण की भावना अधिक बलवती है। हमे विकासवाद के सिद्धान्त के साथ मानस-विकास के सिद्धान्त को भी सयुक्त कर लेना चाहिए। आदान-प्रदान की क्रिया द्वारा ही जीवन मे सन्तुलन सम्भव है।[2]'

'उपर्युक्त आदान-प्रदान का सिद्धान्त केवल जीवन और मन के धरातल पर ही सभव है, अन्तश्चेतना के धरातल पर सम्भव नही। उस स्थिति मे तो अन्तश्चेतना पर अवलम्बित शाश्वत एकता का सिद्धान्त ही सहायक हो सकता है। वास्तव मे जावन की यही प्रमुख समस्या है, इसी के समाधान के साथ शाश्वत् आनन्द की उपलब्धि हो सकती है, जो जीवन का चरम उद्देश्य है।[3] चू कि मानव को अपनी सार्वभौमता का ज्ञान नही है, इसलिये वह सर्व साधारण और अपने जीवन के साथ प्रभविष्णु ढग से व्यवहार नही कर पाता। इसीलिये वह जड-तत्व के अनुसन्धान के साथ भौतिक वातावरण पर विजय प्राप्त करना चाहता है, जीवन की जिज्ञासा के साथ आन्तर जीवन पर प्रभुत्व प्राप्त करना चाहता है। मानस की जानकारी के साथ वह जटिल मानसिक प्रक्रिया पर विजयी होना चाहता है जिसका वह एक

---

1. Our life energy, our desire euergy, our powers, passions enter both during our life and ofter our death into the life exstence of others. An account of occult knowledge tells us that we have a vital frame as well as physical and this too is after death dissolved and lends itself to the constitution of other vital bodeis.

   —The life Divine (Vol. 1) page 243

2. The life Divine, (Vol 1) Page 245

3. „ „ „ 146

पुर्जा ही नही, वरन् ज्ञान की वर्धमान शिखा भी है। इस प्रकार वह अपने ऊपर प्रभुत्व पाने के लिए आत्मान्वेषण मे सलग्न है। इससे यह सिद्ध होता है कि उसकी यह शाश्वत टोह अपने पूर्णत्व की उपलब्धि के लिए है। यह उसका स्वभाव बन गया है और वह उसके बिना रह नही सकता। उसकी इस चिरन्तन समस्या का समाधान तभी हो सकता है, जब वह अपने अन्तर्गत प्रतिष्ठित आत्मा को सतुष्ट करे या फिर वह अपने भीतर एक महान नूतनता को जन्म दे जो उसकी सन्तुष्टि मे समर्थ हो। चाहे वह स्वय दैवी मानवता मे परिणत हो जाय या फिर अतिमानव को वह स्थान प्रदान करे।[1]

(च) अतिमानव का सिद्धान्त

ऊपर जीवन के चरम लक्ष्य के रूप मे अति मानव की स्थिति की चर्चा की गई है। अरविन्द दर्शन के अन्तर्गत अतिमानव स्थिति का बडा महत्व है। अस्तु, सक्षेप मे इस स्थल पर इस पर विचार किया जा रहा है।

ऊपर के वर्णन से स्पष्ट है कि सृष्टि का विकास अतिमानवत्व की ओर हो रहा है। श्री अरविन्द ने अतिमानव स्थिति की प्राप्ति का वर्णन और प्रतिष्ठापन अपने पूर्ण योग मे प्रत्ययपूर्ण ढग से किया है। इस स्थिति की उपलब्धि के पश्चात् मानव-मन परमानन्द मे निमग्न हो जाता है। स्वर्गीय मानवता की यही परिभाषा है।[2] अतिमानव की यह स्थिति पूर्ण समर्पण द्वारा ही प्राप्त होती है। परमात्मा के लिए पूर्ण समर्पित होने के पश्चात् हमारे अन्तर्गत उसकी दिव्य ज्योति अवतरित होती है, किन्तु हमारे इस समर्पण मे भी ऊपर से सहायता अवश्य मिलती है। कुछ दिनो पश्चात् हमारा समर्पण जो बुद्धिभावना से भी प्रेरित होता है, शनै -शनै. कम होता जाता है, फिर बिलकुल लुप्त हो जाता है और वह दिव्य शक्ति स्वयमेव हमारा मार्ग-दर्शन करने लगती है। यहाँ तक पहुँचकर अन्तश्चेतना जाग्रत हो जाती है। यही पर अतिमानव स्थिति का प्रथम प्रयास समाप्त हो जाता है और दूसरी स्थिति जिसे हम समर्पण के फल की स्थिति कह सकते है, प्रारम्भ होती है।

---

1 The lıfe Dıvıne, (Vol 1) 252

2 All our feelıngs ımplıed by the nner heart ın whıch dwells the dıvıne wıll be transmuted ınto calm and ıntense movement of a twın passıon of Dıvıne love and manıfold Anand Thıs ıs the defınıtıon of a dıvıne humanıty. Thıs not an exaggcrated or enen sublımated evergy of human ıntellect and actıon ın the type of ruperman whom we are called to evolve by our yoga

—The synthisıs of yoga-Page 40

इस स्थिति द्वारा हमारा सम्बन्ध अपनी चिर अभीष्ट दिव्य सत्ता के साथ हो जाता है ।

श्री अरविन्द की उपर्युक्त अतिमानव-सम्बन्धी विचारणा से स्पष्ट है कि वे मानव को सृष्टि-विकास का अन्तिम चरण नही स्वीकार करते । उनकी यह दृढ मान्यता है कि मानव-विकास का अन्तिम परिणाम आत्म-विस्तार और आत्मोत्तर-स्थिति के विचित्र प्रारूप मे होगा । जिस प्रकार पशु प्रयोगशाला से प्रकृति ने मानव का निर्माण किया है, उसी प्रकार मनुष्य स्वय एक विचारशील की जीवन्त प्रयोग-शाला है जिसके अन्तर्गत उसी के सहयोग से वह अतिमानव के निर्माण मे प्रयत्नशील है ।[1] मानव बुद्धि-जीवी प्राणी अर्थात् मनोमय पुरुष है । उसकी चेतना मन-द्वारा प्रेरित होती है । किन्तु, मन वास्तविक ज्ञानशक्ति जो स्वत ज्योतिर्मय एव स्वत अनुभूत है, जिसे अधिमानस स्थिति कहते है—को प्राप्त करने का अत्यन्त साधारण उपकरण है । अतिमानवत्व का अधिष्ठान अधिमानस है । उसको इस प्रक्रिया से अपने समग्र व्यक्तित्व को अनुप्राणित करना पडेगा । इसकी पूर्ण सफलता अपने को पूर्णतया दैवी प्रतिभा मे परिवर्तित करने मे है । इसकी उपलब्धि के साथ शरीर का प्रत्येक रध्र तथा प्रत्येक रक्त कीट देवत्व प्राप्त कर लेगा । अतिमानवत्व की यह कल्पना मानव की युगों-युगो की विचारणा—जो उसने उच्चादर्शो के रूप मे की है – की झाँकी प्रस्तुत करती है । यह वह पहली परिकल्पना है जिसमे मानव मे देवत्व अवतरित होगा ।

श्री अरविन्द द्वारा प्रतिष्ठित अतिमानवत्व का सिद्धान्त दो भिन्न सीमान्तो का स्पर्श करता है । यह न तो निर्वाण अथवा कैवल्य के सर्व शान्त निषेधात्मक मार्ग को ही स्वीकार करता है और न अहकार सबलित आत्म प्रतिष्ठा के मार्ग का अनुसरण करता है । यह सन्यास और भौतिकता का मध्यवर्ती मार्ग है । अतिमानव की स्थिति का केवल इतना ही अर्थ नही है कि मानव मानवता से उठकर लोकोत्तर देवत्व मे प्रतिष्ठित हो जायगा, वरन्-यह स्थिति इससे कही अधिक महान् है । अतिमानव वास्तव मे विश्व की अभिव्यक्ति और सर्जना मे ईश्वर का सहयोगी है । अतिमानव की व्याप्ति केवल ईश्वर-साक्षात्कार तक ही नही है, वरन् वह हमारी भौतिक मानवीय चर्चा मे भी ईश्वर का जीवन्त अभिव्यजन करता है ।

श्री अरविन्द की अतिमानव की अवधारणा वेदान्त की जीवन-मुक्त-स्थिति से अतिशय सादृश्य रखती है । वेदान्त के अनुसार जीवनमुक्त दो ससारो का निवासी है । संसार का जीवित प्राणी होने के कारण उसका सम्बन्ध ससार से भी होता है और मुक्त होने के कारण लोकोत्तर सत्य ससार से भी उसका सम्बन्ध होता है । इसलिए इस जीवन्मुक्त स्थिति का जो इसी जीवन मे देवत्व के विकास

1 The life Divine, Vol 1, Page 6

२

अरविन्द की काव्य-सम्बन्धी मान्यता

१—प्रारम्भिक कला और काव्य

(अ) कला

कला का काव्य के साथ सबध स्थापित करने के पूर्व यह आवश्यक है कि कला की प्राच्य तथा पाश्चात्य मान्यताओ के उल्लेख द्वारा उसका स्वरूप स्थिर कर लिया जाय। यो तो भारतवर्ष मे कला के स्वरूप के स्थिर करने की चेष्टा अत्यन्त प्राचीन काल (वैदिक काल) से ही दृष्टिगोचर होती है, किन्तु उस काल की कला का स्वरूप इतना समवेत और समष्टिरूप मे प्राप्त होता है कि उसके विशाल शरीर के अ ग-उपागो का रूप अस्पष्ट ही है। किन्तु मानव-मन स्वभावतया कला-प्रेमी होने के कारण उसके स्वरूप को स्थिर करने मे उस काल से अब तक सचेष्ट है। उसकी इस चेष्टा के फलस्वरूप कला-सम्बन्धी चिन्ता-धारा के द्वारा विभिन्न समयो मे कला की विभिन्न परिभाषाये निर्धारित हुई है। शुक्राचार्य ने अपने 'नीतिसार' नामक ग्रन्थ मे कला के स्वरूप को स्थिर करते हुये लिखा है, —

> " जिसे मूक व्यक्ति भी करने मे समर्थ हो
> वह कला है [1]।

क्षेमराज उसे कला मानते है जिसके अनुसार वही नव-नव स्वरूप प्रथोल्लेख-शालिनी सवित् वस्तुओ मे या प्रमाता मे स्व से आत्मा को परमित रूप मे प्रकट करती है, इसी रूप का नाम कला है[2]"। भोजराज के तत्वप्रकाशानुसार 'कला कर्तव्य शक्ति की प्रतीक है'।[3] विश्व कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर 'कला' को 'व्यक्तित्व-अभि—व्यजना' का प्रमुख उद्देश्य मानते है।[4] प्रसिद्ध विचारक डा० भगवानदास के अनुसार कला रस का अनुवर्तन करती हुई अपनी सत्ता को सार्थक करती है। उनकी परिभाषा इस प्रकार है :—

> "कला या कलात्मक प्रक्रिया वह प्रक्रिया है जो
> सावधानीपूर्वक स्वेच्छा से द्रष्टा, श्रोता या

---

१. "शक्तो मूकोऽपि यत् कर्तु कला सज्ञ तुस्मृत"

२ कलपति स्वरूप आवेशयति वस्तुनित
तत्र—तत्र प्रमातरि कसनमेव कला"

३. "व्यजयति कर्तृ शक्ति करोति तेनह कथिता सा"।

4. The principal object of art
being the expression of personality.

पाठक के मस्तिष्क मे सहानुभूतिपूर्ण आनन्द
अथवा रस की निष्पत्ति करती है।"[1]

इस युग के प्रसिद्ध दार्शनिक कवि स्व० जयशकर प्रसाद ने कलाओ की गणना उप-विद्याओ मे करते हुए लिखा है,—

"वह विज्ञान से अधिक निकट सम्बन्ध
रखती है"।

पाश्चात्य देशों मे कला–सम्बन्धी विवेचनो का प्रारम्भ पाश्चात्य समीक्षा के प्रथमाचार्य अरस्तू से होता है। उसके अनुसार कला–सृष्टि प्रकृति की 'अनुकृति' से होती है। वे इसे आनन्द का साधन भी कहते है। अरस्तू का कहना है कि—

"अनुकृति इसलिये प्रिय है कि उससे एक तार्किक को
मूल वस्तु से सादृश्य और असादृश्य, सत्यता अथवा
असत्यता की परीक्षा के लिए सामग्री प्राप्त
होती है[2]"।

टाल्सटॉय कला को अनुभूति-अभिव्यजना का साधन मानते हुए कहता है :—

"कला एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा एक
मनुष्य अपनी अनुभूतियो को स्वेच्छापूर्वक दूसरे
पर प्रकट करता है"।[3]

वेवर कला को दर्शनशास्त्र से भी अधिक महत्व देता हुआ कहता है कि .—

"कला, धर्म और ईश्वरीय प्रकाश एक ही वस्तु है तथा
कला दर्शनशास्त्र से भी उच्चतर है। दर्शनशास्त्र तो
केवल ईश्वर की अवधारणा करता है किन्तु कला तो
ईश्वर ही है।"[4]

टकवेल ने अपनी 'धर्म और यथार्थ' नामक पुस्तक में लिखा है -

---

1. Art or artistic activity is that activity which is conciously and deliberately intended to produce and produces, Ras, sympethetic enjoyment in the mind of witness.

2. Imitation pleases, because it affords matter for a reasoner to enquire into the truth or falsehood of imitation by comparing its likeness with original.

3. Art is an activity by means of which one man having experienced a feeling, intentionally transmits it to others.

4. Art, religion and revelation are one and samething, superior even to philosophy. Philosophy conceives God, art is God.

"जिस प्रकार विश्व विश्वात्मा की अभिव्यक्ति है, उसी प्रकार कला कलाकार की आत्मा की अभिव्यक्ति है और कलाकार का कार्य उसकी मूर्ति है [1]"।

क्रोचे के अनुसार:—

"कला संस्कारो की आभ्यतर अभिव्यक्ति है, आभ्यतर अभिव्यजना की बाह्य अभिव्यक्ति नही[2]"।

फ्रायड के अनुसार कला-स्वरूप दमित वासनाओ के उदात्तीकरण मे मूर्त होता है। श्री रामचन्द्र शुक्ल कला के स्वरूप-निखार को 'सयोजन' मे स्वीकार करते है। उनका कहना है—

"कला की अनेको परिभाषाए बनी बिगडी परन्तु कोई निश्चित परिभाषा आज भी दृष्टि मे नही आती। सबसे सरल, सही-सही परिभाषा जो आधुनिक युग मे ठहरती है, वह कला को सयोजन से सबोधित करती है। किन्ही दो या उनसे अधिक वस्तुओ के सयोजन को कला कहते है। ... काव्य मे शब्दो का सयोजन, सगीत मे स्वरो का सयोजन और उसी भांति चित्रकला मे रूप का सयोजन होता है। सयोजन के बिना कला हो ही नही सकती। परन्तु यह नही कहा जा सकता कि बिना कला के सयोजन नही हो सकता। सयोजन पहले है फिर उसे हम कला भले ही कह ले। इसलिए यदि कला को सयोजन कहा जाय तो अनुचित न होगा [3]"।

कला-सम्बन्धी परिभाषा-विमर्श को और भी आगे बढाया जा सकता है, किन्तु उस सबका एक ही निष्कर्ष होगा कि कला की अवस्थिति 'सयोजन' मे है और उसका सौन्दर्याभिव्यक्ति से घनिष्ट सम्बन्ध है। जिस प्रकार मानव-मन अनेक अनुभूतियो का सघट है, उसी प्रकार उन अनुभूतियो के प्रकाशन के लिए उसने अनेक कला

---

1. Just as the Universe is the expression of the soul of the Universe, so work of Art is the expression and embodyement of the soul of the artist.
2. Art is the expression of impressions, not expressions of expression.
३. कला और आधुनिक प्रवृत्तियाँ, पृष्ठ ३०, प्रथम सस्करण, सूचना - विभाग उत्तर प्रदेश।

विधाओ की सृष्टि कर डाली है। प्रसिद्ध दार्शनिक हीगेल के अनुसार वह विभाजन इस प्रकार है :-

१ सिम्बोलिक आर्ट,
२ क्लासिकल आर्ट,
३ रोमाटिक आर्ट,

हीगेल के इस विभाजन के अनुसार —

प्रथम भाग मे	वास्तुकला,
दूसरे मे	मूर्तिकला,
तथा	
तीसरे मे	चित्रकला, सगीतकला और काव्यकला आते है।

रूमानी-कला के अन्तर्गत सभी ललित कलाओ को समझना चाहिये। डा० भगवत शरण उपाध्याय ने भी हीगेल के ही कला–सम्बन्धी वर्गीकरण को स्वीकार किया है [1]। किन्तु भारतीय विचारको तथा कुछ पाश्चात्यो ने कला-विभाजन को स्वीकार नही किया।

आचार्य कुतक लिखते है :—

"न च रीतिनाम् उत्तमाधम मध्यम भेदेन
वैविध्यम् व्यवस्थापयितु न्याय्यम्"।

क्रोचे ने तो कला—सम्बन्धी इस वर्गीकरण का तीव्र विरोध करते हुए कहा है :—

"कला के विभाजन से सम्बन्ध रखने वाली सारी पुस्तके यदि जला दी जाय तो कोई हानि न होगी"।

कवि 'प्रसाद' तथा आचार्य शुक्ल ने भी हीगेल के किए हुए कला–सम्बन्धी वर्गीकरण की तीव्र आलोचना की है और काव्य की स्थिति कलाओ से पृथक् मानी है।

(ब) कविता

हीगेल के अनुसार काव्य भी कलाओ के अन्तर्गत है। उसके विभाजन के अनुसार काव्य-कला अन्य कलाओ के अतिरिक्त अत्यत सूक्ष्म है। कलाओं की यह स्थूल-सूक्ष्म मान्यता हीगेल के अनुसार स्थूल-सूक्ष्म उपकरण और उपादान कारण को लेकर

१. हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, चतुर्थ खण्ड कला [ना० प्र० सभा]

है। काव्य-कला के उपकरण तथा उपादान कारण अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण उसे ललित-कलान्तर्गत लिया जा सकता है। कला की भाति काव्य-कला-सम्बन्धी परिभाषाओ मे भी विद्वानो मे मतैक्य नही है। भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानो ने अनेक काव्य की परिभाषाये की है।

(१) काव्य–सम्बन्धी भारतीय मत — अत्यन्त प्राचीनकाल से इस देश मे काव्य सम्बन्धी विचारधाराए उपस्थित की जाती रही है। कविता के इस स्वरूप निर्धारण मे अनेक पडित प्रवर आचार्यो का सतत् योगदान रहा है। किन्तु, जैसा कि ऊपर कहा गया है, इन आचार्यो के काव्य-सम्बन्धी मतो मे विचित्र वैभिन्न्य प्राप्त होता है। उनकी इन मान्यताओ से कभी रस, तो कभी रीति अलकार, तो कभी गुण और वक्रोक्ति आदि को समय-समय पर प्रधानता मिलती रही है। साराँश यह है कि उनकी काव्य सम्बन्धी स्थापनाओ से विषय के मूल को छोड कर और कोई समता नही दृष्टि-गोचर होती। भारतीय मनीषियो के काव्य-सम्बन्धी मतो की सक्षिप्त सारिणी इस प्रकार है —

भारतीय काव्याचार्यो मे अग्रगण्य भरत मुनि माने गयेहै, उन्हो ने काव्य की आत्मा 'रस' माना है। उनके अनुसार जिस प्रकार भोज्य-पदार्थ आस्वाद्य है, उसी प्रकार काव्य भी आस्वाद्य है। जिस प्रकार भोज्य पदार्थो के चर्वण से स्वाद प्राप्त होता है, उसी प्रकार भाव, विभाव, अनुभाव आदि के द्वारा एक विशेष आनन्दमय स्वाद प्राप्त होता है, जिसे उन्होने 'रस' कहा है।[1] उनका मत है कि रस से विमुक्त होकर काव्यार्थ नीरस हो जाता है, जिसे उन्होने काव्य नही माना।[2] भरत ने भाव, अनुभाव तथा सचारियो के सयोग से रस की निष्पत्ति मानी है।[3] उनके उत्तरवर्ती काव्याचार्यों ने 'निष्पत्ति' शब्द को लेकर अपनी काव्य-सम्बन्धी विचारणाये उपस्थित की है।

भट्टलोल्लट ने अपना उत्पत्तिवाद चलाया और उन्होने भरत के 'निष्पत्ति' की व्याख्या 'उत्पत्ति' और 'सयोग' की व्याख्या सबध से की है। उनके अनुसार रस नायक आदि पात्रो मे होता है। नट उसका अनुकरण अपनी वेष-भूषा तथा अङ्ग-भगिमा के द्वारा करते है।

इसके विपरीत आचार्य शकुक का कहना है कि —

> "भरत का 'निष्पत्ति' से अभिप्राय 'अनुमिति' से था।
> उनके अनुसार 'विभाव' अनुमापक है और रस
> अनुमाप्य। इन्ही को गम्य और गमक भी कहते हैं[4]।

---

१. "आस्वाद्यत्वाद्रसः"
२. "न रसादृते कश्चिदथः प्रवर्तते।"
३. "भावानुभावसचारि सयोगाद्रसनिष्पत्ति"।
४. साहित्यालोचन, डा०श्यामसुन्दर दास, पृ० २२५ (बारहवी आवृत्ति)

भट्ट नायक ने भरत की रस-सम्बन्धी मान्यता की व्याख्या को एक सुस्पष्ट तथा पुष्ट रूप दिया। उनके अनुसार स्थायी भाव से रस बनने तक की प्रक्रिया मे तीन शक्तियो का हाथ रहता है। ये शक्तियाँ है –

१ – अभिधा,

२ – भावकत्व और

३ – भोजकत्व [1]

इन्होंने सर्वप्रथम स्थायी भाव को साधारणीकृत होकर 'रस' की स्थिति मे पहुचने और सहृदय-सवेद्य होने की बात कही। काव्य के इतिहास मे 'साधारणीकरण' की स्थापना निस्सदेह एक अपूर्व आविष्कार है।

भट्ट नायक के पश्चात् अभिनवगुप्त ने रस—सम्बन्धी व्याख्या को विराम देते हुये कहा कि —

> "भावकत्व और भोजकत्व दो नयी क्रियाये नही है।
> उनके अनुसार इन दोनो क्रियाओ का कार्य
> व्यजना और ध्वनि से चल जाता है।"

अभिनवगुप्त पादाचार्य के अनुसार —

> "सयोग का अर्थ है ध्वनित या व्यजित होना
> और निष्पति का अर्थ है आनन्दरूप मे
> प्रकाशित होना"।

अभिनवगुप्त के पश्चात् काव्य मे रस के परिपोषको मे जिन आचार्यो का नाम उल्लेखनीय है, वे है आचार्य विश्वनाथ तथा पडितराज जगन्नाथ।

आचार्य विश्वनाथ के अनुसार —

> "काव्य 'रसयुक्त' वाक्य है" [2]

और पंडितराज जगन्नाथ ने इसे —

> "रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द"

कहा है।

आधुनिक काल के विद्वान आलोचक पडित रामचन्द्र शुक्ल ने भी काव्य मे रस की अवस्थिति अनिवार्य रूप से स्वीकार करते हुए कहा है —

> "जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रस–दशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की

---

१. साहित्यालोचन, डा० श्यामसुन्दरदास पृ० ३२५ (बारहवी आवृति)

२. "वाक्य रसात्मक काव्य"।

३. "रमणीयार्थप्रतिपादक शब्द काव्यम्।"

साधना के लिये मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती है उसे कविता कहते है" ।[1]

कवयित्री महादेवी वर्मा के अनुसार—

"कविता कवि की विशेष भावनाओ का चित्रण है और यह चित्रण इतना ठीक है कि उससे वैसी ही भावनाएँ किसी दूसरे के हृदय मे आविर्भूत हो जाती है " ।

कविवर 'प्रसाद' ने भी काव्य मे रस और आनन्द की सत्ता को स्वीकार किया है ।

रस के अतिरिक्त अन्य विचारको मे से किसी ने रीति, किसी ने अलकार किसी ने गुण वक्रोक्ति आदि को काव्यात्मा के रूप मे स्वीकार किया है । किन्तु भारतीय सहित्याचार्य अपनी इन विभिन्न मान्यताओ मे भी काव्य के हेतु मे सदा एक मत दिखलाई पडते है । इन सब ने किसी न किसी रूप मे काव्य के द्वारा प्रस्तुत आनन्द को स्वीकार किया है, और यह 'आनन्द' और कुछ नही 'रस' ही है ।

(२) **काव्य सबधी पाश्चात्य मत** – भारतीयो के समान पाश्चात्य मनीषियो ने भी काव्य-सम्बन्धी स्थापनाये की है । इन आचार्यो तथा भारतीय साहित्याचार्यो की स्थापनाओ मे अधिकाश रूप मे विलक्षण साम्य प्राप्त होता है ।

मैथ्यू आरनोल्ड कविता को मूल मे जीवन की आलोचना कहते है –

"आधार रूप से कविता जीवन की आलोचना है । "

कवि वर्ड्सवर्थ कविता को शाँति के समय स्मरण की हुई उत्कृष्ट भावनाओ का सहजोद्रेक कहते है --

"कविता स्वत स्फूर्त सशक्त भावो का उद्रेक है, और इसका स्रोत शाति के क्षणो मे पुन स्मृत मनोवेगो मे है" ।

अँग्रेज कवि ले हण्ट (Leigh Hunt) के अनुसार -

"कविता सत्य, सौन्दर्य तथा शक्ति के लिए होने वाली वृत्ति का मुखरण है । यह अपने आप को प्रत्यय, कल्पना तथा भावना के आधार पर खडा करती है और निर्दिष्ट करती है । यह भाषा को विविधता तथा एकता के सिद्धान्त पर स्वर-लय सम्पन्न करती है" ।

प्रसिद्ध अग्रेज कवि कालरिज कविता को 'उत्तमोत्तम शब्दों' का उत्तमोत्तम क्रम-विधान मानता है —

कविता उत्तमोत्तम शब्दो का उत्तमोत्तम विधान है ।

मिल्टन कविता को 'सरल अनुभूत' और रागात्मक मानते हैं —

---

१. चिन्तामणि ।

"कविता सरल, ऐन्द्रिक और रागात्मक होनी चाहिए ।"

डा० जानसन के अनुसार कविता छन्दोमय रचना है —

कविता छन्दोबद्ध रचना है ।

प्रसिद्ध कवि शैले ने कविता को स्फीत तथा सर्वोत्तम आत्माओ के परिपूर्ण क्षणो का लेखा माना है । प्रसिद्ध फ्रासीसी विचारक रोम्याँरोल्याँ भी भारतीय आचार्यों की भाँति काव्य मे रस (Pleasure) को स्वीकार करता है । उसके अनुसार—

> "ये क्षण विरले होते है, किन्तु है अमर, बुदबुदो सा अस्तित्व लेकर ये अपने को तथा अपने सम्पर्क वाले व्यक्ति को अमर बनाने के लिये उदित होते है । व्यस्त एव व्यथित हृदय पर मधुकण से गिर कर उसे मधुर बनाते है तथा शाति प्रदान करते हे और अचानक हम मानवता की सकीर्ण भूमि से उठकर महा-मानवता की वसुन्धरा पर प्रस्थित हो जाते है " ।

मिल कविता के लिये छन्द और लय को अनिवार्य समझते है । उनके अनुसार बिना छन्दावरण के लय असभव हे और बिना लय के 'रसात्मकता' की कल्पना ही नही की जा सकती, और उनके अनुसार नीरस गद्य कविता के अन्तर्गत नही लिया जा सकता । वे कहते है—

> "मनुष्य मे मनुष्यत्व के बोध के साथ ही अपनी कोमल कल्पनाओ को छन्दोमयी भाषा मे अभिव्यक्त करने की प्रवृत्ति प्राप्त है । ये अनुभूतियाँ जितनी गभीर होगी, छन्द-रचना भी उतनी ही परिपूर्ण होगी[1]"।

जेम्स मान्टगोमरी ने भी कविता मे लय और छन्द की अनिवार्यता स्वीकार करते हुए कहा है –

> "सभाव्य न्यूनतम परिवर्तन द्वारा मिल्टन और, शेक्सपियर के अत्युत्तम अंशो के गद्यरूप देने से ज्ञात हो जायगा कि कविता की शक्ति केवल लय अर्थात छन्द के स्वरूप पर कितनी आश्रित रहती है ? यह प्रमाण दूर्बादलो पर आभूषण और मोतियो के समान प्रतीत होने वाले ओस विन्दुओ को ग्रहण करने के सदृश होगा, जिनकी केवल तरलता ही हस्तगत होती है, प्रभा और स्वरूप समाप्त हो जाता है ।"[2]

---

1. Ever since man has been, all deep and sustained feeling has tended to express itself in rhythmical language, and the deeper the feeling the more characterastic and decided the rhythem

2. How much the power of poetry depends upon the nice inflictions of rhythm above may be proved by taking the fine-

जेम्स मान्टगोमरी के अतिरिक्त अग्रेजी के प्रख्यात आलोचक आई ए. रिचर्ड्स ने भी कविता मे छन्द तथा लय को स्वीकार करते हुये कहा है—

> "काव्य मे लय केवल शब्द तक सीमित नही है। पढने वाले पर उसका प्रभाव अर्थ के साथ सयुक्त होकर पडता है। अतएव बिना अर्थ का विचार किये अच्छी लय का अन्तर कविता मे नही किया जा सकता"।[1]

कला और काव्य-सबधी उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि दोनो का उद्देश्य सौन्दर्य तथा आनन्द की सृष्टि करना है। यह सौन्दर्य तथा आनन्द जीवन की असबद्धता तथा अस्तव्यस्तता मे नही, वरन् सबद्धता तथा क्रम-बद्धता पर अवलबित है। जिस प्रकार सगीतज्ञ स्वरो के आनुपातिक योग से लय के द्वारा सगीत (राग) को मूर्त करके आनन्द की सृष्टि करता है, जिस प्रकार चित्रकार विभिन्न रगो के सम्मिलन द्वारा अपनी तूलिका के हल्के-गहरे स्पर्शो के माध्यम से नयनाभिराम चित्र का अकन करता है, जिस प्रकार स्थापत्य-कलाविद् अपनी छेनी-हथौडी के हल्के-तीव्र आघातो से भव्य मूर्तियो को गढ कर दर्शक के मन मे उल्लास की सृष्टि करता है, उसी प्रकार कवि भी अपनी कविता-कामिनी को भाषा, छन्द, लय और अलकारो से अलकृत करके रस की सृष्टि करता है और रस तो 'ब्रह्मानन्द सहोदर' है ही।

अरविन्द के अनुसार काव्य की परिभाषा

श्री अरविन्द इस युग के अपूर्व मेधासम्पन्न व्यक्ति हुए है। उनकी प्रतिभा का चमत्कार बहुमुखी रहा है। विशेष रूप से उनकी ख्याति यौगिक क्रियाओ के करने के कारण एक योगी के ही रूप मे ही प्रतिष्ठित रही है। वास्तव मे वे परम योगी थे, इसमे कोई सन्देह नही, किन्तु योगी होने के अतिरिक्त वे परम देश-भक्त तथा राजनीति-विशारद, उत्कृष्ट विचारक और इन सबके अतिरिक्त कविता के आलोचक ही नही,

st passage of Milton and Shakespeare, and merely putting them into prose, with the least possible variation of the words themselves, the attempt would be like gathering up dew-drops, which appear jewels and pearls of the grass, but run into water in the hand, the essence, and elements remain, but the grace, the sparkle and the form gone.

—Lectures on poetry by James-Montgomry

1 The difference between good rhythem and bad is not simply a difference between certain sequence of sounds, it goes deeper and to understand it we have to take in note of the meanings of the words as well.

—Practical Criticism,

एक महाकवि भी रहे है। उनका 'सावित्री' नामक महाकाव्य उनकी महान् प्रतिभा की अत्यन्त महनीय प्रसूति है। अतएव एक कवि और साहित्य-समीक्षक होने के कारण यह सर्वथा स्वाभाविक था कि श्री अरविन्द काव्य के विषय मे अपना मत प्रकट करे। उनके काव्य-सम्बन्धी विचार उनके उन पत्रो मे, जो उन्होने समय-समय पर अपने जिज्ञासु-प्रेमियो के एतद्विषयक प्रश्नों के उत्तर मे लिखे थे, सगृहीत हे तथा उन्होने अपने ग्रन्थ 'द फ्यूचर पोईट्री' मे इस विषय पर विशद रूप से प्रकाश डाला है।

श्री अरविन्द के अनुसार "कविता जीवन का लय-बद्ध स्वर हे, किन्तु यह स्वर ऊपरी स्तर का नही, वरन् आभ्यतर है[1]"। श्री अरविन्द की कविता की इस परिभाषा से दो निष्कर्ष निकलते हैं —

(१) कविता का जीवन से गम्भीर सबध हे।

(२) काव्य की सृष्टि मन के ऊपरी तल से नही, वरन् अन्तस्तल से होती है, आत्मा से होती हे।

नीचे कुछ लब्ध-प्रतिष्ठ विचारको तथा कवियो की काव्य-सम्बन्धी परिभाषाओ से श्री अरविन्द की काव्य-परिभाषा का साम्य-वैषम्य उपस्थित करने की चेष्टा की जा रही है। परिभाषाओ के इस विवेचन से श्री अरविन्द की काव्य-सबन्धी मान्यता पर विशेष रूप मे प्रकाश पडेगा। इस तुलना के अन्तर्गत जिन व्यक्तियो की काव्य सम्बन्धी परिभाषाओ को स्थान दिया जा रहा है, वे है—

अरस्तू, अभिनवगुप्त, वर्ड्सवर्थ और कवीन्द्र रवीन्द्र।

(१) अरस्तू:— अरस्तू ने काव्य की परिभाषा नपे-तुले शब्दो मे नही की, वरन् अपनी काव्य-सम्बन्धी विवेचना के द्वारा ही काव्य के स्वरूप को स्थिर करने की चेष्टा की है। वे काव्य को कला के अन्तर्गत ग्रहण करते हैं। उनका कहना है कि—

> "चित्रकार अथवा किसी भी अन्य कलाकार की ही तरह कवि अनुकर्ता है[2]"।

उनके काव्य-सम्बन्धी निष्कर्षों की तालिका उपस्थित करते हुए डा. नगेन्द्र कहते है .—

(१) "काव्य एक कला है,"

(२) "एक ओर सगीत, चित्र आदि [ललित] कलाए और दूसरी ओर महाकाव्य त्रासदी आदि काव्य-कला के विभिन्न रूप अनुकरण के ही प्रकार है, अर्थात् समस्त कलाओं का मूल तत्व एक ही है—अनुकरण।

---

1. The Future poetry P. 316

२. अरस्तू का काव्य-शास्त्र, पृ० ६६

(३) इस प्रकार कला जाति है और काव्य प्रजाति, जिसके महाकाव्य, त्रासदी आदि व्यष्टि भेद है ।

(४) इन भेद-प्रभेदो के आधार तीन है—
विषय, माध्यम और रीति[1] ।"

काव्य की आत्मा अरस्तू अनुकरण मे स्वीकार करते है । अरस्तू के इस अनुकृति शब्द को लेकर विद्वानो मे बडा मतभेद रहा है । कला अथवा काव्य-सबधी उनकी मान्यता मे इस शब्द का अतिशय स बध है । 'अनुकरण' यूनानी शब्द 'मीमेसिस' के पर्यायवाची शब्द के रूप मे प्रयुक्त किया गया है । हिन्दी मे इस शब्द का रूपान्तर अग्रेजी के 'इमीटेशन' से किया गया है । इस शब्द का प्रयोग प्लेटो तथा अन्य यूनानी आचार्यो के द्वारा भी किया गया है, किन्तु इन आचार्यो ने 'अनुकृति' का अर्थ बहुत ही छिछले ढग से किया है । उसके अनुसार अनुकृति 'नकल या यथा-वत् प्रकृति[2]' है । 'अनुकरण' सबधी यह मान्यता अत्यन्त स्थूल है । निश्चय ही कलाकार, कवि या अभिनेता वस्तु का अनुकरण करता है । किन्तु अनुकरण के अर्थ की व्याप्ति मात्र नकल अथवा 'मक्षिका स्थाने मक्षिका' से अधिक होती है । उसमे कलाकार, कवि अथवा अभिनेता की स्वानुभूति भी सम्मिलित होती है । उसके व्यक्ति की मौलिकता भी रहती है । प्लेटो तथा अन्य यूनानी आचार्यो की दृष्टि इस ओर नही गई थी इस लिये उन्हो ने काव्य को अनुकरण मान कर त्याज्य ठहराया है । किन्तु, अरस्तू ने इसके मूल को पकडा था । इसलिए उसके लिए काव्य केवल 'नकल' नही रहा, वरन् उसे अनुकरण के अन्तर्गत कुछ गम्भीर वस्तु दृष्टिगोचर हुई और उसने इसमे 'नया अर्थ भर दिया"[3] । अरस्तू के इस शब्द की अनेक विचारको ने व्याख्याये की है ।

डा० नगेन्द्र के अनुसार अरस्तू के 'अनुकरण'–सम्बन्धी उन विवेचनो का निष्कर्ष इस प्रकार है :—

(१) [काव्यात्मक] अनुकरण के विषय •प्रकृति अथवा जीवन का बहिरग अर्थात् नाम-आकार-धारी जड–जगम रूप ही नही है, वरन् उसका अतरग अथवा अनुभूति, विचार, कल्पना आदि भी है ।

(२) इन दोनो मे भी अतरग का ही प्रधान्य है, क्योकि बहिरग अर्थात् वस्तु के भी तो यथार्थ रूप का अनुकरण किया जाता है और वही सभव है । वस्तु कैसी है, यह कहना कठिन है । इन्द्रियो के माध्यम से हमारे मन पर उसका कैसा प्रभाव-प्रतिबिब पडा, यही कहा जा

---

१ अरस्तू का काव्य—शास्त्र, डा० नगेन्द्र, पृ० ५

२. वही ।

३. वही ।

सकता है, क्योंकि हमारा प्रत्यक्ष ज्ञान यही तक सीमित है। इसके अतिरिक्त अरस्तू का यह भी स्पष्ट मत है कि वस्तु कैसी हो सकती है या होनी चाहिए। अर्थात् वस्तु प्रत्यक्ष रूप की अपेक्षा उसका कल्पनात्मक तथा भावात्मक, विचारात्मक रूप ही अधिक ग्राह्य है।

[३] इस प्रकार कला या काव्य मे वस्तु के प्राय तीन रूपो का अनुकरण किया जाता है —

१. प्रतीयमान रूप का (जैसा कि अनुकर्ता को प्रतीत होता है),

२. सम्भाव्य रूप का (जैसा वह हो सकता है) और

३. आदर्श रूप का (जैसा वह होना चाहिए)।

इनमे से तीनो रूपो के अनुकरण मे निश्चय ही अनुकर्ता की भावना और कल्पना का योगदान रहता है।

१ प्रतीयमान रूप के अनुकरण का अर्थ है वस्तु के मानस-प्रतिबिब को शब्द आदि के माध्यम मे व्यक्त करना। इस प्रक्रिया मे मानस-प्रतिबिम्ब मे भावतत्व और शब्द द्वारा प्रस्तुति मे कल्पना की अवस्थिति अनिवार्य है।

२. सभाव्य रूप का चित्रण तो निश्चय ही कल्पनापेक्षी है · और उधर· ·

३. आदर्श (प्रेय-श्रेय) रूप अनुकर्ता की इच्छा और विचार से पोषित कल्पना की सृष्टि होती है। अतएव अनुकरण का अर्थ यथार्थ प्रयकन किसी भी रूप में नही है, वह भावात्मक एव कल्पनात्मक पुन· सृजन का ही पर्याय है। इसमे सन्देह नही।

४. अनुकरण मे आनन्द का तत्व अनिवार्यतः निहित होने का अर्थ भी यही है कि उसमे आत्म-तत्व का प्रकाशन निहित रहता है; क्योकि आनन्द की उपलब्धि आत्मतत्व के प्रकाशन के बिना सम्भव नही है। किन्तु, भावतत्व और उसमे सन्निहित आत्मतत्व का निश्चित सदभाव होने पर भी अनुकरण विशुद्ध आत्माभिव्यंजन का पर्याय नही है, क्यों कि उसमे वस्तु तत्व का प्राधान्य अनिवार्य है। अनुकरण में वस्तु केवल उद्दीपक निमित्त मात्र न होकर साधार रूप से विद्यमान रहती है[1] "।

उपर्युक्त उद्धरण द्वारा हम जिस निष्कर्ष पर पहुचते है उससे अरस्तू की काव्य संबधी परिभाषा इस प्रकार बनाई जा सकती है :—

"काव्य, भाषा के माध्यम से प्रकृति का अनुकरण है"।

डा० नरेन्द्र ने इस परिभाषा को आधुनिक शताब्दी मे इस प्रकार बाँधा है — "काव्य भाषा के माध्यम से अनुभूति और कल्पना द्वारा जीवन का पुनः सृजन है[१]"।

---

१. अरस्तू का काव्य-शास्त्र, डा० नगेन्द्र, पृ. ९-१०

(२) अभिनवगुप्त '—अभिनवगुप्त भारतीय वाड्मय के अद्वितीय मेधा-सम्पन्न महापुरुष हुए है। ये दर्शन-शास्त्र, योग तथा तन्त्रशास्त्र के अद्भुत विद्वान थे। इन्हो ने सहित्य शास्त्र पर भी अपनी मनीषा का चमत्कार प्रदर्शित किया है। श्री आनन्दवर्धनाचार्य के ध्वन्यालोक की 'लोचन' नामक टीका के अन्तर्गत साहित्य अथवा काव्य-सम्बन्धी जो विचार प्रकट किए है, उनकी मौलिकता और अमूल्यता अविवादास्पद है। उन्होने अपने 'ध्वन्यालोक लोचन' मे काव्य की परिभाषा 'कवनीयम् काव्य' लिख कर की है। अर्थात् जो 'कविनीय है' वह काव्य है। विद्याधर ने अपनी एकावली टीका मे इसका विग्रह 'कवयतीति कवि तस्य कर्म 'काव्य' करके की है। काव्य सम्बधी अभिनवगुप्त के मतानुसार कवि का कर्म ही कविता है। कवि और काव्य की परिभाषा अभिनवगुप्त के ग्रन्थो मे सस्कृत के अन्य काव्य-शास्त्रियो के भाँति शब्द-बद्ध नही प्राप्त होती। सभवत: उनके समय तक कवि और काव्य की परिभाषा इतनी स्पष्ट और रुढ हो गई थी, कि उन्होने नए सिरे से परिभाषा पढने की आवश्यकता नही समझी।

अभिनव गुप्त के पूर्व शुक्ल यजुर्वेद कवि को परमेश्वर ही मानता है[1]। अमर-कोष मे कवि की व्युत्पत्ति, सर्वज्ञ के रुप मे को गई है[2]। श्रीमद्भागवत का कवि ब्रह्मा अथवा सृष्टा ही है।[3] साधारणतया प्रतिभा-सम्पन्न रचयिताके रूप मे कवि का अर्थ लिया जाता है। आचार्य मम्मट ने कवि को प्रतिभासम्पन्न कहा है और उसके कर्म को काव्य [4]।

कवि सम्बन्धी उपर्युक्त मतो के उद्धरणो से निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते है —

(१) कवि, ईश्वर अथवा स्रष्टा का समानधर्मी है,

(२) कवि, विशेष प्रतिभा-सम्पन्न प्राणी है, जो साधारण से विशिष्ट शब्दो के माध्यम से अनुप्राणित करने वाली रचनाएँ करता है।

अर्थात् कवि अपनी अलौकिक रचनाओ के द्वारा इस जगत् से भिन्न अद्भुत ससार की सृष्टि करता है। उसकी रचनाएँ इस लौकिक स्तर से उठा कर पारलौकिक स्तर पर प्रतिष्ठित करती है।

काव्य के इस स्वरूप की प्रतिष्ठा भिन्न-भिन्न समयो मे भिन्न-भिन्न प्रकार से की गई है। वैदिक ऋषि ने अबाध वेगवती अभिव्यजना के रूप मे काव्य के दर्शन

---

१. 'कवि मनीषी परभू स्वयम्भू' (शुक्र . यजु० ४०/८)

२. 'कवयति सर्व, जानाति सर्वं, वर्णनतीति कवि.।'

३. 'तेने ब्रह्महृदाय आदि कवये' (श्रीमद्भागवत १/१/१)

४. 'प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता,
तदनुप्राणना तेद् वर्णनानिपुण कविः /।
तस्य कर्मस्मृत काव्यम्'।

प्राप्त किये है ।[1] भगवान् कृष्ण ने गीता मे काव्य की परिभाषा उस वाक्य मे देखी है जो किसी के लिए उद्वेगकर न हो, प्रिय तथा हितकारी हो ।[2] दूसरे शब्दो मे हम उससे 'सत्य, शिव, सुन्दरम्' कह सकते हे। आचार्य भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र मे काव्य को 'कोमल और ललित पदो से युक्त, गूढ शब्द और अर्थ से विरहित, सर्व-ग्राह्य, सब को सुख देने वाला, नृत्य मे प्रयुक्त किये जाने योग्य, रस की विविध धारा मे प्रवाहित करने वाला, सन्धियो के सन्धान से युक्त, सर्वश्रेष्ठ काव्य की सज्ञा दी है ।[3]' अग्निपुराण के अनुसार काव्य इतिहास और शास्त्रादि से भिन्न अपनी पृथक् सत्ता रखता है । उसके अनुसार सक्षिप्त वाक्यो द्वारा अभीष्ट अर्थ को व्यजित करने वाला, अविच्छिन्न पदावली से सम्पन्न अलकार और गुणो से युक्त दोष-रहित रचना काव्य है —

"सक्षेपाद वाक्यमिष्टार्थ व्यवीच्छन्ना पदावली
काव्य स्फुटदलकार गुण व दोष वर्जितम् ।"

इस प्रकार सभी साहित्याचार्यो के कवि-कर्म-सम्बन्धी-मत अथवा परिभाषाएँ एक-दूसरे से पृथक् हे । अभिनवगुप्त ने प्राय आनन्दवर्धनाचार्य का ही इस विषय मे अनुवर्तन किया है । अस्तु, आनन्दवर्धन की काव्य-सम्बन्धी परिभाषा दी जाती है । आनन्द-वर्धन ने काव्यात्मा ध्वनि को माना है.—

"काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्य. समाम्नातपूर्वस्तस्याभाव
जगदुरपरेभाक्त साहुस्तमन्ये ।
केचिद् वाचा स्थित विषये तत्वमूचुस्तदीय
तेन ब्रूय: सहृदयमन
प्रीतये तत्स्वरूपम ॥ १ ॥"

उनके अनुसार:—

"जिस प्रकार ऊषा मे ज्योति छिपी है, चन्द्रमा मे चाँदनी बसती है, बादल मे बिजली की कौंध छिपी है, रमणी के शरीर मे लावण्य अवगुण्ठित रहता है, कली के प्रस्फुटन मे उसकी शोभा अन्तर्निहित है, उसी प्रकार कविता मे ध्वनि बसती है"—

---

१. मै अपने कवित्व को बादलो मे से फूटकर बाहर आने वाली पावस की धारा समझता हूँ । (ऋग्वेद, ७/९/१)

२. अनुद्वेग कर वाक्य सत्य प्रिय हित च यत ।
स्वाध्यायाभ्यसन चैव वाड्मय तप उच्यते ॥ (गीता, १७-१५)

३. काव्यस्यात्माध्वनि रिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वस्तस्याभाव जगदुर परे
भाक्त माहुस्तमन्ये ।
केचिद् वाचो स्थित विषये यत्व मूचुस्तदीय तेन ब्रू. सहृदयेमन:
प्रीतये तत्स्वरूपम् ॥ १ ॥

"प्रतीयमान पुनरन्यदेव वस्त्वीस्ते
वाणीषु महाकवीनाम् ।
यतत्प्रसिद्धावयवातिरिक्त विभाति
लावण्यभिवाङ्गनाषु ।।"

(ध्वन्यालोक) आनन्दवर्धन ।

आनन्दवर्धन ने इस प्रकार ध्ववि को काव्यात्मा मानकर उसे अलकार, गुण, रीति आदि वाह्यावरण से पृथक् माना है। स्पष्ट ही उनकी दृष्टिकाव्य के वाह्यागो पर विशेष प्रकर्ष न देती हुई काव्य के अन्तरग की ओर अधिक बल देती है। अभिनवगुप्त को भी आनन्दवर्धन का यह काव्य-सम्बन्धी मत सर्वथा ग्राह्य रहा है। ध्वन्यालोक की अपनी 'लोचन' टीका मे अभिधा, लक्षणा तथा व्यजना शक्तियो की व्याख्या द्वारा उन्होने ध्वनि की ही अनेक प्रकार से प्रतिष्ठा की है। काव्य-शास्त्र मे अभिनवगुप्त का सिद्धान्त अभिव्यक्तिवाद के नाम से प्रसिद्ध है। भरतमुनि के 'सयोग' और 'निष्पत्ति' शब्दो की व्याख्या करते हुए उन्होने कहा कि 'सयोग' का अर्थ है ध्वनि तथा व्यजित होना और निष्पत्ति का अर्थ हुआ आनन्दरूप मे प्रकाशित होना। इस विवेचन से यह निष्कर्ष निकलते है —

१—अभिनवगुप्त काव्यात्मा ध्वनि को मानते है, जिससे यह सिद्ध होता है कि काव्य के वाह्याग की अपेक्षा उनका प्रकर्ष अन्तरंग की ओर अधिक है,

२—उन्होने काव्य मे रस की सत्ता स्वीकार करते हुए, उसकी अवस्थिति ध्वनि के अन्तर्गत ही स्वीकार की है।

इस प्रकार अभिनवगुप्त के काव्य-सम्बन्धी मत के अनुसार काव्य की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है -—

"काव्य वह सरस पदावलीपूर्ण रचना है, जिसकी आत्मा ध्वनि है।"

(३) रवीन्द्रनाथ ठाकुर:—कवीन्द्र-रवीन्द्र विश्व-विख्यात कवि थे। उनके सरस काव्य के द्वारा काव्य-जगत् अर्द्धशताब्दी से भी अधिक आप्लावित रहा है। उनका व्यक्तित्व काव्य की दृष्टि से अत्यन्त महान् था। उनके काव्य की पृष्ठभूमि मे उपनिषद्-दर्शन तथा सन्त-दर्शन का बडा प्रभाव परिलक्षित होता है। सन्तो मे वे कबीरदास की स्थापनाओ से विशेष प्रभावित थे। अस्तु, उनकी काव्य-सम्बन्धी मान्यता चिन्तन तथा भावुकता से समन्वित रही है। उनके विश्व-विख्यात काव्य-ग्रन्थ 'गीताजलि' मे उनकी इस मान्यता का पूर्ण प्रस्फुटन प्राप्त होता है। 'गीताजलि' तो उनकी प्रौढ कृति है, जिसमे उनकी भाव-सम्पत्ति का उनके तर्क तान से गठ-बन्धन प्राप्त होता है, किन्तु उनकी प्रारम्भिक रचनाएँ विशेषरूप से भाव-भित्ति पर निर्मित

हुई है। अत. 'गीतजलि' ही उनकी ऐसी रचना है, जिसमें उनकी काव्य सम्बन्धी मान्यता का सन्तुलित दृष्टिकोण प्राप्त होता है। उन्होने साहित्य के विषय मे जो विचार प्रकट किए है, उनमे उनकी काव्य-सम्बन्धी-मान्यता भी स्पष्ट हो जाती है। उनका मत है—

> "सहित शब्द मे साहित्य की उत्पत्ति हुई है, अतएव धातुगत अर्थ करने पर साहित्य शब्द मे मिलन का एक भाव दृष्टिगोचर होता है। वह केवल भाव का भाव के साथ, भाषा का भाषा के साथ, ग्रथ का ग्रथ के साथ मिलन है, यही नहीं वरन् यह बतलाता है कि मनुष्य का मनुष्य के साथ, मनुष्य का अतीत के साथ वर्तमान का दूर के साथ निकट का मिलन कैसा होता है।"
>
> —साहित्य, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, पृ० ८।

कवीन्द्र की उपर्युक्त साहित्य-सम्बन्धी परिभाषा से यह सिद्ध होता है कि वे साहित्य के माध्यम से विरोधी-अविरोधी वस्तुओ में मजुल समन्वय के समर्थक थे। उनकी काव्य-सम्बन्धी स्थापनाओं मे भी उनके इस दृष्टिकोण के दर्शन होते हैं। अतएव उनकी साहित्य की परिभाषा अक्षरश: काव्य की परिभाषा भी हो सकती है।

(४) वर्ड्सवर्थ—वर्ड्सवर्थ की काव्य-सम्बन्धी मान्यता की ऊपर चर्चा की जा चुकी है। कवि वर्ड्सवर्थ ने 'कविता को उत्कट भावनाओं का सहजोद्रेक माना है जिसकी सृष्टि शान्ति मे सञ्चित अनुभूतियों द्वारा होती है।' वर्ड्सवर्थ की काव्य की इस परिभाषा के द्वारा काव्य मे हृदयपक्ष अथवा भावुकता की स्वीकृति स्पष्ट है। इससे जहाँ काव्य मे आस्था और विश्वास को प्रमुख गुण के रूप मे स्वीकार किया गया है, वही शान्ति मे सञ्चित अनुभूतियो द्वारा यह भी स्वीकार किया गया है कि यह उत्कट भावनाओ का सहजोद्रेक बाह्य तथा छिछला नही, आन्तरिक और गम्भीर है और अपनी काव्य सम्बन्धी परिभाषा द्वारा उसने काव्य को दर्शन के साथ समन्वित करके अन्तर्मुखी बना दिया है। इससे उसकी काव्य-परिभाषा का मुख्य स्वर रहस्योन्मुख (Mystical) हो गया है।

श्री अरविन्द की परिभाषा से तुलना

अरस्तू और अरविन्द—अरस्तू के अनुसार 'काव्य भाषा के माध्यम से प्रकृति का अनुकरण है।' अरस्तू के अनुकरण' शब्द की अर्थ-व्याप्ति का विस्तार से उल्लेख ऊपर हो चुका है। अरस्तू के अनुसार काव्य 'अनुकृति' है। उसका 'अनुकृति' से अभिप्राय नकल (Copy) से नही है, क्योकि यदि उसका यह तात्पर्य होता तो असंदिग्धरूप से यथातथ्य चित्रण के कारण काव्य मे मौलिकता का अभाव होता, और मौलिकता के अभाव मे उसमे सरसता आदि गुणो का एकान्त अभाव होता। वह कवि को सर्जक अथवा स्रष्टा के रूप मे स्वीकार करता है। स्रष्टा मे कल्पना

होती है। यही कल्पना मौलिकता की जननी है। इसी कृति मे सरसता आती है, जिसके कारण उसे रमणीयता प्राप्त होती है, जो काव्य के अनिवार्य गुण के रूप मे प्राच्य और पाश्चात्य साहित्याचार्यो द्वारा स्वीकृत है। अरस्तू के अनुसार अभिनेता द्वारा अभिनय, चित्रकार द्वारा चित्र की प्रस्तुति, सगीतज्ञ द्वारा राग को मूर्त करना, कोरा अनुकरण नही है, वरन् उसमे अभिनेता-चित्रकार आदि की कल्पना-अनुभूति का विशेष सयोग होता है। इसी कारण चित्रकार के चित्र मे वास्तविक वस्तु से अधिक सौन्दर्य और मनोरमता प्राप्त होती है। गायक के गान मे मात्र स्वर, आलाप और तान आदि के अतिरिक्त कुछ और भी रहता है, जो श्रोता को अपनी ओर आकृष्ट करने मे विशेष सक्षम होता है। इसी प्रकार कवि की कविता मे भी मात्र शब्द-विन्यास के माध्यम से वस्तु का चित्रण-मात्र नही रहता, नही तो उसकी कविता केवल इति-वृत्त का उपस्थित करके नीरस हो जाय। इससे यह सिद्ध होता है कि कलाकार अपनी कल्पना और अनुभूति के योग द्वारा वस्तु को अपने चित्रण द्वारा चिर नवीन बना देता है। अरस्तू कलाकार अथवा कवि की प्रतिभा को अन्तर्मुखी मानता-सा दृष्टिगोचर होता है, क्योंकि उसके अनुकरण शब्द से स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म की, देह की अपेक्षा देही के चित्रण की ओर विशेष आग्रह प्राप्त होता है। इस दृष्टि से उसके 'अनुकरण' शब्द की मान्यता दर्शन के अत्यधिक निकट हो गई है।

श्री अरविन्द के अनुसार—

> "कविता जीवन का लय-बद्ध स्वर है जो ऊपरी नही वरन् आभ्यन्तर स्तर से प्रस्फुटित होता है।"

श्री अरविन्द की परिभाषा की यदि व्याख्या की जाय तो उस व्याख्या का स्वरूप प्राय: इस प्रकार का हो सकता है—

> श्री अरविन्द कविता को जीवन से विच्छिन्न नही मानते। उनके अनुसार कविता का उत्स जीवन से फूटता है। साथ ही वे उस वाक्-प्रवाह को बेसुरा अथवा असयमित नही मानते। उनके अनुसार काव्य मे सगीत के समान लयबद्धता होनी चाहिये।

इससे यह सिद्ध होता है कि वे काव्य के द्वारा जीवन को सयमित करने के समर्थक है। साथ ही वे काव्य को केवल मनोरजन की सामग्री मानने के लिए भी तैयार नही प्रतीत होते, क्योकि वे उस स्वर को ऊपरी स्तर का न मानकर आभ्यन्तर की प्रसूति मानते है।

इससे यह सिद्ध होता है कि श्री अरविन्द की काव्य सम्बन्धी मान्यता कला और दर्शन की, भौतिकता और आध्यात्मिकता की मजुल समन्वय है। वे काव्य को जीवन के आवेष्टन मे देखते है और उनका वह आवेष्टन अपरिसीम आनन्द से आपूर्यमाण है। सगीत की सी लय-बद्धता की परिकल्पना से उनकी आनन्द सम्बन्धी

मान्यता का स्वर ध्वनित होता है। निस्सन्देह उनका यह आनन्दोच्छ्वास पूर्णतया उन्मुक्त होते हुए भी मर्यादित है। साथ ही कविता उनके लिए एक गम्भीर आभ्यन्तर अभिव्यक्ति है, वे किसी भी रूप मे उसे केवल मनोरजन की वस्तु मानने के लिए तैयार नही।

अस्तु, अरस्तू और अरविन्द की काव्य-सम्बन्धी-मान्यता के साम्य-वैषम्य का निष्कर्ष इस प्रकार उपस्थित किया जा सकता है—

वैषम्य—अरस्तू काव्य को 'अनुकरण' मानते है, यद्यपि उनके 'अनुकरण' का अर्थ मात्र प्रतिलिपि (नकल) करना नही है। उनके इस अनुकरण का क्षेत्र अत्यधिक व्यापक है। श्री अरविन्द कविता को अन्त स्फुटित मानते है और उसका जीव से शाश्वत सम्बन्ध स्वीकार करते है। अर्थात् उनके काव्य के लिए जीवन मे स्फूर्ति परमावश्यक है। अरस्तू का 'काव्य केवल काव्य के लिए' भी हो सकता है, उसके लिए जीवन का सर्वथा सम्पर्क परमावश्यक नही।

साम्य—अनुभूति और कल्पना को दोनो ही काव्य का अभिन्न अग मानते है। कविता मे कवि के व्यक्तित्व की महत्ता के दोनो ही समर्थक है। दोनो ही काव्य को मात्र मनोरजन की वस्तु न मानकर गम्भीर रूप मे स्वीकार करते है।

अभिनव गुप्त पादाचार्य और श्री अरविन्द

अभिनव गुप्त के अनुसार काव्य की आत्मा ध्वनि है। इस ध्वनि सम्बन्धी मान्यता के मूल मे 'व्याकरण का स्फोटवाद' प्रतीत होता है। डॉ० भगीरथ मिश्र का इस विषय मे स्पष्ट मत है—

> "ध्वनि की प्रेरणा वैय्याकरणो के स्फोटवाद से मिली। पूर्ववर्ती वर्णो के उच्चारण के सस्कार के साथ अन्तिम वर्ण के उच्चारण के अनुभव से अर्थ की अभिव्यक्ति 'स्फोट' है।"[1]

इसलिए मार्मिक अर्थ की अभिव्यक्ति केवल अभिधा और लक्षणा से प्राप्त नही होती, बल्कि वह अर्थ तो व्यंजित होता है, ध्वनित होता है। उस व्यजना की व्याख्या ध्वनि के आचायो ने अनेक स्तम्भों मे की है, क्योकि विभिन्न सस्कारों मे प्रभावित शब्द के अर्थ की अनेक व्यजनाएँ हो सकती है। अभिनवगुप्त की यह ध्वनि सम्बन्धी-मान्यता दार्शनिको की 'परा' वाणी से भी सम्बन्धित प्रतीत होती है। परा वाणी आत्मा का सर्वाधिक सूक्ष्म स्वर है, पश्यन्ती, मध्यमा और बैखरी क्रमश उसके स्थूल, स्थूलतर और स्थूलतम रूप है। अस्तु, जिस अर्थ मे मन्त्रद्रष्टा ऋषियों को वेद ने

१ काव्य शास्त्र, डॉ० भगीरथ मिश्र, पृष्ठ २२५

'कवि' कहा है वह आत्मा के स्वर 'परा' की अभिव्यक्ति देने के कारण ही प्रतीत होता है। मन्त्रद्रष्टा 'कवि' ईश्वर के समान ही है—

"कविर्मनीषी परिभू स्वयभू।"

अभिनवगुप्त परमार्थ विद्या के पारगत विद्वान थे, इसलिए उनकी ध्वनि सम्बन्धी मान्यता की व्याप्ति वाणी के चारो प्रकारो की भाँति लोक-परलोक को अपने वृत्त के अन्तर्गत समेटे हुए प्रतीत होती है।

अभिनवगुप्त ने अरविन्द की भाँति कविता की परिभाषा तो इस प्रकार उपस्थित नही की जिसमे जीवन के साथ काव्य का सम्बन्ध किसी प्रकार सयुक्त हो और न कही इस बात का ही उल्लेख प्राप्त होता है कि वे काव्य के उपयोगितावादी दृष्टिकोण से किसी प्रकार प्रभावित थे। किन्तु, उनकी दार्शनिक विचार-सरणि (प्रत्यभिज्ञा दर्शन) की स्थापनाओ से यह सिद्ध होता है कि वे जगत् को निस्सार मानते हुए भी उसके महत्व को स्वीकार करते थे। काश्मीरी शैव दर्शन के 'समरसता' सिद्धान्त से इस मान्यता की पुष्टि होती है। समरसता प्राप्त साधक की स्थिति परम आनन्दमयी हो जाती है—

"जाते समरसानन्दे द्वैतमप्यमृतोपमम्
मित्रयोरिव दाम्पत्य जीवात्मपरमात्मनो.।"
(बोधसार, पृष्ठ १०७)

आर्थात् जिस प्रकार परस्पर अत्यन्त प्रेम वाले दम्पतियो का द्वैत दोनो के समरस हो जाने से आनन्दप्रद होता है, उसी प्रकार जीवात्मा-परमात्मा के समरस हो जाने पर जो आनन्द निर्वाधरूप से उत्पन्न होता है, उसमे यह कल्पित द्वैत भी ब्रह्मानन्द के तुल्य हो जाता है।

इस अवतरण से जीवात्मा से लोक और परमात्मा से परलोक अथवा भौतिक तथा आध्यात्मिक जीवन की भी ध्वनि निकलती है। लोक-परलोक अथवा भौतिकता और अध्यात्म, अस्ति और नास्ति की मान्यता के विपर्यय के कारण ही परमानन्द की प्राप्ति नही होती। इस द्वैत-भावना के सर्वथा निरसन से भी आनन्द की प्राप्ति सन्दिग्ध ही है। अस्तु, अभिनवगुप्त आदि शैव दार्शनिको ने इन द्वैत-युग्मो की समन्वयात्मक दृष्टि मे ही आनन्द की पूर्ण उपलब्धि मानी है। अभिनवगुप्त की यह दार्शनिक मान्यता उनके काव्य-सम्बन्धी 'ध्वनि-सिद्धान्त' मे भी व्याप्त प्रतीत होती है, क्योकि व्यजना के अनेक प्रकारो मे उन्होने मार्मिक अर्थ की अभिव्यजना द्वारा आनन्द अथवा रस की अवस्थिति तो काव्य मे स्वीकार ही की है और ध्वनि की यह व्याप्ति लोक-परलोक के युग्म को अपने वृत्त मे समेटे हुए है।

अस्तु, यह निष्कर्ष निकला कि —

"[१] यद्यपि अभिनवगुप्त ने काव्य-जीवन अथवा लोक-परलोक की

चर्चा नही की, फिर भी उनकी 'ध्वनि' की व्याप्ति उन तक पहुँचती है।"

"[२] वे काव्य को आनन्दमयी सृष्टि के रूप मे स्वीकार करते है। जिसकी आत्मा ध्वनि है, जो कि वैयाकरणो के स्फोटवाद के अधिक निकट है।"

श्री अरविन्द ने भी कविता को अन्त स्फुरित जीवन का गम्भीर स्वर माना है। अरविन्द की अन्त स्फुरित जीवन-स्तर-सम्बन्धी यह मान्यता अभिनवगुप्त की काव्य-सम्बन्धी मान्यता से अत्यधिक साम्य रखती हुई सी प्रतीत होती है। जीवन का यह अभ्यतर-स्वर वैय्याकरणो के 'स्फोट' और दार्शनिको की 'परा' वाणी का ही रूपान्तर-सा प्रतीत होता है। श्री अरविन्द अपने 'लयबद्धता' के कथन द्वारा काव्य के माध्यम से जीवन मे अभिनवगुप्त के समान आनन्द के समर्थक है। अभिनवगुप्त ने श्री अरविन्द की भाँति स्पष्टरूप मे कविता को 'जीवन का स्तर' नही कहा, यही प्रमुख अन्तर उनकी काव्य-सम्बन्धी परिभाषाओ अथवा मान्यताओ मे प्रतीत होता है।

वर्ड्सवर्थ और श्री अरविन्द

वर्ड्सवर्थ ने कविता को उत्कट भावनाओ का सहजोद्रेक कहा है और इसकी उत्पत्ति शान्ति मे सञ्चित अनुभूतियो से मानी है। वर्ड्सवर्थ की काव्य-सम्बन्धी मान्यता से यह प्रकट होता है कि वह भी जीवन को स्वीकार करके चलते है, क्योकि 'अनुभूति' जीवन की अपेक्षा रखती है। जीवन के दो अग होते है—

१– वहिरग तथा
२– अन्तरग

इसे भौतिक जीवन तथा आध्यात्मिक जीवन भी कहा जा सकता है, वर्ड्सवर्थ ने अपनी परिभाषा मे 'शान्ति के क्षणो' को जोडकर इस बात की भी विज्ञप्ति कर दी है कि भावनाओ का 'सहजोद्रेक' छिछले स्तर का नही होता, वरन् उसका स्वरूप अत्यन्त मनन के पश्चात् स्फुटित होता है। इस प्रकार वर्ड्सवर्थ की काव्य-परिभाषा मे दार्शनिकता का भी योग हो जाता है।

श्री अरविन्द और वर्ड्सवर्थ की काव्य-सम्बन्धी-मान्यता मे इस प्रकार सर्वाधिक साम्य दृष्टिगोचर होता है। अन्तर केवल शब्दो के सस्थापन मे ही है।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर और श्री अरविन्द

श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपने साहित्य नामक ग्रन्थ मे जो साहित्य की परिभाषा की है, वह उनकी काव्य-सम्बन्धी मान्यता की भी द्योतक है। उनका कथन है—

"साहित्य शब्द से साहित्य की उत्पत्ति हुई है"

अतएव धातुगत अर्थ करने पर साहित्य शब्द से मिलन का एक भाव दृष्टि-गोचर होता है । साहित्य की व्याख्या करते हुए उन्होने अगली पक्तियो मे जो कहा है, उसका सार यह है कि—

यह मिलन मात्र भाव का भाव के साथ, भाषा का भाषा के साथ आदि न होकर मनुष्य का मनुष्य के साथ, अतीत का वर्तमान के साथ आदि का भी मिलन है ।

रवीन्द्र के साहित्य या काव्य-सम्बन्धी परिभाषा से दो ध्वनियाँ स्पष्ट है—

१— काव्य समानधर्मी ही नही, वरन् असमान तत्वो मे भी सामजस्य स्थापित करता है,

२— काव्य को समाज सापेक्ष होना चाहिए ।

अर्थात् काव्य का प्रमुख प्रयोजन समाज, राष्ट्र अथवा विश्व मे बिखरे हुए विरोधी तत्वो मे अविरोध स्थापित करना है । कवीन्द्र रवीन्द्र की इस काव्य-सम्बन्धी-मान्यता मे यद्यपि सस्कृत-साहित्याचार्यो द्वारा प्रतिपादित काव्य के 'रमणीक', 'रसात्मक' आदि शब्दो का प्रयोग नही मिलता, किन्तु रमणीयता अथवा रसात्मकता के बिना काव्य-लोक मे किसी प्रकार गृहीत नही हो सकता । कवीन्द्र रवीन्द्र के काव्य मे भाव और चिन्तन का अद्भुत समन्वय प्राप्त होता है । इससे यह सिद्ध होता है कि वे काव्य को भावना और चिन्तना का समन्वय मानते थे ।

श्री अरविन्द की काव्य-सम्बन्धी-परिभाषा की श्री रवीन्द्र के काव्य-सम्बन्धी मत से तुलना करने से निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते है—

साम्य— दोनो एक ही जीवन अथवा समाज से काव्य का सम्बन्धित होना अनिवार्य मानते है । अस्तु, दोनो ही काव्य या कला का हेतु सामाजिक अथवा विश्व के विरोधी-तत्वो मे अविरोध उपस्थित करना मानते है । श्री अरविन्द ने अपने 'लयबद्ध' शब्द तथा रवीन्द्र ने 'मिलन' शब्द के द्वारा अपने-अपने एतद्विषयक मन्तव्यो का प्रकाशन किया है ।

वैषम्य— श्री अरविन्द ने 'लयबद्ध' शब्द द्वारा काव्य मे सगीत की स्वीकृति के साथ रमणीयता को भी स्वीकार किया है । किन्तु, कवीन्द्र रवीन्द्र ने अपनी परिभाषा मे केवल 'मिलन' शब्द का ही ऐसा प्रयोग किया है, जिससे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते है कि वे रमणीयता को भी स्वीकार करते थे । वैसे जिस अर्थ मे उन्होने 'मिलन' शब्द का प्रयोग किया है, उससे रमणीयता की अपेक्षा समन्वय का भाव अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है जो 'रमणीयता' की अपेक्षा सौहार्द्र के अधिक निकट है । कवीन्द्र रवीन्द्र के समग्र साहित्य मे समन्वय का यह स्वर

> अतिशयरूप से मुखर है । उनके काव्य मे भाव, चिन्तन और कल्पना आदि काव्य के तत्व इस प्रकार औचित्यपूर्ण ढग से नियोजित हुए हैं जैसे कि एक कुशल मूर्तिकार मूर्ति के हस्त-पाद-नेत्र-नासिकादि शरीर के विभिन्न अग-प्रत्यगो को निमित कर मूर्ति को भव्य आकर्पक रूप प्रदान करता है । जिस प्रकार मूर्ति के औचित्यपूर्ण अग-सौष्ठव से मूर्ति रमणीयता प्राप्त करती है, उसी प्रकार रवीन्द्र का काव्य, काव्य-तत्वो के सुनियोजन द्वारा रम्यता प्राप्त करता हैं ।

अस्तु, यद्यपि रवीन्द्र की काव्य-सम्बन्धी परिभाषा मे 'रमणीयता' का प्रयोग नही हुआ, फिर भी वे काव्य मे 'रमणीय' तत्व के परिपोपक प्रतीत होते हैं ।

अरविन्द की काव्य-परिभाषा के विशिष्ट अंगों की व्याख्या

श्री अरविन्द की काव्य-सम्बन्धी परिभाषा का उल्लेख अन्यत्र किया जा चुका है । अब हम उसके विशिष्ट अगो की व्याख्या करेगे । श्री अरविन्द की परिभाषा के विशिष्ट शब्द या वाक्याश इस प्रकार है —

१ — जीवन,

२— लयबद्ध तथा

३— आभ्यन्तर स्वर ।

श्री अरविन्द की काव्य-सम्बन्धी-परिभाषा विशेपरूप से इन्ही तीन शब्दो मे बद्ध है । इन तीन शब्दो के नियोजन के द्वारा श्री अरविन्द ने जीवन के चारो खूटो को काव्य के अन्तर्गत समेट लिया है । यहाँ पर उनकी मान्यता के इन सारगभित शब्दो की क्रमश व्याख्या प्रस्तुत की जा रही है —

जन्म से लेकर मरण तक के काल-क्रम को साधारणतया जीवन की सज्ञा दी गई है । इसका आयाम धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारो पुरुषार्थो तक है । धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति ससार के द्वारा होती है । ससार विभिन्न देशो तथा राष्ट्रो मे विभाजित है और प्रत्येक राष्ट्र अथवा देश का जीवन समाज मे आवद्ध है । अस्तु, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति के लिए सामाजिक जीवन परमावश्यक है । अत. निष्कर्ष यह कि कला या काव्य जीवन या समाज से निरपेक्ष रहकर जीवित नही रह सकते ।

श्री अरविन्द की परिभाषा का दूसरा महत्वपूर्ण शब्द है—'लयबद्ध' । इससे यह सिद्ध होता है कि जीवन मे अनेक विपमताएँ ह । उन विषमताओ के स्वरूप को समझकर उन्हे एक ऐसी अन्विति देना काव्य का कर्म है, कि वे 'लयबद्ध' होकर सगीत के समान मोहक और उपादेय हो सके ।

उनकी परिभाषा के अभ्यन्तर स्वर के द्वारा यह प्रकट होता है कि वे काव्य की स्थिति लौकिक स्तर पर नही स्वीकार करते । वे लोक को परलोक से, आत्मा

को परमात्मा मे, बैखरी को परा से तथा भौतिकता को आध्यात्मिकता से चिर-सम्बन्धित मानते हैं। अर्थात् वे काव्य उसे मानते है, जिसका मूल अध्यात्म हो और जिसकी शाखाएँ—पल्लवादि भौतिकता मे फैले हुए हो।

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध होता है कि अरविन्द काव्य को अध्यात्म से प्रादुर्भूत जीवन की सगीतमयी अथवा रमणीय अभिव्यक्ति मानते है।

श्री अरविन्द के काव्य-सम्बन्धी अन्य विचार

क्या कविता केवल कल्पना-युक्त सौन्दर्यानन्द है ? श्री अरविन्द की काव्य-परिभाषा के विशेष अगो के अधिक स्पष्टीकरण के लिए हम इस स्थल पर विस्तार मे विचार करना चाहेगे।

श्री अरविन्द सामान्य जन की भॉति कविता को मात्र कल्पनाप्रसूत सौन्दर्यानन्द नही मानते। उनका कथन है कि —

> "यदि काव्य का तात्पर्य मात्र इतना ही होता तो हम काव्यात्मा, काव्य का भीतरी उद्देश्य तथा उसके गम्भीर नियम के अन्वेषण की आवश्यकता न समझते। कोई भी सुन्दर, आनन्दप्रद तथा आलापबद्ध वस्तु कविता के उद्देश्य को पूर्ण कर सकती थी।"[1] उनके लिए कविता अत्यन्त पवित्र और गम्भीर वस्तु है।

किन्तु यह बात नही कि श्री अरविन्द काव्य को ऐन्द्रिक आनन्द अथवा उसके वहिरंग को स्वीकार ही न करते हो, किन्तु वे उन्हे ही सब कुछ नही मानते। उनका कहना है —

> "हम काव्य को अन्य सभी कलाओ की भाति आनन्द की वस्तु स्वीकार करते है, किन्तु वाह्य ऐन्द्रिक आनन्द तथा आभ्यन्तर काल्पनिक आनन्द भी केवल उसके प्राथमिक तत्व है, जो उच्च उपलब्धियो के हेतु बुद्धि, कल्पना तथा कर्म का परिष्करण करते हुए अपनी प्रकृति से ऊँचे स्तरो पर पहुँचते है।"[2]

1. To the ordinary mind, judging poetry without really entering into it, it looks as if it were nothing more than an aesthetic pleasure of imagination, the intellect and the ear a sort of elevated pastime. If that were all we need not have wasted time on seeking for its spirit, its inner aim, its deeper law. Anything pretty, pleasant and melodious with a beautiful idea is it would serve our turn. (The Future Poetry, p 12)
2. Pleasure, certainly, we expect from poetry as from, all art, but the enternal sensible and even the inner...imaginative pleasure

इस प्रकार श्री अरविन्द कल्पना आदि को काव्य के परिष्कार के उपकरण मानते हुए प्रमुख काव्य की सृष्टि आत्मा द्वारा होती है, मानते है। उनका कहना है कि —

"न तो बुद्धि और कल्पना और न कर्मेन्द्रिय ही काव्यानन्द को ग्रहण करते है और न वे उसके स्रष्टा ही है। वे तो उसके एकमात्र साधन और उपकरण है, वास्तविक श्रोता तो आत्मा है। जितनी शीघ्रता और पारदर्शक ढग से शेष उपकरण अपना सवा-- कार्य करते है, उतना ही कम अपनी पृथक् सन्तुष्टि का वे दावा करते है, जितना अधिक शब्द का सीधा आघात आत्मा पर होता है, उतने ही महान् काव्य की सृष्टि होती है। अस्तु, उस समय तक कविता किसी महान् कार्य को करने की दायी नही मानी जा सकती, जब तक ऐन्द्रिक आनन्द से उठाकर गम्भीर तथा आत्मिक आनन्द पर प्रतिष्ठित नही कर देती। उस आनन्द का स्वरूप स्वर्गिक होता है उसे अभ्यन्तर के आनन्द का प्रतिबिम्ब भी कहा जा सकता है। जो सर्जक है और जिस आनन्द को विश्वात्मा ने अपार शक्ति की निवृत्ति द्वारा अनुभव किया है और जिसके लयबद्ध रूप (Rhythemic Form) मे आध्यात्मिक सत्य, महान् व्याख्यात्मक विचार जीवन, भावशक्ति सर्जनात्मक दृष्टि के साथ अनुस्यूत रहे है। ऐसे ही आध्यात्मिक आनन्द को कवि अनुभव करता है। उसे इस आनन्द की उपलब्धि तब होती है, जब वह मानवीय कठिनाइयो पर विजय प्राप्त कर लेता है और तभी वह उस आनन्द को उन व्यक्तियो तक पहुँचाने मे भी समर्थ होता है, जो इसको ग्रहण करने की पात्रता प्राप्त किये हुये है और यह काव्यानन्द मात्र देवोपम मनोरजन नही है, वरन् इसमे एक महान् सर्जनात्मक तथा जाज्वल्यमान शक्ति निहित होती है।"[1]

कविता का क्षेत्र तथा उसका उद्देश्य

श्री अरविन्द के अनुसार कविता का क्षेत्र गद्य के क्षेत्र से बिलकुल पृथक् है। कविता भाव, कल्पना और अनुभूतिपरक होती है, जब गद्य विशेषतया बुद्धि अथवा चिन्तन की प्रसूति होता है। उनके मत से कविता के अन्तर्गत सान्त-बौद्धिक अर्थवत्ता से परे अनन्त अर्थ व्याप्ति की अभिव्यक्ति होती है। कविता केवल मानव जीवन का ही प्रकटीकरण नही करती और न केवल बुद्धि-गर्भित विचारो का जिन्हे वाणी के

are only first elements, refined in order to meet the highest requirements of the intelligence, the imagination and the ear, they have to be still farther heightenad and in their nature raised beyond the even their noblest—levels.

—The Future Poetry, p. 12 & 13.

१. द फ्यूचर पोएट्री, पेज १३–१४

द्वारा साधारणतया प्रकट किया जाता है मात्र प्रकाशन करती है, वरन् वह उसी के उच्च तथा विशाल आत्मा के साक्षात्कार, अनुभव एव विचारो की अभिव्यक्ति है। वह उन्हे हमारी आत्मा तथा बुद्धि के लिए वास्तविक रूप मे उपस्थित करती है। वह शब्द द्वारा हमारे लिये चेतना [Conciousness] के द्वार उन्मुक्त कर देती है।

श्री अरविन्द के अनुसार गद्य साधारण से अधिक अर्थ-गर्भित होता है, किन्तु कविता पद्य की अपेक्षा, भाव और अनुभूति के उन क्षितिजो का उद्घाटन करती है जो गद्य-शैली की पहुँच से सर्वथा बाहर है, क्योकि वह [काव्य-शैली] शब्द के बौद्धिक मूल्य को अपना सुदृढ आधार बनाती है। कविता मे लय का प्रयोग होता है, जिसका साधारण बोल-चाल मे एकान्त अभाव होता है और उसका [लय का] उद्देश्य कविता की गति को मधुर तथा द्रावक बनाना होता है। कविता मे उपयुक्त शब्द-विन्यास पर अधिक ध्यान दिया जाता है, जिसके द्वारा सुधी जनो पर तत्काल ही आह्लादकारी प्रभाव पडता है। तर्क और सुरुचि गद्य की दो प्रमुख शक्तियाँ है, जब कविता के लिए इन दोनो का अधिक महत्व है।[1]

गद्य और पद्य (कविता) की अपने विशिष्ट क्षेत्रो मे विशेष प्रभावान्विति होती है, उनका विशेष आग्रह होता है। कविता के आग्रह अथवा उद्देश्य के विषय मे उनका मत है—

> "कविता, शैली और लय के अन्वेषण के माध्यम से आत्मसाक्षात्कार द्वारा प्रादुर्भूत उस आध्यात्मिक भावोत्तेजना को अभिव्यक्ति देने का प्रयास करती है जो स्वय ही अपने को उद्घाटित करने को उत्सुक है। उस साक्षात्कार का क्षेत्र अनिर्दिष्ट और असीम है। वह साक्षात्कार प्रकृति, ईश्वर, मानव, प्राणिमात्र के जीवन अथवा वस्तुओ की जिन्दगी किसी से भी सम्बन्धित हो सकता है।"

श्री अरविन्द काव्य-क्षेत्र को इसमे भी अधिक व्यापक और विस्तृत मानते है। उनके मतानुसार यह 'विज्ञन' शक्ति और क्रिया, ऐन्द्रिक, सौन्दर्य, विचार की सत्यता, भाव और आनन्द और इस और इससे परे जीवन का आनन्द और पीडा भी हो सकता है। यह कहना पर्याप्त है कि काव्य-रचना के समय आत्मा द्रष्टा का कार्य करती है। चक्षु, इन्द्रिय, हृदय और मस्तिष्क आत्मा के भारवाही उपकरण हो जाते हैं। अतः आत्मानुभूति द्वारा प्राप्त कविता ही वास्तविक और सर्वोत्कृष्ट रचना होती है।[2]

इस प्रकार श्री अरविन्द उच्चकोटि की तथा वास्तविक कविता की अवस्थिति आत्मानुभूति मे मानते है। किन्तु उनका यह भी मत है कि काव्य-निर्माण के समग्र

---

१. द फ्यूचर पोएट्री, फर्स्ट एडीशन, पेज १८–१६

२. ,, ,, ,, चेप्टर २, पेज २०–२१–२२

उपकरण—चरम बौद्धिक उत्तेजना, कल्पना भाव, अत्यन्त शक्तिशाली कर्तृत्व शक्ति जो लयबद्ध अभिव्यक्ति के लिए अत्यन्त आतुर है और उसे पर्याप्त तथा महत्तम आध्यात्मिक उत्तेजना अपने आवेष्टन मे सुबद्ध नही किये हुये है और यदि उपर्युक्त सभी उपकरण आत्मा की गम्भीर अनुभूति का सस्पर्श नही प्राप्त किये हुये है और उसमे पूर्णतया सम्पृक्त नही है और भावाभिव्यक्ति उनके द्वारा एक प्रकार की आध्यात्मिकता से परिशुद्ध होकर उच्च धरातल की नही होती, तो वह कविता अत्यन्त निम्नकोटि की होती है और उसमे अधिक स्थायित्व की सम्भावना नही की जा सकती। और जब काव्याग्रह ससार की निम्न वस्तुओ की ओर होता है और कविता केवल बौद्धिक खुडचन ही उत्पन्न करती है तो वह काव्य-क्षेत्र के बाहर ही रह जाती है, और हम उसे उसके तकनीक-तत्वो (उत्तम पद्य और कदाचित् उसकी चित्ताकर्षक तथा शक्तिशाली अभिव्यक्ति) के कारण ही गद्य से पृथक् कह सकते है। कहने का तात्पर्य यह कि उसमे काव्य की ऊष्मा पर्याप्त मात्रा मे प्राप्त नही हो सकती।

प्रत्येक वस्तु मे जिसे वाणी द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है दो तत्वों की प्रधानता होती है—

१—वाह्य अथवा साधनात्मक अथवा उपकरणात्मक तथा वास्तविक अथवा आध्यात्मिक।

उदाहरण के लिए विचार मे बुद्धि तत्व की प्रधानता रहती है, जिसे वह हमारे लिये नपा-तुला और निश्चित रूप देता है और

२—आत्मतत्व जो बुद्धि-तत्व का अतिक्रमण करके हमे वास्तविकता के निकट लाता है अथवा हमारा परमतत्व के साथ तादात्म्य स्थापित कराता है।

भावानुभूति के क्षणो मे वास्तव मे कवि भाव मात्र का अन्वेषण नही करता वरन् उसकी खोज भाव की आत्मा के लिये होती है। इसी प्रकार कवि अपनी वाणी द्वारा जीवन तथा प्रकृति के सत्य को अभिव्यक्ति प्रदान करने की चेष्टा करता है। वास्तव मे यही दोनो उनके काव्य की सीमाएँ है। यह महत्तर सत्य है, जिसकी खोज मे वह शाश्वत काल से सलग्न है। यही उसकी शाश्वत-टोह का कारण है। सौन्दर्य जो सत्य है और सत्य जो सौन्दर्य का ही पर्याय है और इसी कारण वह नित्यानन्द का कारण है। इसका प्रमुख कारण यह है कि गम्भीरतर सत्य की खोज मे हमे आत्मिक आनन्द प्राप्त होता है। इस महत् तत्व का क्षीण छायाभास हमे कभी-कभी गद्य के द्वारा भी प्राप्त होता है, किन्तु कविता की उदात्त तथा निर्भीक शैली उसको हमारे सन्निकट कर देती है, तथा जीवन्त बना देती है, और कविता की लयबद्ध सगीतात्मकता अपने पखो पर वह अभिव्यक्ति लाती है जिसे उसकी समग्र शैली भी नही दे सकती। यही उस गाम्भीर्य का उद्गम-स्थल है जो काव्य की जाति का

सर्वस्व है। इसकी उत्पत्ति आत्म-दर्शन से होती है, जिसकी अवस्थिति संसार से परे है। वास्तव मे कविता आत्मान्वेषण के लिये लय और सगीतबद्ध वह सामुद्रिक यात्रा है जिसके मार्ग मे वाह्य और अभ्यन्तर जगलो के नामरूपात्मक अनेक ऐन्द्रजालिक द्वीप पड़ते है।[1]

अस्तु, श्री अरविन्द के अनुसार—

> "कविता का उद्देश्य परमानन्द की प्राप्ति है, आत्मान्वेषण है, परम सौन्दर्य की उपलब्धि का प्रयास है। वे काव्य के इस महिमामय स्वरूप को एकागी नही मानते, इसीलिए वे वाह्य और आभ्यन्तर जगतो की सत्ता को पूर्णतया स्वीकार करते है। वाह्य जगत से उनका तात्पर्य भौतिक तथा अभ्यन्तर से आध्यात्मिक जगत् से है। वास्तव मे मानव का सतत सम्बन्ध इन दोनो जगतों से रहता है और इसीलिए कवि को इन दोनो के मध्य से होकर यात्रा करनी पडती है और इसीलिये वह आदर्श और यथार्थ के सीमान्तो को अपनी कविता द्वारा स्पर्श करता है और इसीलिये ऐसे कवि की कविता जीवन के दोनो पार्श्वो को अभिव्यक्ति देती हुई अमर हो जाती है। ऐसा कवि अपनी कविता द्वारा जीवन का समग्र चित्र देकर अमृत हो जाता है।"

ऐसी कविता सतत आह्लादप्रदायिका होती है। वास्तव मे इसका उद्देश्य किसी प्रकार के सत्य का उपदेश नही होता और न किसी प्रकार के ज्ञान की उपलब्धि ही, वरन् इसका मात्र उद्देश्य सौन्दर्य के साथ शब्द का तादात्म्य उपस्थित करना और प्रसन्नता बिखेरना होता है। किन्तु, इसके साथ ही, किसी-न-किसी अश में अपने उच्चतम कार्य-विभाग मे आत्म-पूजा, प्रकाश-दान, रस-सौन्दर्य के मध्य मार्ग-दर्शन और मानव को आत्म प्रबुद्ध बनाना है।

अस्तु, काव्य का क्षेत्र समग्र आत्मानुभाव है। इसका उद्देश्य आत्मा का जो उसे अपने मे अथवा जगत मे सस्पर्श करते है, सौन्दर्यात्मक सप्रेषण है। कविता हमारी उच्च तथा सुन्दर शक्तियों मे से एक है और यह हमारे अन्तर्जीवन की शक्ति भी हो सकती है। इसका क्षेत्र समग्र अनन्त सत्य है जो अनुभूति के लिये सत्य, सुन्दर और जीवन्त बनाया जा सकता है। यही काव्य का सत्य है और यही काव्य का विषय।

काव्य में कल्पना-तत्व और श्री अरविन्द

काव्य तत्वो मे कल्पना-तत्व का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। कुछ विद्वानो का मत है कि बिना कल्पना के उत्तम काव्य की सृष्टि हो ही नही सकती। श्री अरविन्द ने भी काव्य मे कल्पना की स्थिति पर विचार किया है। उनके अनुसार कल्पना-तत्व के विविधरूप है। उदाहरणार्थ—

---

१ द फ्यूचर पोएट्री, चेप्टर २, फर्स्ट एडीशन, पेज २०–२१–२२

१—वस्तुपरक कल्पना	जो वाह्य जीवन तथा वस्तुओं का अत्यन्त शक्तिशाली ढग से निदर्शन करती है,
२—व्यष्टिपरक कल्पना (सबजेक्टिव इमेजि-नेशन)	जो मानसिक तथा भावात्मक प्रभावो का अभिव्यजन करती है। इसी को काव्य-कल्पना (पोएटिक फैन्सी) कहते है।
३—सौन्दर्यात्मिक कल्पना	इसका कार्यक्षेत्र सुन्दर शब्द-योजना और उत्तम प्रतिमाओ (इमेजेज) की सृष्टि तक ही सीमित है।

कविता मे उल्लिखित तीनो प्रकार के कल्पना प्रकारों का अपना महत्वपूर्ण स्थान है। लेकिन श्री अरविन्द के अनुसार ये तीनों प्रकार की कल्पना-विद्याए काव्य-शैली के निर्माण मे प्राथमिक उपकरणमात्र है। किन्तु, आवश्यक काव्य-कल्पना-गति शीघ्र ही स्थिर नही हो जाती। चाहे वह वाह्य-स्थूल और चाहे आभ्यतर-सूक्ष्म वस्तुओं के पुनर्स्थापन से सम्बन्ध रखती हो और चाहे वह अत्यन्त समृद्ध और कोमलतम स्मृति-क्रीड़ा से सम्बद्ध हो। अथवा उसका सम्बन्ध शब्द अथवा प्रतिमा (इमेज) की अतिशय सुन्दर रगीनी से हो। कल्पना का यह स्वरूप केवल वस्तु के कृत्रिम तथा अकृत्रिम रूप का स्रष्टा ही नही होता, वरन् अतिशय रूप से वास्तविक होता है। यह वस्तुओं के आध्यात्मिक सत्य का द्रष्टा होता है। श्री अरविन्द के अनुसार इस सत्य के अनेक विभाग हो सकते है उसकी अभिव्यजना यथार्थ अथवा आदर्श किसी भी दृष्टिकोण से प्रारम्भ हो सकती है। वास्तविक कला के रूप मे कविता का लक्ष्य न तो दार्शनिक है, न प्रकृति की वास्तविक अनुकृति है और न उसकी प्रतिमा का आदर्श अथवा रूमानी नवीकरण और चित्रण तथा सबर्द्धन है, किन्तु वह प्रतिमाओ के माध्यम से व्याख्या की चेष्टा है, जिसकी अभिव्यक्ति कविता एक प्रतिमा के द्वारा नही करती, किन्तु अपने अनेक स्तरो की सृष्टि मे, उन स्तरों के जो हमसे अपने को गुप्त रखने की चेष्टा करते है, किन्तु यदि उनके पास औचित्यपूर्ण ढग से जाया जाता है तो अपने को प्रकट करने के लिए सन्नद्ध रहते हैं।[1]

'भविष्य की कविता' (द फ्यूचर पोएट्री) नामक अपने ग्रन्थ में कल्पना-तत्व के विषय मे वे अन्यत्र कहते है :—

> "कल्पना कवि की अन्वेषणात्मक और व्याख्यात्मक सृष्टि के लिए अत्यन्त शक्तिशाली साहाय्य है तथा प्रच्छन्न अथवा उन द्वारों को जो तटस्थ से है एक कुशल उद्घाटनकर्त्री है। नूतन प्रतिमा की प्राप्ति कवि और श्रोता के लिए अतिशयरूप से आह्लादायिनी होती है क्योकि यह कुछ नव्य तथा महत्वपूर्ण संप्रेषण की अभिव्यंजना करती है अथवा दृश्य पदार्थ

१—द फ्यूचर पोएटरी, पेज ३२ से ३३ तक।

पर शक्ति सपन्न तथा उन्मुक्त प्रकाश डालती है और उसे अधिक दिनो तक स्थिर, समृद्ध तथा प्रकाशमान रखती है, और जिसके कारण मन आनन्दविभोर रहता है। कल्पना द्वारा कवि उस वस्तु को जो ऐन्द्रिक धरा-पर नही होती, अथवा इतनी साधारण होती है कि साधारणतया मानवमन उस पर नही ठहरता और जो अनुभव के धरातल पर स्पष्ट नही है, वह प्रतिमा, प्रतीक जिसे वह न्याय्य और सुन्दर, अर्थपूर्ण और सम्मतिपरक समझता है, प्रयुक्त करता है। उसके ये क्रियाकलाप केवल चित्ताकर्षक और वायवी अवस्तुपरक नही होते, वरन् प्रत्येक वास्तविक कलाकार जो महत्व-पूर्ण चित्रो का चित्रण तथा अन्य सर्जनाए करता है जो कि अत्यन्त तथ्यपूर्ण वास्तविकताओ को आत्मा के निकट लाती है और जिनकी अमरता सत्य की अमरता होती है[1]।

श्री अरविन्द के अनुसार काव्य मे कल्पना-तत्व के प्रमुखरूप से तीन कारण है :—

१—कल्पना तत्व वाह्य (वस्तुपरक) तथा आभ्यतर (व्यक्तिपरक) अभिव्यक्ति के लिए अत्यन्त शक्तिशाली उपकरण है।

२—कल्पना-तत्व के द्वारा नव्य-प्रतिमाओ तथा प्रतीको की सर्जना करके कवि आदर्श और यथार्थ को मूर्त करने की चेष्टा करता है।

३—प्रत्येक व्यक्ति अनादिकाल से अपनी अभीष्ट वस्तु का अन्वेषण करता चला आ रहा है। किन्तु वह किसी उचित उपकरण तत्व के अभाव मे चाह कर भी उनकी व्याख्या नही कर पाता। कवि भी एक प्राणी है और वह भी चिरकाल से अन्वेषण कर रहा है। किन्तु, उसके पास कल्पना-तत्व नामक एक अत्यन्त शक्तिशाली उपकरण है। वह उसके द्वारा अनेक प्रतिमा-प्रतीक और रूपक तथा बिबो की सृष्टि करता है और अपनी अन्वेषण-अनुभूतियो को उन्ही के द्वारा अभिव्यक्ति देता है। उसके ये प्रतीकादि उपकरण इतने न्याय्य, सुन्दर और अर्थपूर्ण होते है कि उनसे उस अनुभूति का यथार्थ चित्र रूपाकित हो उठता है, जिसे वह मूर्त करना चाहता है उसकी अवस्थिति चित्ताकर्षक वायवी धरातल पर नही होती, वरन् वह ठोस यथार्थ की भूमि पर प्रतिष्ठित होती है।

काव्य तथा अन्य कलाएं

चित्र कला, सगीत कला आदि कलाओ के समान काव्य भी एक कला है। इन कलाओं के साथ काव्यकला का क्या सम्बन्ध है? इस प्रश्न पर अन्य शास्त्रीय

१—दि फ्यूचर पोयट्री फर्स्ट एडीशन, चेप्टर २६, पृ० ३०९।

विचारको के समान श्री अरविन्द की भी अपनी मौलिक विचारणाये रही है । उन्होंने एतद् विषयक अपने चिन्तन-निष्कर्ष यत्र-तत्र प्रकट किए है ।

श्री अरविन्द का मत है कि अन्य कलाओ मे वस्तुपरक और वाह्यभिव्यक्ति का दृष्टिकोण अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है । उदाहरणार्थ—

कथासाहित्य (फिक्शन) और स्थापत्य लिए जा सकते है । इन कलाओ के द्वारा राष्ट्रीयता और रूपाकार के सिद्धान्तो की बडी सरलता मे अभिव्यक्ति हो जाती है , किन्तु यह कार्य कविता मे इतनी सरलता से सम्पन्न नही हो सकता, क्योकि काव्य का उद्देश्य केवल जीवन का चित्र उपस्थित करना नही है । दूसरे शब्दो मे यह कहा जा सकता है कि अन्य कलाओं की भाँति काव्यकता की व्याप्ति केवल यथार्थ चित्रण तक ही नही है । काव्य का क्षेत्र अन्य कलाओ की भाँति केवल शिल्प-सौन्दर्य तक ही सीमित नही है । कविता साधारण कलात्मक सृष्टि से अधिक अपनी सीमाओ का विस्तार रखती है । उसके द्वारा आभ्यतर अनुभूतियो का सूक्ष्म चित्र उपस्थित किया जाता है और उसके सिद्धान्तो का उद्देश्य वस्तु के पर्यवेक्षण से अधिक होता है । अर्थात् काव्य एक आभ्यतर प्रक्रिया है जिसकी यात्रा का मार्ग एक प्रकार का वैयक्तिक अनुभूति है जिसके द्वारा जीवन कविता मे परिवर्तित हो जाता है । यदि यह वैयक्तिक माध्यम प्रेरक तर्क (इन्सपाएर्ड रीजन) अथवा अन्तश्चेतना सपन्न मानस होता है, तो वाह्य जीवन की अभिव्यजना एक ऐसी व्याख्या उपस्थित करती है, जिसमे उसकी वास्तविकताए या तो तिरस्कृत हो जाती है या फिर इसलिए सहायक हो जाती हैं कि उनसे किसी आन्तरिक सत्य का प्रस्फुटन होगा । किन्तु उनका कहना है—

> "अग्रेजी कविता का प्रयास जीवन के यथातथ्य अर्थात् वास्तविक चित्रण की ओर है या कम से कम उसके द्वारा कवि को यह अभीष्ट होता है कि वह जीवन को वास्तविकता का रूप प्रदान करे, प्रकृति का स्वरूप दर्पण के समान ग्रहण करे । वह एक ऐसा दर्पण है जो जीवन को काव्यमय बनाता है । कवि का शक्तिशाली, कल्पनाशील तथा भावप्रवण स्वभाव वही प्रतिबिंब करने वाला माध्यम है जो स्वतन्त्ररूप से सर्जनात्मक तथा काव्यतत्वों को आवश्यकतानुसार संप्रेषित करता है ।"

श्री अरविन्द कवि के इस प्रयास को विश्वासपूर्ण अविश्वसनीय प्रतिबिब कहते है, जिसका परिणाम सदैव रूप-परिवर्तन होता है; क्योंकि कवि की प्रकृति अपना आग्रह प्रकट करती है और प्रकृति अपने रग में अपना महत्व-प्रकाशन करती है । किन्तु वाह्य वास्तविकता की मरीचिका जिसकी सृष्टि प्रकृति के 'अनुकरण' (Imitation) द्वारा होती है, अब तक पाश्चात्य कलात्मक अवधानों (Conceptions) का प्रथमोद्देश्य रही है । और अग्रेज-मानस जो इस प्रवृति को उसकी चरम सीमा पर ले

जाता है, यह महसूस करता है कि वह अपनी इस धारणा द्वारा बाह्य और वास्तव श्रम को सुरक्षित नीव बना रहा है। वह पृथ्वी की स्थूल वास्तविकता से सन्तुष्ट हो जाता है, जबकि उसका मन स्वर्ग मे गान करता होता है।

श्री अरविन्द की उपर्युक्त विचारणा से निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते है'—

१—कला का समग्ररूप बाह्य और आभ्यतर के चित्रण मे प्राप्त होता है। कला का स्वरूप यथार्थ और आदर्श, भौतिकता और आध्यात्मिकता अथवा जगत और स्वर्ग के युग्म मे समग्रता प्राप्त करता है,

२ —पाश्चात्य कलाविद् जीवन के स्थूल-चित्र का अकन करने मे ही अपनी कला को चरम मानते रहे है।

किन्तु, कवि की प्रकृति पर सर्वतोभावेन विश्वास करने पर कुछ सुदृढ परिणाम निकलते है। इससे वैक्तिकता को प्रभूतमात्रा मे महत्व प्राप्त हो जाता है—इतना अधिक महत्व जो अभी तक वह काव्य-सृष्टि के द्वारा नही प्राप्त कर सका था। प्रकृति और जीवन का व्यष्टि विवर्तन (ट्रान्सफोर्मेशन) इस कविता का प्राय. रहस्य बन जाता है। अत: अग्रेजी कविता मे अन्य भाषाओ की कविता से अधिक शक्तिशाली ढग से वैयक्तिक तत्व प्राप्त होता है। उसमे अवैयक्तिक और सार्वभौम तत्व का प्राय· अभाव होता है।

श्री अरविन्द के मतानुसार काव्य का यह वैयक्तिक तत्व एक ही युग मे कवियो के काव्य मे अतिशयरूप से विभिन्नता की सृष्टि करता है। यद्यपि यह सत्य है कि काव्य की मूल प्रवृत्तियों मे उनमे समानता होती है। किन्तु, फिर भी अपनी व्यक्तिगत मौलिकता के आधार पर उनका स्वतन्त्र अभिव्यजन करते है। किन्तु, अग्रेजी के अतिरिक्त अन्य साहित्यो के काव्य मे इसका विरोध प्राप्त होता है। अग्रेजी कविता का शक्ति-वैभव कदाचित उसके तात्कालिक अकन और कथन की गम्भीरता पर अधिक निर्भर है। और कल्पना की उदात्तता तथा भाव-प्रवणता आदि पर वह प्रकर्ष नही देती, क्योकि अग्रेजी कवि यह विश्वास करता है कि माध्यम को लेकर मुख्यतया काव्य का उत्कृष्टरूप नही प्राप्त हो सकता, जिसके द्वारा जीवन का समग्ररूप दृष्टिगोचर होता है; जिसके उदाहरण ग्रीक और प्राचीन भारतीय कविता मे प्राप्त होते है। वरन् उसका प्रस्फुटन सर्वथा कवि के वैयक्तिक मानस-उत्तरो (रिस्पॉन्स) उसके वैयक्तिक शक्तिशाली कथ्य और उसकी व्यक्तिगत तीव्र तथा सघन अनुभूति पर निर्भर करता है।

काव्य के इस वैयक्तिक दृष्टिकोण को लेकर तीन विशेषताए उत्पन्न हो जाती :—

१–प्रथम यह कि वैयक्तिक उच्चतर काव्योद्देश्यो से बारबार बाह्य जीवन की ओर वापस आना । इससे यह प्रतीत होता है कि उस जीवन को समृद्ध बनाना इसका प्रथम कलात्मक उद्देश्य है ।

२–दूसरी वैयक्तिक वैयक्तिकता और व्यक्तिगत स्वभाव की महान् शक्ति है, जो कि काव्य सृष्टि के लिए परम शक्ति है ।

३–तीसरी कथन की अतिशय गभीरता और साधारणतया एक प्रकार की प्रत्यक्ष अनुभूति है ।

विश्व-साहित्य का स्वर मूलरूप मे उपर्युक्त विशेषताओं द्वारा प्रेरित है । प्राय यह सार्वभौमरूप से देखा जाता है कि प्रत्येक साहित्यकार वैयक्तिक तत्व पर विशेष प्रकर्ष देता है । उसके प्रयास का अभिप्राय कदाचित् अपने कवि व्यक्तित्व का निर्माण करना हो । कदाचित् उसका यह भी उद्देश्य हो कि वह अपने आभ्यतर-जीवन तथा प्रकृति के अनुभवों को नयी साज-सज्जा से प्रस्तुत करे, अथवा उसकी वैयक्तिकता का यह भी कारण हो सकता है कि वह शब्द तथा लय के नव्य प्रयोग-रूपो का अन्वेषण करता हो जो वाणी मे अनूदित होकर अधिक गम्भीर अन्तर्दृष्टि देने में सक्षम हो । किन्तु, अग्रेजी कविता वैयक्तिक दृष्टिकोण रखते हुए भी अभी तक उच्च लक्ष्यो को प्राप्त नही कर सकी है । यही उसका सर्वाधिक दोष रहा है । किन्तु नए प्रभावों द्वारा इसका परिष्कार किया जा रहा है । भारत मे रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविता द्वारा इस कार्य के सपन्न होने की सम्भावना है[1] ।

श्री अरविन्द के कला तथा काव्यकला-सम्बन्धी विचारो का सारांश इस प्रकार उपस्थित किया जा सकता है : —

१–समग्र कलाओ की स्थापना का मूल उद्देश्य बाह्य अथवा स्थूल अभिव्यक्ति है ।

२–काव्य भी एक कला है; किन्तु उसका अभिव्यंजन बाह्य की अपेक्षा आभ्यंतर पर अधिक बल देता है,

३–श्री अरविन्द कवि की आभ्यतर अनुभूति अथवा 'विजन' द्वारा बाह्य जीवन को जीवन्त बनाने के समर्थक है ।

४-श्री अरविन्द बाह्य विकास की अपेक्षा आभ्यंतर-विकास को भारतीय ऋषियो के समान अधिक महत्व देते है, किन्तु बाह्य को गौण मानते हुए भी कम महत्वपूर्ण नही मानते । वे व्यक्ति के विकास पर विश्वास करते हैं और इसलिए काव्यकला मे तो निश्चित रूप से तथा अन्य कलाओ मे

१—द फ्यूचर पोएट्री, फर्स्ट एडीशन, बाई अरविन्द, चेप्टर ८, पेज, ७५-७६--७७ तथा ७८ ।

भी कदाचित् व्यक्तित्व की छाप को प्राथमिकता प्रदान करते है। उनके मत से बिना वैयक्तिक अनुभव तथा अक्षण के विकास से व्यक्तित्व तथा काव्य तथा अन्य कलाओ मे मौलिकता का सन्निवेश सर्वथा असभव है। वे प्रत्येक कला के विकास मे स्वानुभुति को सबसे आवश्यक तत्व मानते है। अस्तु वे व्यक्ति को सर्वाधिक महत्वपूर्ण मानते है और इससे कलाओ के विषय मे उनका अन्तर्मुखी दृष्टिकोण स्पष्ट है।

संस्कृति, चिन्तन और काव्य का सम्बन्ध

काव्य का सस्कृति और चिन्तन के साथ गहरा सम्बन्ध रहा है, संस्कृति को पुरस्सर करने तथा अक्षय रखने मे काव्य ने अभूतपूर्व तथा महत्वपूर्ण कार्य किया है। वैदिक, औपनिषद, पौराणिक तथा बौद्धयुगीन सस्कृतियाँ तत्कालीन काव्य-ग्रन्थो द्वारा ही आज तक अक्षुण्ण बनी हुई है। काव्य का चिन्तन के साथ गठ-बन्धन होने से काव्य महामहिम बनता है और चिन्तन को स्थायित्व प्राप्त होता है। श्री अरविन्द ने भी इन दोनो के महत्व को काव्य की सगित मे देखा है। उनके अनुसार कविता तत्कालीन सस्कृति- मानस का कवि द्वारा प्रतिष्ठित भावुक चित्र है। उसके माध्यम से कवि उस समय का जीवन ही रूपायित कर देता है। अग्रेजी की एलिजाबेथ-युगीन काव्य के माध्यम से वे इस सत्य को स्वीकार करने हुए कहते है :—

> "एलिजाबेथ युगीन नाटक में उस काल की संस्कृति का जीवन और आत्मा तरंगित हो उठे है।"

और इसीलिए यह कविता भाव-प्रवण, समृद्ध, सुन्दर, अत्यधिक सवेगमय अथवा गहन अधकार के समान दुर्भेद्य शक्ति-काव्य बन गई है। किन्तु शेष रचनाएँ प्रगति के माधुर्य, आह्लाद अथवा भावुकता या भावुकतापूर्ण रगीन आत्माभिव्यक्तियो से भरी हुई है। इसके पश्चात् काव्य मे वैचित्र्य और हलकी-फुलकी मोददायिनी चिन्तना [थिंकिग] का समावेश है, किन्तु स्थिर तथा बौद्धिक मूल्य को नही के बराबर स्थान मिला है। इस प्रकार की रचनाओ को पढने से ज्ञात होता है कि उस समय की सस्कृति-चेतना अब भी अपनी कल्पनाशील बाल्यावस्था मे ही है और चिन्तन-शील मस्तिष्क प्रकाश और 'विजन' की अपेक्षा अपने विचार की अभिव्यक्ति उत्सुकता और सौन्दर्य की सर्जना के लिये करता है। इस भावस्थिति मे रची गई कविताएँ अत्यधिक आकर्षक और कल्पनाशील, भावुकतापूर्ण अथवा वर्णनात्मक आग्रह सम्पन्न हो सकती है, किन्तु उनमे वस्तु का अपेक्षित गाम्भीर्य और मन को आबद्ध करने वाले रूपाकार की समग्रता का जो कलात्मक—सर्जना की अन्य विशेषताएँ है—अभाव भी हो सकता है।[1]

---

१. द फ्यूचर पोएट्री, फर्स्ट एडीशन, चैप्टर ११, पेज १०५

श्री अरविन्द के अनुसार काव्य के साथ सस्कृति और चिन्तना की सम्बन्ध-स्वीकृति को सक्षिप्तया इस प्रकार समझा जा सकता है.—

१—कविता अथवा चिन्तनसरणि तत्कालीन सस्कृति अथवा सम्यता से अप्रभावित होकर नही रह सकते ।

२—जिस युग की जिस प्रकार की सस्कृति होगी, उस युग की कविता और चिन्तना का स्वरूप भी तदनुकूल ही होगा ।

३—किसी विशेष युग के प्रतिनिधि कवि के काव्य द्वारा उस युग की सामाजिक स्थिति, सम्यता, धार्मिक मान्यताओ, दर्शन तथा सर्वोपरि सस्कृति का ज्ञान हो सकता है । कदाचित्, इसीलिए कहा गया है कि कवि अपने युग का प्रतिनिधि होता है ।

४—जिस युग की कविताओ मे कल्पनाशील-सौन्दर्य के निरूपण का प्राचुर्य होता है और चिन्तन का गाम्भीर्य नही प्राप्त होता, उस युग की सस्कृति को अभी अपनी बाल्यावस्था मे ही समझना चाहिए । अभी उसमे नूतन-प्रौढत्व आने मे विलम्ब है, जो सस्कृति का उत्कृष्टतम स्वरूप है ।

काव्य में यथार्थ और आदर्श की अवस्थिति

काव्यान्तर्गत यथार्थ और आदर्श के चित्र उपस्थित करने का कितना अनुपात होना चाहिए, या काव्य की स्थिति मात्र कला-चित्रण तक ही सीमित है, आधुनिक साहित्य-शास्त्रियों का बहुचर्चित प्रश्न रहा है । प्राचीन भारतीय काव्य-शास्त्रियो ने इस प्रश्न पर प्राय विचार नही किया क्योकि भारतीय सस्कृति और विचारणा का स्वर अन्तर्मुखी होने के कारण इसके लिए अवकाश ही नही था । फिर भी जब कभी कथानक-काव्यो द्वारा वे सामाजिक भूमि पर उतरे है, उनके साहित्य मे यथार्थ और आदर्श के समन्वित चित्र अत्यन्त उत्कृष्ट उतरे है ।

श्री अरविन्द भी काव्य को केवल कला के लिए ही नही स्वीकार करते । यद्यपि प्राचीन ऋषियो तथा काव्य-शास्त्रियो की भॉति उन्होने भी वाह्य की अपेक्षा मानस के आभ्यन्तर-स्तरो को समझने-समझाने पर अधिक बल दिया है, और इसीलिए उनकी मान्यता आदर्श स्थापन की ओर अधिक प्रतीत होती है । किन्तु, ऐसा भी नही है कि वे काव्य या कलाकृति मे यथार्थ को स्थान ही नही देते । इस सम्बन्ध मे उनका स्वतन्त्र मत है । उनका कहना है:—

> यथार्थवाद सार रूप मे मानव और उसके जगत् को बिना किसी अवगुण्ठन तथा छद्मता (Pretence) अथवा कृत्रिम-गोपन के उनकी यथार्थ स्थिति मे देखने का प्रयास है । वे उसे इस कल्पना के रूप मे स्वीकार करते है, जो अपनी मूल प्रवृत्ति से मुक्ति का प्रयास करती हुई अपने 'स्वर' पर ही केन्द्रित होकर वस्तु को अतिरंजित करती है अथवा उसको वैयक्तिक संस्पर्श

देती है। वह एक ऐसी कला है जो चित्र-सर्जना मे चयनात्मक वैज्ञानिक प्रतिक्रिया के पर्यवेक्षण और समन्वयात्मक विश्लेषण को प्राथमिकता देती है। जब हमे इसे अनिवार्यरूप से कला मानना पडता है तो वह अपनी प्रतिक्रिया मे ही अविश्वसनीय हो जाती है। यथार्थ की स्वाभाविक प्रगति विगत प्राचीन की झाँकियो से दूर होती है, क्योकि वह तात्कालिक वर्तमान के प्रभाव से आवृत होती है। यद्यपि यथार्थ का जन्म विविध-प्रयासो के फलस्वरूप हुआ था।

(१) प्राचीन युग को एक ऐसी स्पष्टता के साथ अभिव्यक्ति दे कि उसकी कठोरता और हिंस्र सत्य मूर्त हो उठे और उनका स्वरूप उस दृष्टिकोण के अन्तर्गत समाविष्ट न हो जिसके द्वारा रचनात्मक कल्पना नीहार आवेष्ठित दूरी से देखती आई है और वर्तमान को भी उसी कठोरता और हिंसात्मक यथार्थता के रूप मे अभिव्यक्ति देना चाहता है। किन्तु, प्राचीन के इस प्रकार के अभिव्यजन मे सफलता नही प्राप्त हो सकती, क्योकि यथार्थ की यह अभिव्यक्ति अपने अन्तर्गत एक प्रकार की कृत्रिमता और सोद्देश्य रचनाकी प्रवृत्ति समेटे रहती है। प्रकृत्या यथार्थ का क्षेत्र वर्तमान तक ही सीमित है, क्योकि तात्कालिक पर्यवेक्षण के कारण उसी का यथार्थ चित्र उपस्थित किया जा सकता है। चू कि यथार्थ का प्रेरणा-स्रोत विज्ञान है, इसलिए उसके मूल विषय मानव-जीवन मनोविज्ञान का सूक्ष्म अनुवीक्षण तथा कटु आलोचन वस्तु देखने के पश्चात् उसके प्रथम प्रभाव का अतिरजन, अपूर्णता, कुरूपता तथा मस्तिष्कीय अस्वस्थताएँ है और उसके अनुसार मानव के कर्तव्य का यही समग्ररूप है और इसीलिए उसके अनुसार जीवन केवल मनोविज्ञान तथा मनोवैज्ञानिक अस्वस्थता है। वह भौतिक प्रकृति के ऊपर नश्वर कुकुरमुत्ते की उपज के समान है जो अपनी उत्पत्ति के साथ ही प्राय: समाप्त भी हो जाता है तथा जो अपनी अतिशयोक्ति द्वारा अपने वास्तविक-स्वरूप को प्रवचित करता है। श्री अरविन्द यथार्थ को स्वच्छन्दतावादी कविता-धारा समाप्ति के पश्चात् के काव्य के रूप मे स्वीकार करते है जो कृत्रिम (Pseudo) वैज्ञानिकता के प्रभाव से विकृत हो गया है। स्वच्छन्दतावाद मे भी भगिमा, अस्वस्थता तथा विकृति पर कलात्मक प्रभाव लाने के लिए बल दिया है, जो इसके भासमान रगो को अधिक भास्वर बनाते है। यथार्थवाद भी उसी अनुपात से उपर्युक्त वस्तुओ को सत्य और विज्ञान के माध्यम से प्रकट करने की उद्घोषणा करता है। किन्तु यथार्थवाद एक कला है विज्ञान नही, अतएव वह अनिवार्यरूप से उन उद्घोषित प्रभावो का अन्वेषण उनमे पुन. प्राण-प्रतिष्ठा के दावे के साथ करता है जो सत्य प्रकृत स्थिति को मिथ्या बनाते है और उसकी अभिव्यजना सर्वथा अनौचित्यपूर्ण ढग से करते है ताकि उसमे एक अनोखी स्पष्टता आ जाये। अपनी इस गति मे यथार्थवाद आदर्श के वास्तविक प्रमाप के स्वरूप को बिगाड़ देता है, जो कि समग्र मानव-जीवन और प्रकृति का एक भाग होता है। यह अनअभीप्सित बात

इसलिये सम्भव हो जाती है, क्योकि आदर्श को जीवन के अत्यन्त साधारण नैतिक जीवन की क्षुद्रताओ मे प्रतिष्ठित करने का सायास प्रयत्न किया जाता है, उसे इस रूप मे स्वीकार कराने पर बल दिया जाता है कि वह औसत मानवता का एक अग है। यथार्थ के इस स्वरूप की प्रतिष्ठा मे कला मे आदर्श तत्व के न्याय की परवाह नही की जाती, जो कि वह होता है जिसे सत्यादर्श तात्कालिक वास्तविकता की सीमाओ से परे अपनी अनिवार्य कामना मे बाँधे रहता है। यह वह स्थिति है जिसमे हमारा प्रकर्ष आत्मिक उन्नति करने वाली प्रतिमाओ (Figures) की ओर होता है न कि क्षण-भगुर असफलताओ की पूर्ति की ओर। यथार्थ अपनी दोनो दिशाओं मे—जिसकी परवाह नही करता या जिसके लिए प्रयत्न करता है—असत्य का आचरण करता है और रोमासवाद के सिद्धान्तो के विरुद्ध अपना असफल अभियान प्रदर्शित करता है। इसकी सब से बडी अवरोधक वस्तु, इसकी असत्यता है जो विचार और प्रक्रिया दोनो का अनुसरण करती है। किन्तु, यथार्थवाद के स्वरूप को कला के विकास-मार्ग मे एक अनुपयोगी तत्व के रूप मे स्वीकार करने पर भी वे इस आन्दोलन को नूतन तत्वो तथा नव्य उद्देश्यो के सवाहक के रूप मे भी स्वीकार करते है। उनके मत से इसके द्वारा कथा साहित्य, गद्य, नाटक तथा कविता के क्षेत्र मे भी महत्वपूर्ण कार्य सम्पन्न हुआ है। श्री अरविन्द का मत है कि —

> इस साहित्यिक वाद द्वारा यद्यपि साहित्य के अन्तर्गत उसकी महत् शक्तियों के विकास मे विक्षेप उपस्थित हुआ है, किन्तु यहाँ पर यह अधिक प्रभावशाली नही रह सकता, क्योकि यदि उसकी प्रभाव-सत्ता को स्वीकार कर लिया जायगा तो काव्यात्मा की मृत्यु ही हो जायगी, जिसकी श्वास बाह्य जीवन की वास्तविकता है।[1]

श्री अरविन्द के यथार्थवाद-सम्बन्धी उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध होता है कि वे इस साहित्यिक मतवाद को साहित्य के अन्तर्गत स्वागत की दृष्टि से नही देखते, किन्तु फिर भी वे उपन्यास, कहानी गद्य के अन्य रूपों नाटकादि मे तथा काव्य मे भी एक सीमा के अन्तर्गत उसके महत्व को स्वीकार करते है। किन्तु, अन्यत्र उन्होने इसे काव्य कलाभिव्यक्ति के अर्द्धांग के रूप मे भी स्वीकार किया है। उनकी इस मान्यता मे कला का स्वरूप मस्तिष्क और हृदय, चिन्ता और आस्था, यथार्थ और आदर्श के पार्श्वो मे बँधा हुआ दृष्टिगोचर होता है। उनका कहना है कि यदि कविता अपनी ऊँची उड़ान मे क्षितिजों का सस्पर्श करती है तो इसका अर्थ यह नही है कि वह धरती की ओर देखना ही बन्द कर देगी, यद्यपि यह सत्य है कि वह अपने को पृथ्वी तक ही सीमित न कर देगी, वरन् वह मानव के लिए अन्य वास्तविकताओ तथा शक्तियो को प्राप्त करेगी और अस्तित्व के सभी स्तरो पर अपना साम्राज्य स्थापित करेगी। यह प्राचीन कवियो के काव्य-रहस्यों को ग्रहण

१. द फ्यूचर पोएट्री, फर्स्ट एडीशन, चेप्टर १४, पेज १४२, १४३, १४४

करके उनमे परिवर्तन उपस्थित करेगी और प्रच्छन्न रहस्यो का अन्वेषण करेगी, प्राचीन लयो मे परिवर्तन उपस्थित करके नूतन भावो तथा स्थितियो के अनुकूल अधिक गम्भीर तथा सूक्ष्म लयो की सर्जना करेगी, जिससे नूतन तथा विशिष्ट सगति की सृष्टि होगी तथा भाषा की महत्तर शक्तियो और सप्राणता का अभिव्यजन करेगी। यद्यपि उसका अधिकतर आभास भूत और वर्तमान तक ही रहेगा, फिर भी अपने को यही तक सीमित नही रखेगी और उसके नियम, प्रकार और सिद्धान्त मे भी वैभिन्य होगा। वह अपने परिवर्तित समग्र कविता-कला-विधान की प्रमाप होगी। कम से कम यह उसका सम्भव आदर्श प्रयास होगा और तब यह प्रयास स्वय ही काव्य मे एक नूतन प्राण-प्रतिष्ठा करके उसे अत्यधिक महत्वपूर्ण जाज्वल्यमान शक्ति सम्पन्न और मार्गदर्शक शाश्वत प्रगतिशील मानवता-आत्मा के रूप मे परिवर्तित कर देगा[1]।

श्री अरविन्द के यथार्थ और आदर्श सबधी उपर्युक्त विवेचन से हम निम्न-लिखित निष्कर्षो पर पहुचते है :—

१—वे साहित्य मे यथार्थवाद की प्रतिष्ठा को रोमासवाद के फलस्वरूप मानते है। काव्य मे यथार्थवाद का सूत्रपात रूमानी कविता की वायवीय स्थापनाओ के विरोध मे ठोस वैज्ञानिक उपपत्तियो को उनके वास्तविक रूप मे रखने के लिए हुआ।

२—वह विज्ञान के प्रयोगो और बौद्धिक चिन्तना के ऊपर प्रतिष्ठित है, किन्तु कविता एक कला है। अस्तु, विज्ञान के अस्तित्व की स्वीकृति कला के अन्तर्गत उसी सीमा तक स्वीकार की जा सकती है, जहाँ तक वह कला के भाव-प्रवण कोमल स्वरूप को क्षति नही पहुँचाता।

३—यथार्थवाद की स्वरूप-व्याप्ति विशेषरूप से वर्तमान तक ही सीमित होने के कारण वह काव्य के-शिल्प को और विषय वस्तु को विशेषरूप से उत्कर्ष प्रदान कर सकता है। यथार्थ काव्य के रूपाकार को नव्य कलेवर तथा छन्द तथा लय को महत्वपूर्ण गति प्रदान कर सकता है, करता है। उसके इन दोनो कार्यो से उसका स्वरूप निखर उठता है और आत्मा मोहकप्रकाश सम्पन्न हो उठती है।

४—काव्यात्मा रस है। रस का उद्गम-स्थल हृदय है। हृदय ही आस्था का अधिष्ठान है और आस्था की नीव पर ही आदर्श का प्रासाद निर्मित होता है। अस्तु, काव्यात्मा का स्वरूप लोक मे भावना, आस्था और आदर्श के रूप मे प्रकट होता है। यही काव्य-कला का चरम उद्देश्य है,

---

१—द फ्यूचर पोएट्री, फर्स्ट एडीशन, चैप्टर २५, पेज २९२.

५–यथार्थ और आदर्श को यदि समुचित अनुपात मे रखा जाय तो कविता का स्वरूप महनीय तथा मोहक होकर शाश्वत भी हो सकता है ।

काव्य में रस और श्री अरविन्द

भारतीय साहित्य-शात्रियो ने अपनी विविध स्थापनाओं मे अधिकाशत. रस को 'काव्यात्मा' के रूप मे स्वीकार किया है। भरत, भट्टनायक, अभिनवगुप्त, धनजय, मम्मट और विश्वनाथ ने तो रस को मुख्यतया काव्यात्मा के रूप मे स्वीकार ही किया है, अन्य आचार्यो मे कुतक, दण्डी आदि ने भी शिल्प को आह्लाद और रमणीयता से सबद्ध करके प्रकारान्तर से काव्य मे रस की सत्ता को ही प्रधानता दी है।

श्री अरविन्द ने भी काव्य मे रस की अनिवार्यता स्वीकार की है। वे रस के विषय मे अपने विचार प्रकट करते हुए कहते है कि भारतीय साहित्य-शास्त्रियो ने रस को काव्य का सार तत्व कहा है। 'रस' शब्द की उनकी मान्यता घनीभूत स्वाद, भाव के आध्यात्मिक सार एक आवश्यक सौन्दर्य, आत्मा का आनन्द विशुद्ध और समग्र अनुभूति-साधनो को लेकर रही है। आत्मा की स्मृति जो कि अन्तर्मुख करती है, नित्य चिन्तनशील बनाती है और जो मस्तिष्कीय विचार के स्वरूप अनुभूति (फीलिंग) और अनुभव (एक्सपीरियन्स) को परिवर्तित कर देती है, उस बृहत् प्रक्रिया का एक भाग है, जो इस सौन्दर्य (Aesthesis) से स्फुरित होता है किन्तु वास्तव मे समग्र वस्तु नही है। यह तो एक साधारण बात है जिसके द्वारा हमे कुछ प्राप्त होता है जो इसकी पृष्ठभूमि मे होता है और पृष्ठभूमि मे स्थित वह वस्तु हमारा अन्तर्निहित आध्यात्मिक व्यक्तित्व है जो विश्व के आध्यात्मिक आनन्द का रहस्य और सृष्टि-सत्ता का शाश्वत सौन्दर्य है जिसे हम प्रतिभा के नाम से अभिन्ति करते है उसका स्रोत बहुत गहरे से फूटता है। उस गहराई को हमने जिन शब्दो मे बाधने की चेष्टा की है वे है, आत्म-साक्षात्कार, प्रकाश और प्रकृत मानव के स्तर से ऊपर की शक्ति। यह ऊपरी स्तर से तीव्रता से प्रवाहित चेतना-प्रवाह है जो समाधि-आनन्द, प्रेरणा और आध्यात्मिक प्रकाश के लिए अत्यधिक रूप से उत्साहवर्द्धक है[1]।

श्री अरविन्द के अनुसार रस की अब स्थिति साधारण स्तर पर नही है। रस द्वारा प्रादुर्भूत आनन्द को भी वे साधारण नही मानते। उनके अनुसार रस और उसके द्वारा प्रादुर्भूत आनन्द दोनो ही का धरातल दार्शनिक है। वे इसे मनोविज्ञान के स्तर पर भी स्वीकार नही करते, क्योकि मनोवैज्ञानिक स्थितियो और अनुभूतियो का सम्बन्ध इन्द्रियों से है और ऐन्द्रिक अनुभूयिाँ मानसिक होने के कारण प्राय: बाह्य धरातल की ही है, जब 'रस' आत्मानुभूतिपरक आनन्द है; अतएव उनके

१–द फ्यूचर पोएट्री, फर्स्ट एडीशन, चेप्टर २८, पेज ३४२—३

अनुसार 'रस' का स्वरूप आध्यात्मिक है। वे उसे उस चेतना के रूप मे स्वीकार करते है जो आध्यात्म के ऊपरी स्तर से प्रवाहित होकर हमे समाधि-सुख को देती है और हमे अध्यात्म तथा अन्य उत्तम कार्यों के लिए प्रेरणा देती है। उनके अनुसार रस ही अध्यात्मिक आनन्द का चरम रहस्य और सृष्टि का शाश्वत सौन्दर्य है। निष्कर्ष यह कि श्री अरविन्द रस की स्थिति आध्यात्मपरक मानते है। वे इसे लौकिक आनन्द के स्तर पर नही स्वीकार करते।

काव्य और दर्शन

(भारतीय-काव्य मे दर्शन की स्वीकृति अत्यन्त प्राचीन काल से ही है। इसका प्रमुख कारण कदाचित् यह रहा है कि यहाँ की सस्कृति का आभ्यन्तर स्वर दार्शनिक ही रहा है। किन्तु, अन्य देशो के काव्य मे एक सीमा तक ही दर्शन की अवस्थिति स्वीकृत हुई है। अन्यो ने काव्य मे रमणीय तत्व की स्वीकृति के साथ भाव-तत्व को प्राथमिकता प्रदान की है और इस प्रकार उनकी काव्य-सम्बन्धी स्वीकृति स्वाभाविकरूप से 'रस' पर अधिष्ठित हो गई है। किन्ही काव्य-शास्त्रियो ने काव्य मे चिन्तन-तत्व को प्रधानता दी है और इस प्रकार 'रस' अथवा रमणीयता तो गौण हो गई है, किन्तु उसे दार्शनिक काव्य की भी सज्ञा नही दी जा सकती। इस प्रकार काव्य की परिभाषा रमणीय अथवा सरस[1] तथा चिन्तन-शील कलाकृति के द्विविध रूपो मे विभक्त हो गई है किन्तु, श्री अरविन्द ने काव्य मे एक सीमा तक दर्शन की स्थिति को मान्यता प्रदान की है। उनका कहना है कि यदि कोई ग्रीस निवासी 'एमपीडाकिल्स' और रोम वासी लुक्रेटियस की भाँति मेटाफिजिकल तर्कों को पद्य बद्ध करके उसे काव्य ऐसी आकर्षक सज्ञा देना चाहे तो उसका यह कर्म अनौचित्यपूर्ण ही कहा जायगा। वास्तव मे यह कार्य अत्यन्त घातक है क्योकि इस प्रकार तो हम गद्य को कविता का रूप देने की चेष्टा करेगे जो काव्य-बद्ध गद्य से भी अधिक अक्षम्य है। किन्तु यदि काव्य को हलकी दार्शनिकता भी प्रदान की जाय तो भी उसे बोझीला न होना चाहिए। क्योकि 'स्काईलार्क' के विषय मे जब कवि का भाव-प्रवण हृदय गाता है तो अधिक हलका मृदु और ऋजु होता है, अपेक्षा इसके जब वह ब्रह्म के गुणो को पद्य के सम्राटोचित आस्तरण के माध्यम से अभिव्यक्त करता है। किन्तु श्री अरविन्द का यह मत नही है कि काव्य मे दर्शन को बिल्कुल ही स्थान न मिलना चाहिए। उनका यह दृढ मत है कि प्रत्येक महान् कवि ने अपने काव्य को दार्शनिक, विचारात्मक अथवा आध्यात्मिक बनाने का प्रयास किया है। 'शैली' की स्काईलार्क की

1. (i) Poetry is the spontaneous overflow of powerful feelings. It takes its origin recollected in tranquility. 'Wordsworth'

(ii) Poetry should be simple, sensuous & passionate. — Milton, essay on education.

निम्न पक्तियो मे उन्हे स्काई लार्क और ब्रह्म के एक साथ ही दर्शन हुए है[1]। और इसे वे उत्तम काव्य मे स्वीकार करते है।

गीता और उपनिषदो मे भी जो मूलत. अपनी श्रेष्ठ दार्शनिक स्थापनाओ के लिए प्रसिद्ध है, उन्हे उत्तम काव्य के भी चिन्ह प्राप्त हुए है और उनको उन्होंने सर्वोत्कृष्ट काव्य के रूप मे स्वीकार किया हे। श्री अरविन्द का मत है कि :—

> "यदि कविता से दर्शन को बिल्कुल पृथक् कर दिया जाय तो विश्व की आधी कविता तो निश्चय ही समाप्त हो जायगी। सगीत कला और कविता अपने प्रारभ से गम्भीरतम और महत्तम वस्तुओ की अनुभूति को अभिव्यक्ति देती आ रही है, ऊपरी स्तर की छिछली वस्तुओ को नही और यह प्रवृति उस समय तक वर्तमान रहेगी, जब तक कविता, कला और सगीत जीवित है[२]।"

दर्शन और काव्य के सम्बन्ध पर विचार करते हुए श्री अरविन्द ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'भविष्य की कविता' (द फ्यूचर पोएट्री) मे एक स्थल पर कहा है कि प्रारम्भ मे दर्शन और काव्य का सम्बन्ध अधिक स्पष्ट न था। प्राय कवि दर्शन और काव्य को समानार्थी शब्दो मे ग्रहण करते थे। अतएव महान् कवि भी दार्शनिक स्थापनाओ को सगीत-बद्ध करके काव्य द्वारा अभिव्यक्त करते थे। यहाँ तक हिसियड और वर्जिल ने कृषि सम्बन्धी "मैन्युल" (Manual) को पद्य-बद्ध किया। रोम मे सदा से ही सौन्दर्य के पुजारी कवि ने स्थूल परिप्रेक्षण को प्रधानता दी है। रोम के दो महान् कवि इस दु खद सिद्धान्त के शिकार हो चुके है। इसके फलस्वरूप वे दोनो महाकवि समस्त आगामी पीढी के लिए एक शिक्षा और चेतावनी का विषय बन गए है। उनमे से लूक्रिटियल की कविता भी अपने पीछे महत् शक्ति लिए हुए केवल इसलिए जीवित है, क्योकि वह बडे सुन्दर ढग से दार्शनिक प्रवृति से पृथक होकर शुद्ध काव्य की ओर मुड गई है। किन्तु, वर्जिल के काव्य मे हमे सुन्दर उद्धरण, प्रकृति के चित्र और सुन्दर शब्द-योजना तथा प्रतिमाए (Images) तो प्राप्त होती है, किन्तु उसकी वस्तु इतनी निर्जीव है कि अपने सौन्दर्यपूर्ण आवरण की अपेक्षा भी समय-स्रोत पर तैरती हुई हमारे पास तक पहुच गई है। श्री अरविन्द के मत से वर्जिल अपने समग्र सुन्दर काव्य-शिल्प से भी अपनी कविता को दर्शन की प्रधानता से नही बचा सका।

उनके मत से केवल भारत ही एक ऐसा देश है जिसने एक या दो बार काव्य को दर्शन से मुक्ति दिलाने का प्रयास किया है। सर्व प्रथम उपनिषदो और

I. Poetry is at bottom a criticism of life.
—Mathew Arnold.

२ लेटर्स आफ अरविन्द, फर्स्ट एडीशन, पेज ३८ व ३९।

फिर गीता तथा अन्य लघु ग्रन्थो मे जो इन्ही दोनो का आधार लेकर लिखे गए थे; किन्तु इन दोनो मे महान् अन्तर है। गीता को कवित्व की सफलता उसके प्रारम्भ के कारण है, जीवन की सबसे महान् सकाटपन्न स्थिति है। इस स्थिति का ध्यान गीताकार को सदा और सर्वत्र बना रहता है और वह इसी दृष्टिकोण से विभिन्न आध्यात्मिक स्तरो की गुत्थियाँ सुलझाता हुआ आभ्यन्तर जीवन से प्रादुर्भूत विचार जगत को देता है। यद्यपि यह प्रक्रिया अत्यन्त नाजुक है फिर भी वह इसे काव्य-सीमा के अन्तर्गत सुरक्षित रखती है। किन्तु, जहाँ पर उसने 'मेटाफिजिक्स' की परिभाषाओ द्वारा इसे बोझिल बना दिया है—जो कि अन्तिम दो-तीन अध्यायो मे हुआ है—कवि की वाणी भार से दब गई, यहाँ तक कि हम उसे पद्य-बद्ध गद्य कह सकते है। उपनिषद् भी अधिकाशत दार्शनिक विचारणा की प्रसूति नही हे, वरन् आध्यात्मिक साक्षात्कारो के फलस्वरूप उनका जन्म हुआ है। वे अन्तर्दृष्टियो के सनत प्रवाह है, जिन्होने अपना अभिव्यजन काव्यमयी भाषा मे किया है जो जीवन और ऊष्मा मे ओत-प्रोत है, क्योकि यही उनकी प्राकृतिक वाणी है। अधिक बौद्धिक कथन द्वारा उनका साक्षात्कार दूषित हो सकता था, अर्थात् उनके साक्षात्कार को उसके समग्र रूप मे अभिव्यक्ति देने मे काव्यमयी भाषा ही सक्षम है, बौद्धिक उपपत्तियाँ उसका मर्म उद्घाटित करने मे सर्वथा असफल है। बुद्धि के द्वारा आध्यात्मिक अनुभूतियो को समझाने का प्रयास उनकी आत्मा को क्षति पहुचाना होगा[1]।"

श्री अरविन्द के दर्शन और काव्य-सम्बन्धी मत से हम निम्नाकित निष्कर्षों पर पहुचते है—

१—श्री अरविन्द चिन्तन।प्रधान काव्य को विचार का पद्यीकरण समझते है, क्योकि 'रस' और भाव' काव्य के अनिवार्य गुण है। इनसे रहित 'गणित' अथवा कृषि-सम्बन्धी सिद्धान्तो और नियमो के पद्यीकरण के समान दार्शनिक सिद्धान्तो का पद्यीकरण काव्यान्तर्गत परिगणित नही हो सकता।

२—छिछली और स्थूल अभिव्यक्तियाँ भी काव्य की परिभाषा के अन्तर्गत नही आ सकती। कविता का स्वरूप अत्यन्त महान् और पवित्र है, अस्तु वह जीवन की गहराइयो का स्पर्श करती है और अपनी इस प्रक्रिया मे आकस्मिकरूप से दर्शन से सम्बद्ध हो जाती है। किन्तु, उसमे इस प्रकार आया हुआ दर्शन मणि-कांचन, प्रेय-श्रेय अथवा सत्य सौन्दर्य का सा सयोग उपस्थित करता है। किसी भी कवि का काव्य इस प्रकार के सयोग मे महामहिम होकर उसे अमर बना देता है।

---

१ द फ्यूचर पोएट्री, फर्स्ट एडीशन, चेप्टर ५, पृ० ४४-४५

श्री अरविन्द के अनुसार सर्वोत्कृष्ट काव्य-मन्त्र

साहित्य-शास्त्रियो की काव्य-सम्बन्धी मान्यताएँ अधिक गहराई मे हृदय के स्पन्दनो को ही स्पर्श करती है, या फिर ऊपरी स्तर पर जीवन का विश्लेषण करती हुई बुद्धिपरक हो गई है।[1] इन व्याख्याओं मे काव्य का रस सम्बन्धी और मनोवैज्ञानिक स्वरूप ही अधिकाशरूप मे प्रतिष्ठित हो सका है। काव्य की स्थिति इससे ऊपर भी हो सकती है, ऐसी व्याख्या हमे नही प्राप्त होती, किन्तु श्री अरविन्द काव्य के सर्वोत्कृष्ट स्वरूप को मन्त्र की सज्ञा देते है, जो आत्म-स्फूर्त होता है। श्री अरविन्द के अनुसार मन्त्र काव्यमय विचार को अभिव्यक्ति देने के लिए सर्वाधिक महान् और गम्भीर प्रकार (फौर्म) है। वैदिक कवियो का मन्त्र से अभिप्राय आत्मप्रेरित आध्यात्मिक अनुभूति सम्बद्ध विचार का अभिव्यजन रहा है। यह वह चिन्तन-प्रवाह है जो आत्मा की महान् लय से सम्पन्न छन्द के माध्यम से प्रकट हुआ। देखना, सुनने से पृथक् नही किया जा सकता, यह एक ही कर्म है और न श्रवण तथा दर्शन से एक ही सत्य के निवास को पृथक् किया जा सकता है, क्योकि आत्मा मे उसकी उपस्थिति और मस्तिष्क पर इसका अधिकार मानवता के स्रष्टा के साथ ही अवश्य रहा होगा, जिनके फलस्वरूप जाज्वल्यमान शब्द का जन्म हुआ है। अस्तु, मन्त्र हृदय और विचार-सघातो के उस शाश्वत देवता के रथ पर आकर प्रकट हुआ है, जिसका सत्य एक रूप है।[2] और, वाह्य योग्य श्रोता के मस्तिष्क मे भी जो ऋषि कवि के शब्द को सुनता है, ये तीनो बाते अवश्य आवेगी, यदि हमारा शब्द वास्तविक मन्त्र है तो श्रवण के साथ आभ्यन्तर सत्य का साक्षात्कार अवश्य देगा और मस्तिष्क का इसकी अन्तरात्मा पर अधिकार और पुन आत्मा की ओर प्रत्यावर्तन शीघ्र ही शब्द के लय-बद्ध सन्देश और मन के साक्षातीकृत सत्य का अनुसरण करेगा। इसे हम भौतिकता का रहस्यमय लेखा-जोखा कह सकते है। किन्तु, तत्वत इससे अधिक पूर्ण अनुप्रेरित (इन्सपायर्ड) और अभिव्यक्त शब्द के जन्म और प्रभाव का वर्णन नही हो सकता। और, इसका आरोप—यद्यपि उस स्तर से बहुत नीचे जो वैदिक ऋषियो को अभिप्रेत था—हम उस समग्र स्वत स्फूर्त वास्तविक महान् कविता के लिए कर सकते है, किन्तु कविता को हम उसी स्थिति मे मन्त्र की सज्ञा दे सकते है, जब वह आभ्यन्तर सत्य की वाणी होती है और उसमे उसी के अनुकल सर्वोच्च शक्ति सम्पन्न लय और सत्य की वाणी होती है। वैदिक तथा औपनिषदिक कवि इसीलिए मन्त्रोच्चारण का दावा करते थे, क्योकि वह सदैव आभ्यन्तर और लगभग आध्यात्मिक (Spritual) सत्य होता था जिसे वे सुनने, देखने और कथन

---

१ देखिये, काव्य-परिभाषा-सम्न्धी विवरण।

2, The Mantra is born through the heart and Shaped or massed by the thinking mind into a Chariot of that god head of the Eternal of whom the truth seen is a face or form.

की चेष्टा करते थे, क्योकि उन्हे इस बात का दृढ विश्वास था कि वे ऐसा करके अपने आत्मा के लय का अन्वेषण कर रहे है जो उनके अन्तर्गत विद्यमान है और जिसे पवित्र अग्नि ने मानव के हृदय मे प्रतिष्ठित किया है। दूसरे शब्दो मे मन्त्र का अर्थ सहज सम्प्रेषणीय, सर्वाधिक उच्च, गम्भीरतम, स्वर्गीयता के भार से अतिशयरूप मे दबा हुआ लयबद्ध शब्द है, जिसमे अन्तर्दृष्टि सम्पन्न और आध्यात्मिक अभिव्यजन युक्त प्रेरणा सयुक्त है और जो मन को साक्षात्कार और दर्शन से आध्यात्मिक बनाता है। अथवा हम कह सकते है कि मन्त्र वह महत्तम लययुक्त भाषा है जो समग्र सान्त को अपने अनुबन्ध मे लेकर उसे अनन्त प्रकाश तथा अनन्त स्वर प्रदान करती है।

गीता को श्री अरविन्द काव्य का सर्वोत्कृष्ट रूप मानते है। उनका कहना है कि गीता के कवि ने इस बात की पूर्ण सावधानी बरती है कि वह व्यक्ति के मन को समन्वयात्मक दृष्टि प्रदान करे और पूर्ण ज्ञान के लिए प्रेरित करे। जब गीता का कवि यह कहता है—

"सबसे बडा योगी वह है जो किसी भी अवस्था और समय मे सुख-दु ख को अपनी आत्मा की प्रतिभा से सम-दृष्टि से देखता है।"

तो वह साधारण नही, बहुत उच्च धरातल की बात कहता है। उसका इस प्रकार का कथन दैवी प्रभाव सम्पन्न तर्क-पूर्ण भाषा [इन्सपायर्ड लैंग्वेज] के माध्यम से गाम्भीर्य की अभिव्यक्ति है। यह काव्य मूलत मधुर और उत्तम शब्दन्यास तथा लय के द्वारा और अधिक महनीय हो गया है। यद्यपि इस काव्य के अभिव्यजन का विषय धार्मिक और दार्शनिक उपपत्तियो और स्थापनाओ की प्रतिष्ठा करना है, फिर भी यह कविता तत्वो से समृद्ध है, क्योकि इसके मूल विचार के साथ आध्यात्मिक अनुभूति का साक्षात्कार और उसके नैतिक जीवन के साथ उपस्थिति, अनुभूत वस्तु के भाव [इमोशन] का सयम और उसके जीवन का स्पर्श भी सयुक्त है। गीता से भी अधिक प्राचीन यजुर्वेद मे हमे काव्य का एक दूसरा प्रकार प्राप्त होता है, जो अधिक प्रभावित करने वाला है और जिसका अभिव्यंजन दुरूह नही है और सत्यानुभूति भी उसी प्रकार की है तथा आत्मा पर उसका सस्पर्श भी वैसा ही है—

"जहाँ मै आहत होऊँ, मुझे दृढता प्रदान करे और पूर्ण बनावें। समग्र प्राणी एक दूसरे को तन्मयता से देखें [एक दूसरे के दु ख-सुख के सहयोगी बनें]। हमे सब एक दूसरे को मित्र की दृष्टि से देखे।"

काव्य और धार्मिक भावना 'उपर्युक्त' यजुर्वेद के उद्धरण मे एक साथ सुदृढ रूप से सम्बद्ध होगए है और हृदय की समग्रता की कामना के साथ एक होगए है और जीवन की स्पृहणीय एकता मे प्रतिष्ठित हो गए है। इसी प्रकार की रामायनिक प्रक्रिया का सम्मिश्रण दार्शनिक सत्य और काव्य-सत्य के साथ किया जा सकता है और भारतीय साहित्य के अन्तर्गत हमे यह प्रक्रिया अपनी सहजता के साथ अनवरतरूप

से प्राप्त होती है और इसी प्रकार समस्त प्राचीन ऋग्वेद उत्तरी और दक्षिणी समग्र वैष्णव काव्य की पृष्ठभूमि मे भी यौगिक भूमिका का सन्निवेश है, क्योकि बिना योग की पृष्ठभूमि के इस रूप मे उसकी सर्जना ही नही हो सकती थी। आधुनिक युग मे श्री अरविन्द कवीन्द्र-रवीन्द्र के अधिकाश काव्य को साधना का प्रतीक मानते है, जिसके पीछे आध्यात्मिक खोज और अनुभव की लम्बी विरासत है। श्री अरविन्द के श्रेष्ठ काव्य-सम्बन्धी उपर्युक्त विवेचन द्वारा यह सिद्ध होता है कि वे परासवित् अभिव्यजन को काव्य का श्रेष्ठ रूप मानते है। निश्चय ही आत्मानुभूति-सम्पन्न काव्य-सर्जना ही सर्वोत्कृष्ट काव्य की सज्ञा पाने के योग्य है, क्योकि उसमे ज्ञान और भावना, मस्तिष्क और हृदय का समग्र रूप प्राप्त होता है जो जीवन की समग्रता को अपने साथ बाँधे है। श्री अरविन्द के अनुसार आत्मा का स्वर ही सर्वम महान् सगीत है और आत्मा की भाषा सर्वश्रेष्ठ कविता, वेद, उपनिषद्, गीता और अधिकाश रवि बाबू की कविताओ मे उन्हे इस आत्मा की भाषा का आभास मिला है, इसीलिए वे इसे सर्वोत्कृष्ट काव्य के रूप मे स्वीकार करते है।

काव्य में आनन्द और सौन्दर्य का अविभाज्य सम्बन्ध

प्राचीन काव्याचार्यो ने काव्य के साथ आनन्द और सौन्दर्य का अविच्छिन्न सम्बन्ध माना है। उनकी इस प्रकार की मान्यता काव्य के लिए 'रमणीय', 'रसात्मक', लालित्य आदि शब्दो के प्रयोगो मे प्रकट हुई है। वास्तव म जहाँ आनन्द है वही सौन्दर्य है और जहाँ सौन्दर्य है वही निश्चितरूप स आनन्द है। अग्रेजी के विख्यात रूमानी कवि कीट्स ने ठीक ही कहा है —

"सौन्दर्य सम्पन्न वस्तु शाश्वत आनन्द-प्रदायिनी होती है।"[1]

श्री अरविन्द ने भी काव्य मे आनन्द और सौन्दर्य का अविभाज्य सम्बन्ध स्वीकार किया है। उनका कहना है कि —

> "जब हम अपने काव्य को प्राचीन काव्य के उस स्तर पर पहुँचा देगे, जहाँ सौन्दर्य और आनन्द अविच्छिन्न होकर स्थित है, हमे मुक्ति प्राप्त हो जायगी,"

क्योकि उनके मत से बिना इनके न तो कला और काव्य के अन्तर्गत विश्वासपूर्ण उदात्तता और मधुरता ही आ सकती है और न सन्तोष-प्रदायक समादर और जीवन की पूर्णता तथा आत्मा का क्रमिक पूर्णत्व ही प्राप्त हो सकता है (नॉर ए हारमोनियस परफेक्शन आफ दि स्प्रिट)[2]।

इस आनन्द के विषय मे उनका कहना है कि उसका स्वरूप उस आनन्द से सर्वथा भिन्न है, जो किसी मन.स्थिति अथवा सवेदन-जन्य है। उसका सम्बन्ध उस

---

१. 'ए थिंग आफ ब्यूटी इज ज्वाय फार एवर' [कीट्स]

२. द फ्यूचर पोएट्री, फर्स्ट एडीशन, चेप्टर २८, पेज ३३५

ऐन्द्रिक आनन्द से भी नही है, जिसका प्रादुर्भाव किसी सुन्दर वस्तु के स्वरूप-आकर्षण द्वारा होता है । वरन् उसका सम्बन्ध उस शाश्वत आनन्द से है जिसको प्राचीन ऋषियो ने आत्मानन्द के रूप मे अनुभव किया था और जो आत्मा और अस्तित्व के सार रूप मे प्रतिष्ठित है । और उसमे वह सौन्दर्य है जिसमे आत्मा पवित्र आनन्द की सृष्टि करती है[1] । श्री अरविन्द के मतानुसार काव्य के लिए सौन्दर्य और आनन्द की महती आवश्यकता है । किन्तु जब वे काव्य के लिए आनन्द और सौन्दर्य को अनिवार्य कहते है तो उनका अभिप्राय ऐन्द्रिक आनन्द तथा ऐन्द्रिक सौन्दर्य से कदापि नही है, वरन् वे आत्मानन्द के अधिष्ठान उस सौन्दर्य की चर्चा करते है, जो ऐन्द्रिक नही है, इन्द्रियातीत है । वह सौन्दर्यानन्द मधुमती भूमिका का है । इस प्रकार श्री अरविन्द काव्य तथा अन्य कलाओ को अलौकिक सौन्दर्य और अलौकिक आनन्द के माध्यम से आत्मा अथवा ब्रह्म से सबद्ध कर देते है और उनके लिए काव्य तथा अन्य कलाये लौकिक धरातल पर नही रह जाती । वे उन्हे अत्यत पवित्र भूमि तथा रहस्य स्तर पर अधिष्ठित दृष्टिगोचर होती है । उनका सौन्दर्य और आनन्द भी आत्मा का वह सोन्दर्य तथा आनन्द हे, जिसके आभास मात्र से लौकिक अथवा ऐन्द्रिक सौन्दर्य तथा तज्जनित आनन्द हमारे जीवन को मोह-पाश मे आबद्ध किये हुए हे और हम आनन्द के उपबिब को ही चरम मानकर विभोर बने रहते है ।

१—उनकी मान्यता का प्रथम निष्कर्ष यह है कि वे काव्य के लिए सौन्दर्य और आनन्द को अविभाज्य रूप मे स्वीकार करते है ।

२—वह सौन्दर्य तथा आनन्द लौकिक स्तर का नही है, वरन् आत्मा का है ।

३—श्री अरविन्द काव्य को साधारण लौकिक स्तर पर पर नही स्वीकार करते, वरन् वे उसे अत्यत पवित्र तथा आत्मानुभूति की सर्जना मानते है ।)

कविता और शब्द-योजना

किसी भी साहित्यिक विधा, वक्तृता आदि मे शब्द-स्थापन का विशेष महत्व होता है, क्योकि उचित शब्द-योजना के बिना कोई भी साहित्यिक विधा और वक्तृता प्रभावशाली नही हो सकती । शब्द-शक्ति ही एक ऐसा तत्व है जो किसी भी साहित्यिक विधा अथवा वक्तृता को वर्गीकृत करता है । श्री अरविन्द ने भी शब्द-योजना की इस महती शक्ति को स्वीकार किया है । उनका कहना है कि कवि को अपने काव्य के माध्यम से एक सतुलित अथवा शक्तिपूर्ण और सक्षिप्त विचार देना होता है, उसे इस कर्म के लिए शब्द को इस प्रकार प्राणवान बनाने के लिए कवि को अपनी समग्र काव्य-शक्ति द्वारा उचित शब्द-सस्थापन का प्रयास करना चाहिए । उसे ऐसा करने के लिए केवल बौद्धिक सिद्धान्त (मोशन) का ही आश्रय नही लेना

---

१ द फ्यूचर पोएट्री, फर्स्ट एडीशन चेप्टर २८, पेज ३३८ व ३३९ ।

पडेगा, वरन् वस्तु की भावप्रवणता (इमोशन) और भौतिक सवेग को भी सम्मिलित करना पडेगा, जिसको वह अभिव्यक्ति प्रदान कर रहा है। उसे शब्द के स्वरूप का इस प्रकार निर्माण करना होगा कि जिसका प्रभाव हमारे अन्तंजगत पर भी उसी प्रकार पडे जैसा कि वाह्य जगत पर पडता है। अर्थात् जिस प्रकार वस्तु का वाह्य-वर्णन शब्दो के माध्यम से हमे प्रभावित करता है, उसी प्रकार शब्द-स्थापन हमारी आभ्यतर उदात्त वृत्तियो को भी सजग करे। ठीक उसी प्रकार जैसे वेदो की स्वीकृति है कि विश्व की सर्जना शब्द के द्वारा हुई। इस प्रकार कवि भी अपने काव्य की शब्द योजना के माध्यम से स्वय अपने और हमारे लिए अस्तित्व प्राप्त करता है। कवि यह स्वरूप प्राणियो, वस्तुओ तथा अनुभवो की खडश, सामूहिक, विस्तृत अथवा ऐकान्तिक शब्द-व्यजना पर आधारित होता है।[1]

ऊपर ऊपर से शब्द की रचना अत्यत भौतिक तथा वैज्ञानिक धरातल पर प्रतीत होती है, किन्तु वास्तव मे बात ऐसी नही है। वाह्य अभिव्यक्ति का अधिष्ठान वस्तु का आभ्यतर होता है। चाहे उस आभ्यतर का अस्तित्व कितना ही सूक्ष्म क्यो न हो, किन्तु बिना उसके बाह्य की स्थिति सभव नही। श्री अरविन्द का मत है कि जिन शब्दो को हम अपनी वक्तृता मे प्रयोग मे लाते है, उन्हे हम यदि गहराई से न देखे और केवल उनके वाह्यस्वरूप पर ही दृष्टिपात करे। तो वे हम अपने विचारो, भावनाओ अथवा अक्षणो (Perception) की अभिव्यक्ति के साधनो के अतिरिक्त और कुछ न प्रतीत होगे। किन्तु यदि हम उनके अभ्यतर स्वरूप को जो कि मनोवैज्ञानिक है, देखने की चेष्टा करेगे तो हमे इस बात का पता चलेगा कि वह कौन सी शक्ति है जिससे हमारी वैखरी शक्ति ग्रहण करके प्राय साकार और जीवन्त बनती है। उसमे प्रभावोत्पादकता आती है। श्री अरविन्द के मत से वह एक सूक्ष्म चैतन्य शक्ति है जो ध्वनि-शरीर का प्राण है। वह एक अतिचेतन प्राकृतिक शक्ति है जो हमारे अवचेतन से सामग्री प्राप्त करती है और फिर शनै शनै. अपनी चेतनता का प्रभाव मानव-मस्तिष्क पर डालती है, जिसके फलस्वरूप मानव मस्तिष्क का विकास मूलत. एक ही प्रकार से होता है, किन्तु फिर भी भाषा मे वैभिन्य होता है। यह वही शक्ति है, जिसको प्राचीन वैदिक ऋषियो ने 'वाक्' की सज्ञा दी है, जो वाणी की देवी है। तान्त्रिको का मत इसके विषय मे वैदिक ऋषियो से बिल्कुल पृथक् है। उनका कहना है कि यह शक्ति (वाक्) विभिन्न सूक्ष्म स्नायविक केन्द्रो के मध्य कार्य करती है। उसकी यह क्रिया उच्च से उच्च स्तर तक अपना आयाम रखती है और इस प्रकार शब्द के सत्य और साक्षात्कार के अभिव्यजन-सबधी अनेक वर्ग होते है। इनमे से एक वर्ग का नाम पश्यती है, जिसका अर्थ है शब्द को देखना। कवि की मन-स्थिति जब इस धरातल पर होती है तो वह मौलिक काव्य की सृष्टि करता है। इसी स्थिति मे कवि महान् काव्य-सृष्टि करता है।

१. द फ्यूचर पोएट्री, फर्स्ट एडीशन, चैप्टर ३१, पेज १८०

पश्यती वाक् के साक्षात्कार-क्षमता और अभिव्यक्ति-क्षमता (पावर आफ विजन एण्ड एक्सप्रेशन आफ विजन) के अनुसार विभिन्न वर्ग होते हैं। प्रथम और सबसे साधारण शक्ति, काव्य का समानुपातिक स्वरूप है। इसके द्वारा हम काव्य को गद्य से पृथक् समझते है, क्योकि वही शक्ति है जो भावुक अभिव्यजन और लयबद्धता के कारण चिन्तनशील गद्य से कविता के स्वरूप की पृथक् प्रतिष्ठा करती है और उसे अधिक प्रभावशाली और सवेदनशील बनाती है तथा इसी के परिणाम-स्वरूप हम न केवल नपे-तुले ढग से विचारणा करते है, वरन् वस्तु अथवा विचार को रमणीय और सरस ढग से देखते है।

अभिव्यजन की दूसरी शक्ति इस समानुपातिक सुन्दर और पूर्ण गम्भीरता से ऊपर आती है और अधिक शक्तिशाली तथा समृद्ध अभिव्यजन को जो केवल ध्वनि और काव्य दृष्टि तक ही सीमित नही है, वरन् जो गत्यात्मक और अतिशय रूप से प्रभावोत्पादक है—अभिव्यक्ति देने का प्रयास करती है।[1]

श्री अरविन्द के शब्द सबधी विवेचन को निम्न निष्कर्षों के अन्तर्गत देखा जा सकता है —

१—शब्द मे महान् शक्ति होती है, जो कवि शब्द की इस जीवन्त शक्ति से अभिन्न है, उसी के काव्य मे जीवन प्रदायिका शक्ति होती है।

२—शब्द के अन्तर्गत दो प्रकार की शक्ति होती है—

(अ) हमारे बाह्य को प्रभावित करती है तथा,

(ब) हमारे अभ्यतर को जागृत करती है।

३—शब्द का प्रादुर्भाव भौतिक और वैज्ञानिक धरातल पर नही है, वरन् आभ्यन्तर तथा आत्मिक है। उसे परासवित् स्फूर्त समझना चाहिए।

४—वैदिक ऋषियो ने इसे वाक् के नाम से अभिहित किया है, जो वाणी की देवी है तथा तान्त्रिको ने इसे चार वाणियो मे वर्गीकृत किया है, जिसमे महान् कवि की रचनाओ को वे पश्यती के अन्तर्गत ग्रहण करते है।

५—शब्द की प्रथम शक्ति गद्य की नीरसता और चिन्तनशीलता से कविता को पृथक् करके उसे भावमय तथा लयात्मक स्वरूप प्रदान करती है तथा दूसरी शक्ति कविता को अधिक ध्वन्यात्मक, अधिक समृद्ध काव्य-दृष्टि सम्पन्न, गत्यात्मक और प्रभावोत्पादक रूप प्रदान करती है।

उपर्युक्त निष्कर्षो से यह सिद्ध होता है कि शब्द के अन्तर्गत महती जीवनी शक्ति होती है और जो कवि उस शक्ति को पहिचान कर अपने काव्य मे उसी के अनुकूल शब्द-सस्थापन करता है, उसी का काव्य शाश्वत हो सकता है। उसी के

१—दि फ्यूचर पोयट्री, फर्स्ट एडीशन, चैप्टर ३१, पृ० ३८१ ८२, ८३ तथा ३८४।

द्वारा राष्ट्र-जीवन मे प्राण-सचार सभव है और ऐसा काव्य जिस राष्ट्र को सजीवनी के रूप मे प्राप्त है, वही अन्य राष्ट्रो और देशो की सस्कृतियो के मिट जाने पर अनन्तकाल तक जीवित रहेगा।

कविता और छन्द

आधुनिक युग मे यह विवाद अतिशय रूप से जोर पकडता जा रहा है कि कविता को छन्द-बद्ध होना अनिवार्य अथवा आवश्यक नही। इसके प्रमाणस्वरूप रवि बाबू के गद्य-गीतो मे एक विशेष प्रकार की लयात्मकता है, जो उसे पद्यमय तथा सगीतात्मक बनाती है। रवि बाबू की गीताजलि का विशेष महत्व उसके सगीत और काव्य-तत्व को लेकर उतना नही है जितना उसकी विचार-सपत्ति और दार्शनिकता को लेकर। उनके वे गीत जो छन्द-बद्ध और संगीतमय है, बगाल और देश-विदेश मे उत्कृष्ट काव्य के रूप मे स्वीकार किये जाते है।

कविता और छन्द के सबध मे अरविन्द ने भी विचार किया है। उनका कहना है कि एक दृष्टिकोण से कविता मे लय-बद्ध छन्द का प्राथमिक महत्व है; क्योकि यह प्रथम मौलिक तथा अनिवार्य तत्व है जिसके बिना अन्य सभी काव्य-तत्व चाहे वे कितने ही मूल्यवान हो कविता की रसाविष्टता के लिए व्यर्थ होते है। बहुधा काव्य को उत्कृष्ट छन्द-बद्ध लयात्मकता, चाहे उसकी काव्यदृष्टि शिथिल हो और वह शिल्प की गभीरता से भी परे हो, अमर बना देती है। किन्तु, यह केवल छन्द-बद्ध लयात्मता ही नही है चाहे वह शिल्प की समग्र उत्कृष्टता ही क्यो न लिए हुए हो, जिसे हम काव्यात्मक गति (पोएटिक मूवमेट) कहते है, वह समग्रता तो केवल पहला कदम मात्र है, केवल भौतिक आधार है और फिर आभ्यतर के सगीत पर बल देते हुये वे कहते है कि उसमे एक अत्यधिक गभीर तथा सूक्ष्म सगीत का समावेश होना चाहिये, जिसे वे लयात्मक आत्मा की गति की सज्ञा देते है, जो छन्द मे प्रविष्ट होकर बहुधा उसे आप्लावित कर लेता है और इसके पश्चात् यथार्थ काव्य की उपलब्धि का श्रीगणेश होता है। मात्र छन्द का शिल्प-वैभव, चाहे वह कितना ही सूक्ष्म, समृद्ध अथवा विभिन्न रूप वाला हो, केवल वाह्य श्रवणेन्द्रिय को ही सन्तुष्ट कर सकता है और सर्जना के गभीर उद्देश्यो की पूर्ति नही कर पाता, क्योकि आभ्यतर के भी एक श्रवणेन्द्रिय है और जिसका अधिकार वाह्य कर्णेन्द्रिय से कही अधिक है, उस तक काव्य का पहुचना और सन्तुष्ट करना आलाप (सगीत) और छन्द के सृष्टा-निर्माता कवि का प्रमुख उद्देश्य है।

श्री अरविन्द छन्द के महत्व को आध्यात्मिक स्तर पर स्वीकार करते है। उनका कहना है कि यद्यपि 'मिल्टन' ने छन्द की प्रशंसा नही की और उसको महत्वपूर्ण नही कहा जिसे उसने अपनी प्रारभिक रचनाओ मे बडी कुशलता के साथ प्रयोग किया है, और उसके उस काव्य मे यद्यपि औदात्य कम है, तथापि

काव्य-सौन्दर्य अत्यधिक है। या तो वह छन्द के आध्यात्मिक मूल्य उसकी, संगीतात्मक शब्द-व्यवस्था, सगत्यात्मक पुनरावृत्ति (रि-अकरेन्स) जो कविता को सतुलित गति प्रदान करती है, उसकी प्रकृति को जो प्रेरणा के लिए क्रमश. द्वार उद्घाटित करती है, उसकी सौन्दर्याभिव्यक्ति की क्षमता जो हमारे अन्तर्गत अति-बौद्धिकता के रूप मे वर्तमान है और जिसको जागृत करने की क्षमता सगीत को ही है, को भूल गया है या जान-बूझ कर तिरस्कार किया है। ह्विटमैन ने तो इस सबध मे लिब्टन से भी अधिक भूल की है। जब मानव ने मन और आत्मा पर प्रभाव डालने और अधिकार पाने के लिए विचार तथा भाव-शक्ति ध्वनि के सतुलित पुनरावर्तन के अन्तर्गत खोज लिया तो इसका अर्थ यह नही है कि वे केवल कलात्मक चित्र (डिवाइस) का ही अन्वेषण कर रहे थे किन्तु मनोवैज्ञानिक के सूक्ष्म तत्व की जिसकी चेतन प्रक्रिया (थ्योरी) वैदिक परपरा मे सुरक्षित है की टोह मे थे। प्राचीन भारतीयो की चिन्तना उपपत्तिया निरर्थक श्रम के रूप मे नही थी चाहे वह दर्शन अथवा विज्ञान-सबधी हो अथवा अन्य कानून सबधी; इसी लिए उन्होने उसे स्थायित्व प्रदान करने के लिए उसे पद्यबद्ध किया। यह कार्य उन्होने मात्र-स्मृति (याददाश्त) के लिए ही नही किया—क्योकि वे वैदिक प्रार्थनाओ तथा पद्य-बद्ध उपनिषदो के समान ही गद्यमय विशाल-काय ब्राह्मण-ग्रन्थो को कठस्थ करने मे पूर्ण समर्थ थे—वरन् उन्होने अनुभव किया था कि छन्द बद्ध कथ्य सरलता से चिरकाल तक केवल सुरक्षित ही नही रह सकता, किन्तु उसमे गद्य की अपेक्षा प्रकृत्या अधिक शक्ति भी आ जाती है। वह केवल अपनी गभीर ध्वन्यात्मकता के कारण ही मूल्यवान नही हो जाता, वरन् उसके कारण भाषा मे अनिवार्य रूप से शक्ति आ जाती है और वह हमे उच्च धरातल पर प्रतिष्ठित कर देता है। वैदिक विचारणा मे कदाचित् यह सत्य सन्निहित है कि ऋषियो ने ससार के ससरण को छन्द-बद्ध किया है और वह इसलिए, क्योकि वे कौसमिक मीटर्स (Cosmic Meteres) के लिए पूर्ण ईमानदार थे, जिसको आधारभूत ससार-ससरण बिना किसी परिवर्तन के अपने अतर्गत सजोए हुए था। वह एक सतुलित सगति (हारमोनी) है जो सर्जित वस्तुओ के अमरत्व मे सूक्ष्म पुनरावर्तन की प्रक्रिया द्वारा स्थिर है और छन्द की गतिमहा केवल रचनात्मक ध्वनि है जो अपनी रहस्यात्मक शक्ति से चेतना प्राप्त करती है।[1]

किन्तु श्री अरविन्द छन्द को ही कविता की समग्र-साज-सज्जा के रूप मे नही स्वीकार करते वरन् उनका कहनाहै कि छन्द तो मात्र कविता का शिल्प है। वह तो केवल उसका बाह्य अथवा भौतिक रूप है, जो कविता को प्रभावशाली बनाता है। काव्य का लक्ष्य मात्र कला-विदग्धता अथवा भौतिक श्रवण ही नही है, वरन् वह तो कोई आभ्यतर वस्तु है जो गुप्त सगतियो की प्रतिध्वनि को बाहर लाना चाहती है जो हमारे अन्तरतम की सगीतमयी रहस्यात्मक अनन्तता है। वह बौद्धिक व्यवस्था

१. द फ्यूचर पोएट्री, फर्स्ट एडीशन, चैप्टर ३, पेज (२५-२६)

का श्रम भी नही है और न वह सौन्दर्य भावना ही है जिसे कवि ने प्राप्त कर लिया है, वरन् वह आत्मा का अपने अन्तस् का श्रम है जिसके द्वारा वह अपनी शाश्वत गहराई के उच्छलन द्वारा कुछ बाहर निकालना चाहती है। अन्य गुणो का भी अपने स्थान पर महत्व है, किन्तु सामूहिक गति देने वाली स्वय आत्मा ही है जो अपने उच्चतर तथा अविश्लेषणीय ढगो से अपने कार्य का सपादन करती है। इसका परिणाम अलौकिक सगीत है, जिसे शब्द द्वारा प्रसृत सगीत कभी प्राप्त नही कर सकता और इसी के द्वारा आत्मा की जीवनीशक्ति आत्म-भावना, गभीर अधिमानस की महता (सुप्रामेटिकल सिग्नीफिकेंस) प्राप्त होती है। इन उच्च सगतियों तथा आलापो (मेलोडीज) द्वारा छन्द-बद्ध लय एक आध्यात्मिक रूपमे ग्रहण की जाती है। कभी कभी वह इतनी आपूर्यमाण हो जाती है अथवा एक ऐसे सगीत मे खो जाती है जो वास्तव मे एक अन्य रहस्यात्मक आध्यात्मिक गति की प्रदायक होती है।

काव्यात्मक गतिमत्ता के गाभीर्य द्वारा ही काव्य के अभिव्यजन की महती सम्भावना उत्पन्न होनी है। यह बात छन्द-गति पर आधारित होती है। किन्तु या तो वह स्वय इसे धारण करती है या उसके द्वारा धारण की जाती है और उसमे (छन्द की गति मे) पहले से महत्तर सगीत-तत्व प्रवाहित होता है, जो उसका अतिक्रमण कर जाता है, किन्तु फिर भी उन सभावनाओ को जो मत्र सगीत के सुनने के लिए उपयुक्त होती है, प्रस्तुत करता है। यही आत्मा की भौतिक साधन की कठिनाइयो और मीमाओ के ऊपर विजय है। इस सगीत को श्रवण करने वाली वही शाश्वत आत्मा है, जिसको उपनिषद कर्ण का कर्ण कहते है, वई श्रवणेन्द्रिय जो सब कुछ सुनती है और जो 'शब्द और वाक् का आधार है।' और वह अपने स्वकीय चिन्तन और साक्षात्कार (विलयन) जिसको कि वह स्वय सुन रहा है, की अनिवार्य सगतियां है।[1]

श्री अरविन्द के उपर्युक्त छन्द-सम्बन्धी मत का निष्कर्ष निम्न प्रकार से रखा जा सकता है :-

१—श्री अरविन्द का मत है कि काव्य के लिए छन्द का प्राथमिक महत्व है, क्योकि छन्दाभाव मे कविता मे रस की सभावना नही की जा सकती जो, काव्य का प्राण है।

२—काव्य-दृष्टि के शिथिल होने के बावजूद, छन्द-बद्ध लयात्मकता काव्य को अमर कर देती है।

३—किन्तु, वे छन्द और लय को काव्य-उद्देश्य के प्रथम कदम के रूप मे ही स्वीकार करते है। किन्तु उनकी स्थापना है कि कविता मे छन्द-द्वारा प्रसूत सगीत स्थूल कर्णेन्द्रिय मे प्रविष्ट होकर आभ्यान्तर कर्णेन्द्रिय को

१—द फ्यूचर पोएट्री, फर्स्ट एडीशन, चेप्टर ३८, पेज २९-३०.

आविष्ट कर लेता है और तभी आत्मानन्द की प्राप्ति होती है। अस्तु, काव्य का उद्देश्य केवल वाह्य श्रवणेन्द्रिय को सतुष्ट करना नही है, वरन् अन्तस की कर्णेन्द्रिय को परितृप्त करना है।

३—श्री अरविन्द काव्य के महत्व को केवल भौतिक धरातल पर ही नही, वरन् आध्यात्मिक धरातल पर भी स्वीकार करते है और आध्यात्मिक स्तर पर काव्याभिव्यक्ति और काव्यानुभूति छन्द-लय द्वारा प्रसूत सगीत से ही प्राप्त हो सकती है।

अमर और स्थायी काव्य तथा श्री अरविन्द

कार्लमार्क्स तथा अन्य विदेशी दार्शनिको तथा मनोवैज्ञानिको की स्थापनाओं के द्वारा जहाँ विचार तथा अर्थ-क्षेत्र मे एक व्यापक क्रान्ति के दर्शन होते है, वही साहित्यिक मूल्यो को भी उन्होने आमूल झकझोर दिया है। कविता तथा साहित्य की अन्य विद्याओ के लिए प्राचीन साहित्य-शास्त्रियो की यह मान्यता है कि यदि उनकी सर्जना शाश्वत-भावनाओ के सवेदनो द्वारा हुई है तो वह काव्य या साहित्यक विद्या अमर हो सकती है। किन्तु, इसके विरोध मे आधुनिक दार्शनिको और मनोवैज्ञानिको की स्थापना है कि जब काल के प्रवाह मे कोई भी पदार्थ स्थिर नही रहता और प्रत्येक वस्तु परिवर्तित होती है तो उसी का आधार लेकर निर्मित होने वाला साहित्य कैसे अमर हो सकता है!

श्री अरविन्द ने भी इस विषय पर विचार किया है। उनके अनुसार 'वह काव्य कभी अमर नही हो सकता जो वाह्य प्रभावान्विति पर बल देता है अथवा तात्कालिक जीवन और विचार और अनुभव के आधार पर रचा गया है। उसकी प्रभाव-व्याप्ति तात्कालिक होती है। किन्तु उसमे सार्वकालिक प्रभाव और शक्ति का एकान्त अभाव होता है' चाहे फिर उसका शिल्प कितना ही सशक्त क्यो न हो। वह अन्त.सार शून्य होता है। वह कदाचित् इसीलिए असफल होता है, क्योकि उसका सम्बन्ध तात्कालिक बलवती वस्तुओ और परिस्थितियो से होता है किन्तु उनसे नही जो शाश्वत तथा अमर है[1]।

श्री अरविन्द के उपर्युक्त मत से यह भली भाँति स्पष्ट है कि वे काव्य की नित्यता अथवा अमरत्व पर विश्वास करते है। उनके मत से यदि काव्य का विषय महान् है और शाश्वत भावो पर आधारित है तो वह काव्य सहस्राब्दियो तक जीवित रह सकता है। किन्तु, यदि कवि की दृष्टि तात्कालिक समस्या और परिस्थितियाँ तक सीमित रह गई हो, तो उन परिस्थितियो और समस्याओ के समाप्त हो जाने पर काव्य की भी प्रभाव-व्याप्ति समाप्त हो जायगी और वह काव्य अतीत के गर्भ मे चला जायगा।

१—द फ्यूचर पोएट्री, फर्स्ट एडीशन, चेप्टर २८, पेज ३४१

श्री अरविन्द की नूतन दार्शनिक स्थापना और कविता

कुछ विद्वानो ने कविता को दर्शन-सयुक्त होना परमावश्वक माना है, क्योकि उनके मत से कविता अपनी शिल्प सपत्ति तथा भाव-वैभव के माध्यम से जो कुछ देती है, वही उसका अभिप्रेत होता है । और उसी के स्वागत के लिए उसकी उपर्युक्त साज-सज्जा (शिल्प) और भाव-गरिमा होती । उनके मत से काव्य का वह अभिप्रेत सर्व मगलकारी दर्शन अथवा चिन्तन के अतिरिक्त और कुछ नही है, जो जीवन को स्फूर्ति देता है और उसके योग-क्षेम को बहन करता है । मार्क्स ने भी अपनी मान्यता मे काव्य के उपादेय तत्व को स्वीकार किया है और वह भी प्रकारान्तर से चिन्तन को स्वीकार करता है, पर इस प्रकार के विचारको के अतिरिक्त कुछ ऐसे भी चिन्तक है, जो काव्य को स्वय उसका उद्देश्य मानते है । किन्तु इस प्रसग मे इस विवाद मे न पड कर, श्री अरविन्द के एतद्‌विषयक विचार दिये जा रहे है ।

श्री अरविन्द एक सीमा तक काव्यान्तर्गत दर्शन को स्वीकार करते है । उनके एतद्‌सबन्धी विचारो का उल्लेख 'काव्य और दर्शन का सबध' शीर्षक स्तभ मे किया जा चुका है । किन्तु उन्होने अपनी दार्शनिक चिन्ता-धारा के परिप्रेक्ष्य मे काव्य की सगति भी बिठाई है । उनका कहना है कि भविष्य की कविता को ईश्वर को मानव जीवन के निकट लाना पडेगा, आत्म-चेतना के द्वारा अपने व्यक्तित्व और अस्तित्व को अनुप्राणित करना पडेगा, अनन्त की शक्ति और उसकी अभिव्यक्ति का अनुभव अपने मानसिक तथा भौतिक अस्तित्व को कराना होगा । साथ ही उसे आत्मा के एकत्व का अनुभव हमारे समग्र अनुभवो और भावनाओ मे तथा हृदय और मस्तिष्क का सम्बन्ध हमारे चारो ओर विखरे हुए जगत् के साथ कराना होगा ताकि हमारा जीवन स्वर्गीय बन सके, और ससार के कृत्रिम वर्गो के टट्टर गिर सके तथा अज्ञानता का अन्धापन समाप्त हो सके, जिससे मानव के लिए स्वर्ग के द्वार उद्‌घाटित हो सकें, ताकि प्रत्येक मानव और उसका वश (रेस) स्वर्गीय गुणो से सम्पन्न होकर पूर्ण हो सके । श्री अरविन्द की 'भविष्य की कविता' से यही कामना है और यह काव्य के द्वारा तभी सभव है, जब उसे दृष्टि प्राप्त हो, उसमें शब्द-शक्ति की समग्रता हो, आनन्द और सौन्दर्य का सान्निध्य हो जो सुन्दर काव्य की सृष्टि के लिए अभीष्ठ तत्व है[1] ।

श्री अरविन्द की कविता और स्वकीय दार्शनिक स्थापना से सम्बन्धी मत से निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते है :—

१—कविता का उद्देश्य केवल बात-चापल्यमात्र न होकर अत्यन्त गभीर है । कविता मे बडी सामर्थ्य है । उससे सभी कुछ सभव हुआ है और हो सकता है ।

---

१. द फ्यूचर पोएट्री, फर्स्ट एडीशन, चेप्टर २७, पेज ३३८-३३९

अस्तु ऐसी शक्तिशाली वस्तु का प्रयोग सतही-स्तर पर न करके उच्च और महान् कार्यो के लिए करना चाहिए। जब इससे स्वर्ग का सिंहासन प्राप्त हो सकता है तो फिर सासारिक कार्यों के लिए क्यो इसका उपयोग किया जाय। क्यो न इसके द्वारा अपने हृदय और मस्तिक को परमात्मा की अपूर्व छवि से भर लिया जाय।

२–भविष्य की कविता से उनकी दूसरी कामना है ब्रह्म कि की उस अनन्त शक्ति का अनुभव केवल मन मे ही नही वरन् मन के बाहर जगत् के प्रत्येक कण मे करावे। अर्थात् जड और चेतन एक ही परमात्मा से अर्प्यमाण है, इसके सिवा और कुछ भी नही है। वे जाति और रूप रग के सासारिक वर्गीकरण को कृत्रिम मानते है और उनकी कामना है कि भविष्य का कवि अपने काव्य के द्वारा इस दार्शनिक तथ्य को नगर-नगर ग्राम-ग्राम तथा प्रत्येक प्राणी तक पहुचाए।

३-किन्तु साथ ही वह यह भी चाहते है कि काव्य की दृष्टि काव्य सौन्दर्य तथा काव्यात्मा रस अथवा आनन्द मे किसी प्रकार की बाधा नही पडनी चाहिए। उनकी कामना है कि दर्शन भी काव्य से सबद्ध होकर अपने प्रकृत गुण चिन्तन को छोड कर भाव के माध्यम से अभिव्यक्त हो।

३

छायावादी काव्य और दर्शन

(श्री अरविन्द की काव्य-सबधी मान्यताओ के पश्चात् अब हम इस अध्याय मे यह देखने की चेष्टा करेगे कि हिन्दी का छायावादी काव्य श्री अरविन्द की एतद् सबधी स्थापनाओं से किस सीमा तक समानता रखता है और उस पर श्री अरविन्द का कितना प्रभाव है ।

वास्तव मे किसी देश की दार्शनिक उपपत्तियाँ ही उसके निवासियो के उदात्त-मन तथा सस्कृति की परिचायिका होती है, क्योकि वहा के मनीषी दीर्घकाल के चिन्तन-मनन के पश्चात् जीवन को व्यवस्थित तथा सुचारु रूप से चलाने के लिए जिन निष्कर्षों पर पहुँचे है, उन्ही से उस देश अथवा राष्ट्र की सस्कृति के अवयवों का निर्माण होता है । और सस्कृति ही अन्ततोगत्वा उस देश की वह धरोहर होती है, जिसकी नीव पर आगे आने वाली पीढियो की काया का निर्माण होता है, उन पर रक्त-मास चढता है, उनमे प्रतिभा, बुद्धि और सर्वोपरि अध्यात्म-चेतना अधिष्ठित होती है । यदि यह कहा जाय कि जिस देश का आध्यात्मिक-चिन्तन और दार्शनिक चिन्तना जितनी महनीय होगी, उतनी ही महान् उस देश की सस्कृति होगी तो कदाचित् अत्युक्ति न होगी ।

अध्यात्म की चरम उपलब्धि के लिए अध्यात्मवादियो ने योग मार्ग को सर्वश्रेष्ठ साधन के रूप मे स्वीकार किया है ।[1] किन्तु, योग की प्राय. समग्र पद्धतियाँ सासारिकता के एकान्त निषेध पर आधारित है, इसलिए उनमे आनन्द की अपेक्षा विरक्ति, सरसता की अपेक्षा नीरसता अधिक प्रतिष्ठित हो गयी है । अतएव, यह मार्ग (योग-मार्ग) सर्व साधारण के लिए ग्राह्य नही हो सका । किन्तु एक दूसरा भी मार्ग है जो ससार को समग्र रूप मे स्वीकार करता हुआ क्रमशः मानसी-वृत्तियो को उदात्त बनाता हुआ मानव-मन को चिरभिलषित आनन्द-सागर मे निमग्न कर देता है । यह सरस अथवा रसवादी मार्ग है साहित्य का, जो दर्शन की नीरस स्थापनाओ को भी अपने परिवेश मे रखकर सरस, सवेद्य और सर्वजन ग्राह्य बना देता है । दार्शनिक स्थापनाओ की सहज, सप्रेष्य, और आनन्दमयी अभिव्यंजना के लिए आधुनिक युग मे छायावादी काव्य अतिशय महत्तम भूमिका पर प्रतिष्ठित कहा जा सकता है । इस अध्यायमे मे छायावाद के प्रतिष्ठापक प्रमुख कवियो—'प्रसाद', 'निराला' और

---

१. 'प्रसाद और उनका साहित्य', पृ० १९–२० ।

महादेवी की रचनाओ की दार्शनिक मान्यताओ का सम्यक् विवेचन उपस्थित करने की चेष्टा की जा रही है।)

प्रसाद का काव्य और दर्शन

प्रमुख छायावादी कवियो के अन्तर्गत श्री जयशकर प्रसाद के काव्य के अन्तर्गत दर्शन का स्वरूप सर्वाधिक स्पष्ट उतरा है। इसके प्रमुख कारण उनकी अन्तर्मुखी-वृत्ति एव जीवन के परिवेण रहे है। उन्होने दीनबन्धु ब्रह्मचारी से सस्कृत का अध्ययन किया था और साथ ही उपनिषद् भी पढे थे।[1] उपनिषदो के अतिरिक्त वैदिक ग्रन्थो तथा वैष्णव और शैव-दर्शनो का भी विधिवत अध्ययन किया था। वे काश्मीरी शैव-दर्शन पर विशेष आस्था रखते थे।[1]

उपर्युक्त दार्शनिक अध्ययन और अन्तर्मुखी वृत्ति का प्रभाव उनके काव्य मे प्रभूत रूप से पडा है। 'प्रसाद' जी का जीवन-दर्शन लौकिकता को आध्यात्मिकता से समन्वित देखना चाहता है। उनके 'आंसू' काव्य के अन्तर्गत प्रेम की लौकिकता को सकीर्ण स्तर से उठाकर अलौकिक आध्यात्मिक-स्तर पर प्रतिष्ठित कर देने मे उनकी उपर्युक्त दार्शनिक चिन्तना की परिणति होती हुई दृष्टिगोचर होती है।

'लहर' की गौतम बुद्ध पर लिखी गई रचनाएँ भी उनकी दार्शनिक वृत्ति की परिचायिका है। किन्तु, इन रचनाओ मे जैसे 'प्रसाद' जी की दार्शनिक वृत्ति का श्रृखलित रूप नही प्राप्त होता, जैसे वे जो चित्र निर्माण करना चाहते हो उसके ये रग-मात्र हो, जिनके माध्यम से दर्शन का भव्य-चित्र अपनी अभिव्यक्ति का मार्ग खोज रहा हो। 'प्रसाद' जी ने अपनी दार्शनिक मान्यता का उदात्त चित्र अपने महाकाव्य 'कामायनी' मे कालान्तर मे अकित किया।)

'कामायनी' और 'प्रसाद' जी की दार्शनिक-मान्यता

'कामायनी' जहां एक ओर 'प्रसाद' जी के व्यक्तित्व का चरम रूप प्रस्तुत करती है, वही उसमे पुष्ट जीवन-दर्शन की भी अन्यतम स्थापना हुई है। किन्तु, इससे यह न समझना चाहिए कि प्रसाद जी साहित्य अथवा काव्य की भावयिनी धारा से कट कर दर्शन की नीरस वृत्ति के अनुयायी बन गये है। वस्तुत 'प्रसाद' जी ने दार्शनिक सिद्धान्तो को काव्य मे इस प्रकार नियोजित किया है कि वह भी साहित्य का सौन्दर्यमय स्पर्श पाकर भावमय हो गया है।

प्रत्यभिज्ञा-दर्शन

'कामायनी' मे यद्यपि दार्शनिक चिन्तना के अनेक रूप उपलब्ध होते है, फिर भी उसमे काश्मीरी प्रत्यभिज्ञा-दर्शन की प्रमुख-रूप से प्रतिष्ठा दृष्टिगोचर होती है।

१ 'प्रसाद' की याद, सस्मरण ५, मई धारा, माघ स० २००७, पृ० ७

२. प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के विस्तृत-सिद्धान्तो के लिए इस प्रबन्ध का प्रथम अध्याय द्रष्टव्य है।

अतएव सर्वप्रथम कामायनी से तत्सबधी उदाहरण प्रस्तुत किये जा रहे है।

प्रत्यभिज्ञा-दर्शन आत्मा को चिति के रूप मे स्वीकार करता है। 'प्रत्यभिज्ञा हृदयम्' मे इस चिति अथवा चिदात्मा को सर्वथा स्वतत्र माना गया है। (चिति· स्वतत्र, विश्वसिद्धि हेतु) यही चिदात्मा स्वेच्छा से विश्व का उन्मीलन करता है '—

'स्वेच्छया स्वमितौ विश्वमुन्मीतयति"

'प्रसाद' जी ने भी इसी चिति अथवा महाचिति के विलास को सृष्टि का रूप कहा है :—

"कर रही लीलामय आनन्द महाचिति सजग हुई-सी व्यक्त,
विश्व का उन्मीलन अभिराम, इसी मे सब होते अनुरक्त।"

—श्रद्धा सर्ग, पृ० ५३, अष्टम सस्करण।

यह स्वेच्छा से संसार का निर्माण करने वाली तथा इच्छा, ज्ञान एव क्रिया समन्वित है—

"सर्ग, इच्छा ही का है परिणाम"

—श्रद्धा सर्ग, पृठ ५३

*   *   *   *

"इस त्रिकोण के मध्य विन्दु तुम,
शक्ति विपुल क्षमता वाले ये।
एक-एक को स्थिर हो देखो,
इच्छा, ज्ञान, क्रिया वाले ये।"

—रहस्य सर्ग पृष्ठ २६२।

प्रत्यभिज्ञा दर्शन की जीवन संबधी मान्यता को भी 'प्रसाद' जी 'कामायनी' मे स्वीकार करते हुए प्रतीत होते है। मनु के व्यक्तित्व-विकास मे उनकी उपर्युक्त मान्यता की पुष्टि हो जाती है। 'प्रसाद' जी ने 'कामायनी' मे मनु का प्राथमिक स्वरूप, तीनो प्रकार के मलो और छ कचुको से आवृत प्रतिष्ठित किया है। जब तक वे इस स्थिति मे रहते है, उन्हे सही मार्ग का ज्ञान नही होता। मनु की यह आणव अथवा जैव स्थिति 'निर्वेद' सर्ग तक रहती है, जिसमे अभेद बुद्धि का एकान्त अभाव रहता है। निर्वेद से लेकर 'रहस्य' सर्ग तक वे शक्ति स्थिति मे रहते है, जहाँ उनका मन भेद-अभेद के झूले मे झूलता रहता है। किन्तु, आनन्द सर्ग मे जब उन्हे श्रद्धा द्वारा इच्छा-ज्ञान और क्रिया के त्रिकोण एक रूप होते हुए दृष्टिगोचर होते है तो उनके मन से द्विधा भाव मिटकर पूर्ण आनन्दमयी स्थित हो जाती है। यही मनु की शिवत्व की प्राप्ति है।

नियतिवाद

जीव और आत्मा-सबधी मान्यताओ के अतिरिक्त 'प्रसाद' जी ने नियति को भी प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के अनुरूप ही स्वीकार किया है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन मे नियति को ग्यारहवा तत्व स्वीकार किया गया है। अभिनवगुप्तपादाचार्य ने नियति को विशिष्ट कार्यों की योजना करने वाली शक्ति के रूप मे स्वीकार किया है।[1] मालिनी विजयोत्तर तत्र[2], मृगेन्द्र तन्त्र[3] तथा स्वच्छन्द तत्रमे[4] भी इसे विश्व के समग्र कार्यों की योजना करने वाली कहा गया है।

'प्रसाद' जी ने भी 'कामायनी' के अन्तर्गत नियति को विश्व-कर्म की सचालिका तथा नियोजिका के रूप मे स्वीकार किया है।[5] मानव-नियति द्वारा शासित होकर ही अनेक विध कार्यो मे व्यावृत होता है।[6]

नियति को 'प्रसाद' जी ने भी सर्व तत्र-स्वतत्र सत्ता के रूप मे स्वीकार किया है।[7] यह नियति एक ओर तो विश्व-कार्यो की सुनियोजना करती है और दूसरी ओर जगत् से उत्पन्न अहकारादि का भी सयमन करती है। इस कार्य को सपन्न करने के लिए वह एक भीषण अभिनेत्री के समान अभिनय करती है।[8]

प्रत्यभिज्ञा-दर्शन मे जहाँ नियति की इस प्रकार अपार शक्ति स्वीकार की गयी है, वही यह भी स्वीकार किया गया है कि जीवात्मा जब शिव तत्व को उपलब्ध कर लेता है तो फिर वह नियति के शासन से दूर हो जाता है। 'प्रसाद' जी ने भी रहस्य सर्ग के अन्तर्गत शैवागमो की इस मान्यता को इस प्रकार स्वीकार किया है :—

---

१. नियतिर्योजना धत्ते विशिष्टे कार्य मंडले।
(तन्त्रालोक, भाग ६, पृ० २६४)

२ मालिनी विजयोत्तर तत्र, पृ० ४।

३ मृगेन्द्र तत्र, पृष्ठ २१४।

४ स्वच्छन्द तत्र, भाग ५ (अ), पृष्ठ ४६०।

५ नियति चलाती कर्म चक्र यह। (रहस्य सर्ग, पृ० २६७)

६. उस एकान्त नियति शासन मे चले विवश धीरे-धीरे ॥
(आशा सर्ग, पृष्ठ ३४)

७. देखते थे अग्निशाला से कुतूहलयुक्त,
मनु चमत्कृत निज नियति का खेल बधन मुक्त। (वासना सर्ग, पृ० ८३)

८. इस नियति-नटी के अति भीषण अभिनय की छाया नाच रही।
(इडा सर्ग, पृ० २५८)

"निराधार है, किन्तु ठहरना हम दोनो को आज यही है,
नियति खेल देखूँ न, सुनो अब इसका अन्य उपाय नही है।"[1]

अस्तु, कहा जा सकता है कि 'प्रसाद' जी ने 'कामायनी' के अन्तर्गत नियति को परमात्मा की नियामिका शक्ति के रूप मे स्वीकार किया है। उसी के शासन मे विश्व के उत्थान-पतन होते रहते हैं। किन्तु, उसके शासन का आयाम विश्व तक ही सीमित है। जब जीवात्मा विश्व की परिखाओ को पार कर शिव-तत्व की ओर उन्मुख होता है, वह नियति के शासन से परे हो जाता है। 'प्रसाद' जी ने नियति को अहकारादि का नियत्रण करके विश्व को सुव्यवस्थित करने वाली और जीवात्मा को शिव की ओर प्रेरित करने वाली शक्ति के रूप मे प्रतिष्ठित किया है।

अभेदवाद और आभासवाद

प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के अनुसार शिव से लेकर पृथ्वी तक एक चिति रूप शिव से अभेद रूप मे स्फुटित माना गया है। यह समग्र जड-चेतन विश्व, प्रकाश रूप शिव ही है। वास्तव मे चिति रूप आत्मा ही देश-कालादि भेद से विभिन्न रूपो मे दृष्टि-गोचर होता है[2]। परन्तु, वास्तव मे वह मूल रूप मे एक ही है और अभेद रूप म विद्यमान है।[3]

इसी अभेदवाद को आभासवाद भी कहते है। ईश्वर प्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी के अनुसार चिति ही अपने दर्पण मे समग्र पदार्थों को प्रतिबिब के समान आभासित करती है,[4] इसी कारण इसे 'आभासवाद' कहते है।

प्रत्यभिज्ञा-दर्शन की इस अभेदवादी अथवा आभासवादी स्थापना को प्रसाद जी ने भी अपनी कामायनी के अन्तर्गत स्वीकार किया है। उनकी एतद्विषयक मान्यता 'कामायनी' के प्रारभ से ही प्रकट होती है, जब वे जड-चेतन को अभिन्न रूप मे स्वीकार करते है[5]।

समरसता का सिद्धान्त

प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अन्तर्गत समरसता का भी महत्वपूर्ण स्थान है। स्वच्छन्द तत्र के अनुसार समरसता को नदी—समुद्र-सयोग के रूप मे स्वीकार किया गया है।

---

१. रहस्य सर्ग, पृ० २६०
२. प्रत्यभिज्ञा हृदयम्, पृ० ८
३ —स चैको द्विरूपास्त्रिमयश्चतुरात्मा सप्तपचक स्वभाव ।
प्रत्यभिज्ञा हृदयम् ।।१।७।।
४ चेतनोहि स्वात्मदर्पणे भावान् प्रतिबिम्बवत आभासयति इति सिद्धान्त· ।
[ईश्वर प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, भाग २, पृ० १५३]
५. एक तत्व की ही प्रधानता, कहो उसे जड या चेतन। (कामायनी, पृ० ३]

जिस प्रकार नदी, समुद्र को प्राप्त करके अपने अस्तित्व को खोकर उसके साथ एक रूप हो जाती है, उसी प्रकार आत्मा, परमात्म-भाव को प्राप्त कर सर्वतोभावेन शिव रूप हो जाता है, इसे ही सामरस्य स्थिति कहते है।[1] श्री अभिनवगुप्ताचार्य के मतानुसार "आनन्द शक्ति मे विश्रान्ति उपलब्ध करने के पश्चात् योगी को समरसता की स्थिति प्राप्त होती है।"[2] साथ ही उनका यह भी कहना है कि समरसता की स्थिति प्राप्त हो जाने पर पूर्ण अद्वैत स्थिति हो जाती है।[3]

इस सामरस्य का अधिकारी प्रत्येक व्यक्ति है। इसके लिए दीर्घ-लघु का विभेद नही है। 'प्रसाद' जी ने प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के इसी सिद्धान्त को अपनाते हुए कामायनी मे कहा है—

"नित्य समरसता का अधिकार उमडता कारण जलधि समान।"[4]

वास्तव मे वैषम्य लघुता एव सकीर्णता का जनक है, समरसता मे विशालता अथवा व्यापकता है। इसी विषमता के नष्ट होने पर समरसता अथवा अद्वैत स्थिति प्राप्त होती है। 'प्रसाद' जी ने इस विषमता के कारण की ओर सकेत करते हुए कहा है कि जीवन मे यह वैषम्य ज्ञान, क्रिया और इच्छा के पार्थक्य के कारण उपस्थित होता है—

"ज्ञान दूर कुछ, क्रिया भिन्न है,
इच्छा क्यो हो पूरी मन की।
एक-दूसरे से मिल न सके,
यह विडम्बना है जीवन की।।"[5]

इन्ही इच्छा, ज्ञान, क्रिया के पार्थक्य को समाप्त करने के पश्चात् मनु के अह का समग्र रूप से निरसन हो जाता है और वे 'अय, पर' के भेद से उठकर समरमता को प्राप्त करते है।

'मनु ने कुछ कुछ मुसक्या कर,
कैलास ओर दिखलाया।
बोले 'देखो कि यहाँ पर
कोई भी नही पराया।

१. स्वच्छन्द-तत्र, भाग २, पृ० २७६-२७७।
२ आनन्दशक्ति विश्रान्ते योगी समरसौ भवेत्,
तत्रालोक, भाग १, पृ० २९।
३. तत्रालोक, भाग १, पृ० २९
४ कामायनी, श्रद्धा सर्ग, पृ० ५४।
५. 'कामायनी', पृ० २७२

हम अन्य न और कुटुम्बी,
हम केवल एक हमी है ।
तुम सब मेरे अवयव हो
जिसमे कुछ नही कमी है ।
शापित न यहाँ है कोई,
तापित पापी न यहा है,
जीवन-बसुधा समतल है
समरस है जो कि जहाँ है ।"[1]

इस प्रकार 'प्रसाद' जी ने प्रत्यभिज्ञा दर्शन के समरसता सिद्धान्त की भी कामायनी मे सुनियोजना की है ।

प्रत्यभिज्ञा दर्शन का आनन्दवाद और कामायनी

प्रत्यभिज्ञा दर्शन मे आनन्द की उपलब्धि को चरम आध्यात्मिक उपलब्धि के रूप मे ग्रहण किया गया है । 'नेत्र-तत्र' के अनुसार ब्रह्म का स्वरूप परमानन्द ही है ।[2] तन्त्रालोक के अनुसार अनुतरावस्था के भीतर आनन्द की उपलब्धि होती है[3] । 'प्रसाद' जी ने भी शैव-दर्शन की इसी आनन्दवादी धारा को कामायनी के अन्तर्गत ग्रहण किया है । 'प्रसाद' जी ने 'कामायनी' मे इस आनन्द-वृत्ति को जड-चेतनादि-विभेदो से पृथक् सर्वथा अद्वैत स्थिति मे रखा है —

"समरस थे जड या चेतन,
सुन्दर आकार बना था ।
चेतनता एक बिलसती
आनन्द अखण्ड घना था ।"[4]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि 'प्रसाद' जी ने काव्य की सरस तथा आनन्दमयी भाव-भूमि पर प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के साग रूप को अत्यन्त सुन्दर ढग से प्रतिष्ठित किया है ।

यद्यपि 'प्रसाद' जी मूलत: और विशेषत· प्रत्यभिज्ञा दर्शन से ही प्रभावित रहे है, फिर भी उनके काव्य के अन्तर्गत कुछ अन्य दार्शनिक विचारधाराओ का प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है । इनमें प्रमुख है बौद्ध-दर्शन, न्याय-वैशेषिक-दर्शन (परमाणु-वाद) तथा मार्क्स द्वारा प्रतिष्ठित भौतिकवाद ।

---

१. कामायनी, पृ० २८७-२८८
२. यततदिति ब्रह्म परमानन्द रूपम् । नेत्र तंत्र, भाग २, पृ० २६
३. अनुतर यतचेकं तच्येदानन्द सूतये । तत्रालोक २/२/१६०
४. कामायनी, आनन्द सर्ग, पृ० २९४

बौद्ध-दर्शन (दु खवाद)

बौद्ध-दर्शन की प्रमुख स्थापनाएँ है, दु खवाद, क्षणिकवाद 'और करुणा। बौद्ध-दर्शन ससार को दु खमय मानता है। भगवान बुद्ध द्वारा प्रतिष्ठित चार आर्य सत्य दु:ख पर ही आधारित है। गौतम बुद्ध ने भिक्षुओ को उपदेश देते हुए जन्म से लेकर मृत्यु तक प्राय. सभी सबधो और प्रसगो का मूलाधार दु ख ही बतलाया है।[1] 'प्रसाद जी वस्तुत. आनन्दवादी कवि है, फिर भी सनके 'आँसू' और कामायनी के अन्तर्गत बौद्ध-दर्शन के दु:खवाद से प्रभावित कुछ पक्तिया यत्र-तत्र बिखरी मिल ही जाती है। उनकी एतद्विषयक कुछ पक्तिया इस प्रकार है :—

१. वेदना विकल फिर आई, मेरी चौदहो भुवन मे
सुख कही न दिया दिखाई, विश्राम कहाँ जीवन मे।[2]

२. उमड़ रहा है देव सुखो पर,
दु ख जलधि का नाद अपार।[3]

३. व्यथा की नीली लहरो बीच,
बिखरते सुख मणिगण द्युतिमान।[4]

४ इस दुखमय जीवन का प्रकाश
नभ नील लता की डालो मे उलझा अपने सुख से हताश।[5]

५. विश्व, कि जिसमे दुख की बाधी,
पीडा की लहरी उठती।"[6]

उपर्युक्त उद्धरणो से यह भली भाँति स्पष्ट है कि 'प्रसाद' जी भगवान् बुद्ध द्वारा प्रतिष्ठित दु:खवाद से प्रभावित रहे है।

क्षणिकवाद

दु खवाद के समान ही बौद्ध-दर्शन ससार को परिवर्तनशील देखकर उसे क्षणिक कहता है। बौद्ध-दर्शन ने इसकी तुलना दीपक की लौ से की है। मिलिन्द-प्रश्न के अनुसार जब राजा मिलिन्द नागसेन से प्रश्न करता है कि जो व्यक्ति उत्पन्न होता है, क्या यह वही व्यक्ति है या दूसरा ? नागसेन ने उत्तर दिया 'न वही है और न दूसरा।' उन्होने फिर दीपक का उदाहरण देते हुए बतलाया कि जो दीपक रात्रि

---

१. बौद्ध-दर्शन, पृ० ६४
२ आसू, पृ० ५५
३. कामायनी, पृ० ८
४. कामायनी, पृ० ५४
५. वही, १५८
६. वही, २२३

के प्रथम पहर मे जलता है, वही रात भर नही जलता रहता। रात के प्रथम क्षण की दीपशिखा से आने वाले समय की दीपशिखा मे निरतर परिवर्तन होता रहता है, यद्यपि दीपक एक ही ह.ता है। यही दशा आत्मा की भी है। इस परिवर्तन को देख कर ही जगत के पदार्थों की क्षणभगुरता का अनुभव होता है।[1]

'प्रसाद' जी की कविता के अन्तर्गत भी बौद्धो की इस स्थापना का यत्र-तत्र सकेत मिल आता है :—

१ "मौन ! नाश विध्वस ! अँधेरा !
शून्य बना जो प्रकट अभाव,
वही सत्य है, अरी अमरते।
तुझको यहा कहा अब ठाँव।
मृत्यु अरी चिर निद्रे ! तेरा
अक हिमानी सा शीतल,
तू अनत मे लहर बनाती
काल-जलधि की-सी हलचल ?"

२. जीवन तेरा क्षुद्र अंश है,
व्यक्त नील घनमाला मे
सौदामिनी सन्धि सा सुन्दर
क्षण भर रहा उजाला मे।[2]

३ यह स्फुलिग का नृत्य एक पल आया बीता।
टिकने को कब मिला किसी को यहा सुभीता।"[3]

इस प्रकार प्रसाद जी के काव्य के अन्तर्गत-जीवन-परिवर्तन के सन्दर्भ मे उसकी क्षण भगुरता का उल्लेख प्राप्त होता है और इसे बौद्ध-दर्शन का प्रभाव कहा जा सकता है।

करुणा

बौद्धो के क्षणिकवाद के समान ही प्रसाद जी ने उनकी करुणा विषयक विचार-धारा को भी अपने काव्य मे स्थान दिया है यद्यपि करुणा सबधी यह मान्यता बौद्धो के अतिरिक्त वैष्णवो मे भी उसी महत्ता के साथ प्रतिष्ठित मिलती है।[4] फिर

१ बौद्ध-दर्शन, पृ० १०४–१०५
२ कामायनी, पृ० १८
३ वही, १९
४. वही १९०
५. पातजलि योग दर्शन १/३३
श्री मद्भगवद्गीता, ११/१३

भी बौद्ध-दर्शन ने इस भावना को अधिक प्रकर्ष दिया और इसी कारण करुणा या महाकरुणा बौद्ध-दर्शन का विशेष अ ग बन गयी ।

कामायनी मे प्रसाद जी ने इस भावना को श्रद्धा-द्वारा पोषित पशु और किलात-आकुलि के प्रसग मे दिखलाया है । उस स्थल पर श्रद्धा के मुख से करुणा की महनीय प्रतिष्ठा कामायनी की अपनी वस्तु है :—

''औरो को हँसते देखो मनु
हँसो और सुख पाओ,
अपने सुख को विस्तृत कर लो,
सब को सुखी बनाओ ।।[1]

इन पक्तियो से स्पष्ट होता है कि करुणा की भावना से हृदय मे विशालता और उदारता का विस्तार होता है और मानवता के उत्कृष्ट गुणो मे से अहिंसा भावना का प्रादुर्भाव होता है, जिससे मानवता सुख-समृद्धि मे भर जाती है ।

परमाणुवाद और प्रसाद जी

'**कामायनी**' के अध्ययन से सिद्ध होती है कि 'प्रसाद' जी न्याय-वैशेषिक द्वारा प्रतिष्ठित परमाणुवाद से भी प्रभावित रहे है । न्याय-वैशेषिक दर्शन की मान्यता है कि पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वायु की सृष्टि परमाणुओ द्वारा हुई है । सबसे पहले दो परमाणुओ के सयोग के दो अणु-सयुक्त सृष्टि हुई । इसके पश्चात् तीन द्वयणुको के सयोग से त्रयणुक उत्पत्ति हुई । इसी प्रकार चार त्रयणुको द्वारा चतुष्णुक सृष्टि हुई और चतुष्णुक के उपरान्त उत्तरोत्तर स्थूल से स्थूलतर और स्थूलतम पदार्थों की सृष्टि होती गयी ।[2]

कामायनी मे इस परमाणुवाद का सकेत निम्न पक्तियो मे दृष्टिगोचर होता है :—

''वह मूल शक्ति उठ खडी हुई,
अपने आलम का त्याग किये,
परमाणु बाल सब दौड पड़े,
जिसका सुन्दर अनुराग लिए।
कुकुम का चूर्ण उड़ाते से,
मिलने को गले ललकते से,
अन्तरिक्ष के मधु उत्सव के
विद्युत्कण मिले झलकते से ।

---

१. कामायनी, पृ० १३२

२. तर्क भाषा, ,, २४

वह आकर्षण, वह मिलन हुआ
प्रारभ माधुरी छाया मे,
जिसको कहते सब सृष्टि बनी,
मतवाली अपनी माया मे,
प्रत्येक नाश विश्लेषण भी
सश्लिष्ट हुए, धन सृष्टि रही ।[1]

इन पक्तियो मे कवि 'प्रसाद' जी ने अणु-परमाणुओ के सम्मिलन और उनके सश्लिष्ट स्वरूप द्वारा सृष्टि निर्माण का उल्लेख न्याय-वैशेषिक-दर्शन के अनुसार ही किया है ।

भौतिकवाद और प्रसाद पर उसका प्रभाव

भौतिकवाद की सक्षेप मे स्थापना यह है कि ससार के यावत् पदार्थो की उत्पत्ति भौतिक पदार्थ (मैटर) और गति (मोशन) द्वारा हुई है । विश्व-निर्माण का उपादान द्रव्य (मैटर) है और इसी से भौतिक पदार्थ मानव शरीर, मन आदि की रचना हुई है । वास्तव मे भौतिकवादी विचारधारा, आध्यात्मिक विचार-धारा का बिलकुल विलोम है जो सृष्टि का उद्भव और विकास चेतन-शक्ति से मानती है ।[2]

सर्व प्रथम भौतिकवादी चिन्तना का प्रवर्तन यूनानी दार्शनिक एपीकुरु मे दृष्टिगोचर होता है । उनका मत था कि विश्व की रचना असख्य भौतिक परमाणुओ के सम्मिलन मे हुई हो और इसकी रचना के पीछे कोई ज्ञान-शक्ति अथवा विराट् सत्ता नही है ।[3] एपीकुरु की इस भौतिकवादी विचार-धारा का साम्य भारतीय चार्वाक मत के अत्यत निकट है ।

वर्तमान युग मे भौतिकवाद के प्रबल प्रतिष्ठापको मे कार्लमार्क्स का नाम अग्रगण्य हैं । कार्ल-मार्क्स द्वारा प्रतिष्ठित भौतिकवादी सिद्धान्त को द्वन्द्वात्मक भौतिक-वाद (Dilactic Materialism) कहते है । मार्क्स का कहना है कि हमारा चिन्तन वाह्यपरिस्थितियो का अनुसारी होता है । भौगोलिक स्थितियो का सामाजिक जीवन पर प्रभाव पडता है और सामाजिक जीवन के आधार पर धर्म, नीति और दर्शन का जन्म होता है । मार्क्स ईश्वर को सृष्टि का निर्माता नही स्वीकार करता और सभ्यता तथा सस्कृति की अवस्थिति अर्थ के आधार पर स्वीकार करता है ।[4]

मार्क्स के सिद्धान्तानुसार समाज मे केवल दो वर्ग है, शोषित और शोषक । इन दोनो वर्गों का संघर्ष अनादिकाल से चला आ रहा है । मार्क्स के अनुसार इस

---

१. कामायनी, पृ० ७२–७३
२. द प्रिन्सिपुल्स आफ फिलोसफी बाई, एच० एम० भट्टाचार्य, पेज २१९-२२४
३. दर्शन दिग्दर्शन—ले० राहुल साकृत्यायन, पृ० ३०–३१
४. यूरोपीय दर्शन—भूमिका, पृ० १२

संघर्ष का अन्त वर्गहीन समाज हो सकता है। इस वर्गहीन समाज की स्थापना के लिए वह क्रान्ति को आवश्यक मानता है।

'प्रसाद' जी की 'कामायनी' के अन्तर्गत भी इस भौतिकवादी चिन्तना के यत्र-तत्र दर्शन होते है। 'चिन्ता-सर्ग' मे देव-सृष्टि के चित्रण के अन्तर्गत इन्होने इस भौतिकता का सन्निवेश किया है, जहा देवगण विलास और भोग को ही जीवन का चरम मानते है और अपने ऊपर किसी आध्यात्मिक शक्ति को स्वीकार नही करते।[1]

'प्रसाद' जी की एतद्विषयक चिन्ता-धारा इडा सर्ग के अन्तर्गत दृष्टिगोचर होती है। सारस्वत नगर का विकास उन्होने भौतिकवादी विचारधारा के अनुसार तो दिखलाया ही है, साथ ही इडा के द्वारा मनु मे यह भी कहलवाया है कि इस सृष्टि के पीछे कोई चेतन-सत्ता नही है, मनुष्य को अपने बाहुबल से ही कार्य करना चाहिए।[2] इस प्रकार प्रसाद जी के ऊपर भौतिकवाद का भी यथेष्ट प्रभाव पडा है।

निष्कर्ष मे यह कहा जा सकता है कि यद्यपि 'प्रसाद' जी के ऊपर उपर्युक्त दार्शनिक निरूपणो का प्रभाव पडा है, किन्तु वे मूलत आनन्दवादी और रसवादी ही रहे है तथा वे विश्लेषण की अपेक्षा सश्लेषण के ऊपर आस्था रखते थे। इसलिये वे प्रमुख रूप से प्रत्यभिज्ञा दर्शन के ही अनुयायी कहे जा सकते है। अन्य दर्शनो को उन्होने अपने मत की सपुष्टि के लिए ही ग्रहण किया है।

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' का काव्य और दर्शन

महाकवि 'निराला' जी का पालन-पोषण बगाल के महिषादल जिले के अन्तर्गत हुआ था। इसलिए उनके सस्कार मुख्यतया बग-भूमि से ही अत्यधिक प्रभावित रहे है। वे रामकृष्ण परमहस और स्वामी विवेकानद की अद्वैतवादी स्थापनाओ मे विशेष रूप से प्रभावित थे। अद्वैतवादी दर्शन से प्रभावित उनकी एक रचना 'अध्यात्म-फल'[1] शीर्षक से कानपुर से प्रकाशित होने वाली 'प्रभा' मे निकली थी, जिसके फलस्वरूप आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'समन्वय' के सम्पादक के लिए स्वामी माधवानन्द को 'निराला' जी का नाम बतलाया था। सन् १९२२ ई० मे 'निराला' जी 'समन्वय' के सम्पादक नियुक्त हुए। वहा पर उन्हे रामकृष्ण परमहस और स्वामी विवेकानद की अद्वैतवादी स्थापनाओ के अध्ययन का विशेष अवसर प्राप्त हुआ। उसी समय से दर्शन ने उनके जीवन मे इस प्रकार घर कर लिया कि

---

१. कामायनी, पृ० ८-९

२. वही १७०

३. परिमल, द्वितीयावृत्ति, पृ० १००

वे फिर आजीवन उससे प्रभावित रहे। उनकी श्रृंगारिक रचनाओं मे भी दर्शन का प्रभाव अनुस्यूत रहा है। 'जुही की कली' ऐसी शृंगारिक रचना मे भी यह प्रभाव देखा जा सकता है।

'जागृति' मे 'सुप्ति' के माध्यम से उन्होने वेदान्त की जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाओं का प्रतिबिब देख ही लिया। 'निराला' जी की 'जागो फिर एक बार'[3] शीर्षक कविता यद्यपि राष्ट्रीय उद्बोधन गीत है, फिर भी इसमे जीव के ब्रह्मत्व का स्मरण दिलाकर कवि ने अद्वैत दर्शन की स्थापना की है .—

"तुम हो महान, तुम हो महान
हे नश्वर यह दीन भाव,
कायरता, काम-परता
ब्रह्म हो तुम,
पद-रज भर भी रे नही पूरा यह विश्व भार-
जागो फिर एक बार"।

इसी प्रकार 'कण'[4] शीर्षक रचना भी अद्वैतपरक ही है। निम्नलिखित पक्तियो के अन्तर्गत उनकी अद्वैत-प्रतिष्ठा देखी जा सकती है —

"तुम हो अखिल विश्व मे,
या वह अखिल विश्व तुम मे,
अथवा अखिल विश्व तुम एक
यद्यपि देख रहा हूँ, तुममे भेद अनेक ?"
* * *
पाया हाय न अब तक इसका भेद।
सुलझी नही ग्रन्थि मेरी, कुछ मिटा न खेद।"

इसी प्रकार 'माया'[5] शीर्षक रचना मे अद्वैत दर्शन की छाप दृष्टिगोचर होती है। 'तुम और मै'[6] शीर्षक रचना मे जीव और 'ब्रह्म' का अन्योन्याश्रित सबध भक्ति-भावना के समग्र उन्मेष के साथ कवि ने सस्थापित किया है। इसमे कवि का भावुक-

---

१. परिमल, द्वितीयावृत्ति, पृ० १९१
२ वही १९४
३. तर्क भाषा पृ० २४
४. परिमल, द्वितीयावृत्ति, पृ० १७१
५ वही ९७
६. वही ८४

हृदय दर्शन के साथ बडे ही भावमय रूप से सबद्ध हो गया है। कुछ पक्तिया द्रष्टव्य है —

"तुम चित्रकार, घन पटल श्याम,
मै तडित तूलिका रचना।
तुम रण-ताण्डव-उन्माद नृत्य
मै मुखर मधुर नूपुर-ध्वनि,
तुम नाद-वेद ओकार सार,
मै कवि शृगार शिरोमणि।
तुम यश हो, मै हूँ प्राप्ति,
तुम कुन्द-इन्दु-अरविन्द-शुभ्र
तो मै हूँ निर्मल व्याप्ति।"

इन पक्तियो मे कवि ने विशिष्टाद्वैत दर्शन की सुन्दर प्रतिष्ठा की है।

'निराला' जी पर मार्क्स-दर्शन का प्रभाव

'निराला' जी के ऊपर मार्क्स के आर्थिक सिद्धान्त पर आधारित वर्गवाद का भी प्रभाव पडा है। मार्क्स ससार को केवल दो वर्गो मे ही विभाजित करता है—

१. शोषक वर्ग तथा
२ शोषित वर्ग।

'निराला' जी ने शोषितो के प्रति अपनी सहानुभूति प्रदर्शित की है। उनके काव्य-सग्रह 'अनामिका' मे से इस सदर्भ मे अनेक रचनाएँ उद्धृत की जा सकती है। उनकी 'तोडती पत्थर' शीर्षक रचना की कुछ पक्तिया उद्धृत की जा रही है .—

"कोई न छायादार
पेड वह जिसके तले बैठी हुई स्वीकार,
श्याम तन, भर बँधा यौवन,
नत नयन, प्रिय-कर्म-रत मन,
गुरु हथौडा हाथ,
करती बार-बार प्रहार-
सामने तरु-मालिका अट्टालिका, प्राकार

इन पक्तियो मे पत्थर तोडने वाली के माध्यम से कवि ने शोषित वर्ग के प्रति अपनी सहानुभूति दिखलाई है, साथ ही अट्टालिका, प्राकार के चित्रण द्वारा शोषक-

---

१ अनामिका तृतीय सस्करण, पृ० ७९।

वर्ग पर घृणापूर्ण व्यग किया है । इसी प्रकार शोषित वर्ग पर उनकी सहानुभूति का एक श्रेष्ठ चित्र 'दान'[1] शीर्षक रचना मे उपलब्ध होता है :—

"एक ओर पथ के कृष्णकाय
ककाल शेप नर मृत्यु-प्राय
बैठा सशरीर दैन्य दुर्बल
* * *
मेरे पडोस के वे सज्जन,
करते प्रतिदिन सरिता-मज्जन,
झोली से पुए निकाल लिए
बढते कपियो के हाथ दिए,
देखा फिर नही उधर फिर कर
जिस ओर रहा वह भिक्षु इतर,
चिल्लाया किया दूर दानव,
बोला मै—"धन्य, श्रेष्ठ मानव ।"

इसी प्रसग मे उनकी 'विधवा'[2] एव भिक्षुक[3] शीर्षक रचनाएँ भी ली जा सकती है। 'निराला' जी के 'कुकुरमुत्ता'[4] के अन्तर्गत भी शोषक और शोषित का ही 'गुलाब' और 'कुकुरमुत्ता' के प्रतीको द्वारा चित्रण किया गया है ।

अद्वैत, विशिष्टाद्वैत तथा मार्क्स-दर्शन की प्रतिष्ठा के अतिरिक्त उनके काव्य के अन्तर्गत भक्ति-दर्शन का भी प्रभाव परिलक्षित होता है । भक्ति-दर्शन के अनुसार साधक अपने इष्ट के प्रति सर्वतोभावेन समर्पित हो जाता है ।[5] यही उसकी अनन्यता का उत्कृष्ट प्रमाण है । 'आराधना' और 'अर्चना' शीर्षक काव्य सग्रहो मे उनकी एतद्विषयक् रचनाएँ सग्रहीत है । 'आराधना' की कुछ पक्तियाँ देखिए, जिनमे एक भक्त का आत्म-समर्पण अंकित हुआ है .—

"मन का समादार
करो विश्वाधार ।

---

१. अनामिका, तृतीय सस्करण, पृ० २२

२. परिमल, द्वितीयावृत्ति, पृ० १२६

३. वही १३३

४. 'कुकुरमुत्ता' प्रथमावृत्ति सन् १९४२, प्रकाशक, युग मदिर, उन्नाव ।

५. सर्वं धर्मान् परित्यज्य मामेक शरण व्रज
अह त्वा सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि माशुच: (गीता)

गहन कण्टक जटिल,
मग चले पग निखिल,
गया है हृदय हिल,
लो थके को वार।
कोई नही और,
एक तुम हो ठौर,
दूर सब जन, रौर
भव मे करो पार।"

इस प्रकार 'निराला' जी के काव्य के अन्तर्गत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, मार्क्स-दर्शन और भक्ति-दर्शन की भव्य प्रतिष्ठा हुई है।

महादेवी वर्मा का काव्य और दर्शन

श्रीमती महादेवी वर्मा प्रमुख छायावादी कवियो मे अकेली कवियत्री है, जिन्होने अपने काव्य को लौकिक-धरातल पर अधिष्ठित नही किया। उनके काव्य का आयाम भी अत्यत सीमित वृत्त के अन्तर्गत रहा है। वे विशेष रूप से निराशा और विषाद की कवियत्री है। वे हास्य के अतिरिक्त आसुओ से अधिक परिचित है और उन्हे इनके प्रति आस्था तथा प्रेम भी हो गया है। इसलिए उनके काव्य पर विशेष रूप से बौद्ध-दर्शन तथा शकराचार्य के मायावाद का अत्यधिक प्रभाव दृष्टि-गोचर होता है।

गौतम बुद्ध ने जगत् की वस्तुओ को परिवर्तनशील देखकर उसे दुखमय माना। शकराचार्य ने भी केवल ब्रह्म को सत्य मानकर ससार को मिथ्या कहा है[1]। गौतम बुद्ध ने प्रण की प्रतिष्ठा करते हुए, तथागत को ससार के प्राणियो के प्रति करुणा करने के लिए उपदेश दिया है। किन्तु श्रीमती महादेवी वर्मा अपने काव्य के अन्तर्गत कही ससार को वेदना से पीडित देखकर दु ख प्रगट करती है तो कही दु.ख को शाश्वत तत्व के रूप मे स्वीकार करती हुई उसके प्रति आस्थावान प्रतीत होती है, दु ख को अपने प्रियतम की प्राप्ति का आधार मानने मे वे सूफी कवियो से भी प्रभावित दृष्टि-गोचर होती है[2]। उनके एतद्विषयक कुछ उदाहरण दिए जाते है, जिनसे उनकी मान्यताएँ स्पष्ट हो जायँगी।

'यामा' की 'मै नीर भरी दुख की बदली' शीर्षक रचना कवयित्री की बौद्ध-दर्शन के प्रभाव की उत्कृष्ट रचना कही जा सकती है। इसमे उन्होने 'बदली' के

१. ब्रह्म सत्य जगतमिथ्या।

२. हँस-हँस कन्त न पाइया, जिण पाया तिण रोय।
हाँसी खेले पिउ मिले, कौन सुहागिन होय॥ (कबीर)

प्रतीक के माध्यम से जगत् के परिवर्तन को रूपायित किया है। व्यंग्य रूप मे दुख को ही एकमात्र ससार का शाश्वत तत्व भी मानती हुई दृष्टिगोचर होती है —

"मै नीर भरी दुख की बदली !
विस्तृत नभ का कोई कोना,
मेरा न कभी अपना होना,
परिचय इतना इतिहास यही
उमडी कल थी मिट आज चली।"[1]

अन्यत्र वे दु:ख को चिर सुख के रूप मे स्वीकार करती हुई बौद्ध दर्शन की स्थापनाओ के अत्यन निकट पहुँच गयी हे —

"चिर ध्येय यही जलने का,
ठूँठी विभूति बन जाना,
है पीडा की सीमा यह
दुख का चिर सुख हो जाना।"[2]

शकराचार्य के मायावाद का प्रकृष्ट चित्र निम्न पक्तियो मे देखा जा सकता है, जिनमे कवयित्री ने ब्रह्म मे चिर आनन्द तथा जगत् को दु खमय माना है —

"तुझमे अम्लान हँसी हे
इसमे अजस्र आसू जल
तेरा वैभव देखूँ या
जीवन का क्रन्दन देखूँ।"[3]

मायावाद की प्रतिष्ठापिका महादेवी जी की निम्न पक्तिया भी द्रष्टव्य है, जिसमे उन्होने जगत् को माया का देश कहा है —

"सखे ! यह है माया का देश,
क्षणिक है मेरा तेरा सग,
यहा मिलता काटो मे बन्धु।
सजीला सा फूलों का रग,
तुम्हे करना विच्छेद सहन
न भूलो हे प्यारे जीवन।"[4]

---

१. यामा, द्वितीय सस्करण, पृ० २२७
२ वही, पृ० ७५
३. वही, १००
४. वही, ४१

उनकी रचनाओं मे कही-कही सूफीमत का भी प्रभाव दृष्टिगोचर होता है, जहा पर कवयित्री ने दु ख को प्रियतम की प्राप्ति का साधन माना है —

"करुणामय को भाता है
तम के परदो में आना
हे नभ की दीपावलियो !
तुम पल भर को बुझ जाना ।"[1]

इस प्रकार श्रीमती महादेवी वर्मा ने अपने काव्य को विभिन्न दार्शनिक-चिन्तनाओ से समृद्ध किया है और मानवीय मूल्यो के उदात्तीकरण की चेष्टा की है ।

इस सन्दर्भ मे श्री सुमित्रानन्दन पन्त के काव्य के अन्तर्गत आयी हुई दार्शनिक उपपत्तियो की चर्चा नही की गयी, क्योकि उनके काव्य पर इस प्रबध मे एक पृथक् अध्याय के अन्तर्गत विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया है, जिसमे उनके दार्शनिक मतो पर भी सोदाहरण विस्तार से उल्लेख किया गया है ।

'छायायुगीन' कवियो की दार्शनिक स्थापनाओ के अध्ययन से बडी सरलता से इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि उनकी यह चेष्टा मानव के हितो को लेकर रही है । वे चाहते थे कि मानव का नैतिक, आध्यात्मिक तथा सामाजिक स्तर समुन्नत हो। इस दृष्टि से उन्हे मानवतावादी कवि भी कहा जा सकता है । इसे असदिग्ध रूप मे स्वीकार किया जा सकता है कि मानवता के उदात्त मूल्याकन मे छायावादी कवि ससार के किसी युग के कवि से पीछे नही है ।

अरविन्द-दर्शन और छायावादी काव्य

छायावादी काव्य की उपर्युक्त विवेचना से हमे प्रतीत होता है कि उसका सीधा सम्बन्ध अरविन्द दर्शन से नही रहा है । फिर भी उन्होने श्री अरविन्द की ही भाति भारतीय-दर्शन के मूल सिद्धान्तो—ब्रह्म, जीव आत्मा और जगत् आदि के विषय मे प्रमुख रूप से उपनिषदो से ही प्रेरणा ली है और अपने काव्य के अन्तर्गत काव्यानुभूति के धरातल पर उनकी अभिव्यक्ति की है और जैसा कि उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि उन्होने काव्य के अन्तर्गत भारतीय-दर्शन की उन प्रमुख स्थापनाओ की जो द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत और शिवाद्वैत के रूप मे प्रतिष्ठित रही है, अपने काव्य का विषय बनाया है । छायावाद युग की यही दार्शनिक चिन्तना ही आगे चल कर हिन्दी काव्य के लिए श्री अरविन्द-दर्शन की पुष्ट-पीठिका बनी, जिसका सर्वाधिक प्रभाव छायावाद के एक प्रमुख कवि श्री सुमित्रानन्दन पत पर दृष्टिगोचर होता है ।

---

१. यामा, द्वितीय सस्करण, पृ० २४.

४

श्री अरविन्द की कविता और उसमें प्रतीक-योजना

श्री अरविन्द ने अपना विश्लेपण करते हुए लिखा है कि वे सर्वप्रथम कवि और राजनीतिज्ञ थे और तत्पश्चात् योगी[1]। अपने विषय मे श्री अरविन्द की इस टिप्पणी के बावजूद यह निर्णय करना अत्यन्त कठिन है कि उनके व्यक्तित्व मे कवि की प्रधानता थी अथवा राजनीतिज्ञ और योगी की। निश्चय ही वे अपने इन तीनो रूपो मे अन्यतम थे। इस अध्याय मे विशेष रूप मे उनकी कविता पर ही विचार किया जा रहा है।

श्री अरविन्द के काव्य-विषय

श्री अरविन्द की कविता के मुख्य विषय राष्ट्रीय और आध्यात्मिक रहे है। किन्तु, उनकी राष्ट्रीय तथा अन्य स्फुट रचनाओ मे भी चिन्तन की एक ऐसी शृंखला प्राप्त होती है जो आगे चलकर उनकी आध्यात्मिक रचनाओ मे विकसित होती हुई उनके 'सावित्री' महाकाव्य के रूप मे चरमता प्राप्त कर सकी है। उनकी अनूदित रचनाओ मे भी उनकी आध्यात्म-चिन्तना-प्रवृत्ति पूर्णतया स्पष्ट है। उदाहरणार्थ उनके 'हिम टु द मदर' और 'साग्स आफ द सी' शीर्षक अनूदित रचनाएँ रखी जा सकती है।[2] 'हिम टु द मदर' 'वन्देमातरम्' का अनुवाद है। मूल रचना श्री बंकिम-चन्द्र चट्टोपाध्याय की है। कवि ने इस रचना के माध्यम से भारत-माता को मूर्त किया है। यह रचना ऐक्य की प्रतीक कही जा सकती है। कवि ने कदाचित् देश-वासियों के हृदय मे राष्ट्रीय चेतना ही उद्बुद्ध करनी चाही है किन्तु श्री अरविन्द ने उसमे आध्यात्मिकता का रूप भी देखा है। उन्हे भारत-माता के रूप मे काली के भी दर्शन हुए है। उनके अन्तर्मन को कदाचित् माता की स्वर्गिक मुस्कान को जो जगत्

---

1. Sri Aurobindo once said that he had been first and foremost a poet and a politician, only later he became a yogi.

—Publishers note of Vol. I,
Collected poems and Plays
Published in 1942.

2. Collected poems and plays,
Vol. II, page 227 and 279, 1942.

की समग्र समृद्धि से बढकर हे अत्यधिक प्रभावित और मुग्ध किया है।[1] कदाचित इसी स्वर्गीयता, असीमता तथा व्यापकता से प्रभावित होकर ही श्री अरविन्द ने 'वन्देमातरम्' का पद्यात्मक अनुवाद किया है। इसी प्रकार 'समुद्र के गान' शीर्षक रचना के अनुवाद मे भी उनका आध्यात्मिक और रहस्यवादी दृष्टिकोण पूर्णतया स्पष्ट है। इस रचना मे भी उन्होने रहस्यमय ज्योति के दर्शन किये है तथा शाश्वत् और अनन्त की ओर उन्मुख हुए है। समुद्र के गान मे उन्होने अनाहूत नाद सुना है। इस सन्दर्भ मे उनकी 'ट्रान्सफारमेशन एन्ड अदर पोयम्स', 'अहाना' आदि रचनाएँ भी रखी जा सकती है, जिनमे उनका आध्यात्मिक और रहस्यवादी स्वर पूर्ण स्पष्ट है। उपर्युक्त विवेचन से यह पूर्णतया सिद्ध हो जाता है कि श्री अरविन्द प्रारम्भ से ही अन्तर्मुखी वृत्ति के कवि थे जिसका प्रकृष्ट तथा विकसित रूप हमे उनके महाकाव्य 'सावित्री' तथा उनकी अन्तिम रचनाओ मे प्राप्त होता है।

श्री अरविन्द के काव्य-सिद्धान्त

श्री अरविन्द के काव्य-सिद्धान्तो का विस्तृत विवेचन यद्यपि द्वितीय अध्याय मे किया जा चुका है फिर भी सक्षेप मे उन्हे इस स्थल पर उपस्थित करना अप्रासगिक न होगा, क्योकि कवि के काव्य को समझने के लिए काव्य-सिद्धान्तो की यह सक्षिप्त पीठिका आवश्यक और उपादेय है।

श्री अरविन्द की रचनाओ के पूर्व काव्य का धरातल मुख्यतया भौतिक, वासनात्मक और बौद्धिक रहा है। काव्य-धरातल का यह क्रमिक विकास इसलिए है, क्योकि इसका सबध सृष्टि-विकास के सलग्न है। सृष्टि के भौतिक विकास के साथ भौतिक वासना के स्तर पर ऐन्द्रिक और बौद्धिक विकास के साथ बौद्धिक रचनाये हुई है। अब सृष्टि का विकास उपर्युक्त तीनो अवस्थाओ को अतिक्रमण करके अध्यात्म की ओर अग्रसर है। सृष्टि-विकास की इस अभूतपूर्व स्थिति के द्रष्टा श्री अरविन्द है। इसलिए उन्होने ही देव-दूत के समान् सर्वप्रथम आध्यात्मिक रचनाओ का उपोद्घात किया है। ऐसा नही है कि श्री अरविन्द के पूर्व काव्य मे आध्यात्मिक झलकियो का एकान्त अभाव रहा है। यदा-कदा अग्रेजी के रूमानी कवियो—वर्ड्सवर्थ शैली एव कीट्स—की रचनाओ मे अध्यात्म के ज्योति-कण दृष्टिगोचर हुए है। निश्चय ही वे रचनाये प्रकृति और जीवन से ऊपर अध्यात्म की प्रतिष्ठा करती हुई

---

1 Burns on that other shore the mystic light
That never was lit here by eve or dawn ?
Is't there, the song eternal; infinite,
None over heard from earthly instruments drawn ?

—Collected Poems and Plays, Vol. II, 1942
Page 272

प्रतीत होती है। किन्तु, जैसा कि ऊपर कहा गया है कि इनमे अध्यात्म की झलक भर ही है, मूल-स्वर या तो भौतिक है या फिर मानसिक। श्री अरविन्द के मतानुसार उसे अति बौद्धिक काव्य नही कहा जा सकता। वे कवि आध्यात्मिकता के इर्द-गिर्द ही चक्कर लगाते रहे है, क्योकि उनका मन अति-बौद्धिक स्तर पर अधिक देर तक नही स्थिर रह सका था। श्री अरविन्द ने न केवल इस अति बौद्धिक स्तर को ही पार किया है, वरन् उन्होने मनस् को कई विभागो मे विभक्त भी किया है। उनका यह विभाजन इस प्रकार है — (१) उच्चतर मनस्, (२) प्रोद्भासित मनस्, (३) अन्तश्चेतना, (४) अति मनस् और (५) अधिमनस्। श्री अरविन्द के मतानुसार महत्काव्य की सृष्टि तभी सभव है जब रचयिता का मन अध्यात्म मे सतत् निवास करता है। वह ऊपरी स्तर पर केवल उस समय आता हुआ तभी प्रतीत होता है, जब उसे अपने आनन्द का अभिव्यजन करना होता है, नही तो उसका नित्य-निवास अन्तंचेतना मे ही है।

श्री अरविन्द का मन उपर्युक्त आध्यात्मिक स्तरो को पार करता हुआ अधि-मनस् मे प्रतिष्ठित हो चुका था, इसीलिए उन्होने बौद्धिक विकास को जो आधुनिक युग मे सर्वमान्य सत्य के रूप मे प्रतिष्ठित है, अन्तिम नही माना। उनके मत से मनस् अथवा बुद्धि मानव का अन्तिम विकास नही है। उनका कहना है कि मानव विकास का अन्तिम चरण अधिमानस् है, जहाँ पहुँचने पर उसके माध्यम से अति बौद्धिक चेतना नीचे अवतरित होकर भौतिक चेतना (जड) का रूपान्तर कर देगी। हो सकता है कि श्री अरविन्द का उपर्युक्त मत सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्रो मे स्वीकार न किया जा सके और वहा उसे एक आशावादी का मनोहर स्वप्न कहा जाय, किन्तु काव्य के क्षेत्र मे जिस अति बौद्धिक ज्योति का दर्शन श्री अरविन्द ने अपनी रचनाओ द्वारा कराया है उसे कोई अस्वीकार नही कर सकता।

वास्तव मे महाकाव्य का सृष्टा महान् कवि वह होता है जो चेतना की विभिन्न अवस्थाओ को अपने काव्य मे समन्वित करता है। श्री अरविन्द के प्रसग मे यह बात जितनी सत्य है, कदाचित ही किसी अन्य कवि के लिए हो। श्री अरविन्द भौतिकता से प्रारभ तो करते है, किन्तु वे अपनी अन्तंदृष्टि से उसे (जड-तत्व) चेतना के उच्चतर स्तरो मे रूपान्तरित कर देते है। इस प्रकार वे चेतना के ऊपरी स्तरो से लेकर जड के निम्न स्तरो पर एक साथ रह सकते है। अस्तु, श्री अरविन्द की कविता के सिद्धान्त की मुख्य स्थापना है, भौतिक और चेतना के स्तरो को क्रमश: पार करते हुए चेतना के सर्वोच्च शिखर पर पहुचना, बाह्य जगत से आभ्यतर जगत् की यात्रा करना। श्री अरविन्द के अनुसार जब जडता यात्रा करती हुई मन तक पहुँच गयी है, तो निश्चय ही वह एक दिन अधिमनस् तक पहुँच जायगी। उनका मत है कि सृष्टि के मानसिक विकास के साथ-साथ सृष्टि का विकास भी होता है और उसी के साथ काव्य का विकास भी होता है। किन्तु साथ ही साथ यह भी स्वीकार करते है कि काव्य के चेतना के ऊपरी स्तर पर अधिष्ठित होने का यह अर्थ

नही है कि वह जागतिक जीवन से अपना सबध विच्छेद कर ले । उनका कहना है कि चेतना के ऊपरी स्तर तथा जागतिक जीवन का एक साथ अनुस्यूत होना है, समग्रता है ।[1] अस्तु, उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष यह निकला कि (१) श्री अरविन्द आध्यात्मिक काव्य को सर्वोत्कृष्ट मानते है । (२) मानसिक विकास के साथ सृष्टि का विकास भी हो रहा है। (३) सौन्दर्य को वह काव्य का अभिन्न अग मानते है, किन्तु साथ ही उनकी यह भी स्थापना है, कि ससार मे जो सौन्दर्य हम देखते वह है, उस पारलौकिक सौन्दर्य का कण-मात्र है । इसलिए काव्य मे पूर्ण सौन्दर्य तथा रस की अवतारणा के लिए आवश्यक है कि चेतना के ऊपरी स्तर पर रमा जाय ।

श्री अरविन्द का महाकाव्य 'सावित्री'

श्री अरविन्द के काव्य के परिशीलन से यह सिद्ध हो जाता है कि उन्होने अपने समग्र काव्य मे अपनी उपर्युक्त मान्यताओ का अनुगमन किया है। उनके प्रारभिक काव्य के अनुशीलन मे यह देखा जा चुका है कि वे किस प्रकार चेतना के स्तरो पर अप्रतिहत गति से आरोहण करते गये है । किन्तु, जैसा कि ऊपर कहा गया है, उनकी चैतन्य-यात्रा का अन्तिम चरण 'सावित्री' महाकाव्य है जो आध्यात्मिक विकास की चरमता को प्रतिष्ठित करती हुई, सृष्टि-विकास के अगले कदम की भविष्यवाणी करती है । इस अध्याय मे उनके इस महाकाव्य का विश्लेषण कथा और अध्यात्म दोनो दृष्टियो से किया जा रहा है ।

(अ) सावित्री का कथानक :—श्री अरविन्द ने स्वय इस महाकाव्य को पौराणिक और प्रतीकात्मक (ए लिजेन्ड एन्ड ए सिम्बल) कहा है। इसलिए यह आवश्यक है कि उसके कथा-भाग पर भी पृथक् रूप से विचार कर लिया जाय ।

श्री अरविन्द ने अपने इस महाकाव्य का कथानक महाभारत की 'सावित्री और सत्यवान' कथा से लिया है ।[2] उक्त ग्रन्थ मे उल्लिखित कथा का सार इस प्रकार है :

"न्याय प्रिय प्रतापी राजा अश्वपति के कोई पुत्र न था । उन्होने पुत्र-प्राप्ति के लिये अनेक व्रत और यज्ञ किये । अठारह वर्ष के सतत अनुष्ठानो के उपरान्त ब्रह्मा की पत्नी सावित्री यज्ञ की अर्चियो से प्रकट हुई और राजा को यह वरदान दिया कि उनको एक दैवी कन्या प्राप्त होगी जो उन्ही का अश होगी ।

1. If it wings to the heights, it will not leave earth unseen below it, but also will not confine itself to earth, but find too other realities and their powers on man and take all the planes of existence for its empire. "Future Poetry."

२. महाभारत, आरण्यक पर्व, पातिव्रत माहात्म्य पर्व, अध्याय २९१--७ ।

समय आने पर राजा के घर पुत्री का जन्म हुआ और देवी सावित्री के नाम पर ही उसका 'सावित्री' नामकरण किया गया। दिन-प्रतिदिन सावित्री का रूप-रग निखरता गया और उसके लोकोत्तर सौन्दर्य तथा शरीर को देखकर सभी उसे देवी के समान ही आदर करने लगे। जब वह पूर्ण युवती हो गयी तो उसके बिवाह का प्रश्न उठा। किन्तु, उसके अलौकिक सौन्दर्य तथा शारीरिक तेज और प्रतिभा को देखकर किसी भी राजकुमार को उससे विवाह करने का साहस न हुआ। अस्तु, वह अपने पिता से आज्ञा लेकर स्वय ही अपने लिए वर खोजने निकल पडी। उसे देश-भर मे अपने योग्य कोई वर नही मिला। अन्त म खोजते खोजते वह एक वन मे पहुंची। जहाँ उसकी भेंट निर्वासित तथा अन्धे राजा द्युमत्सेन के पुत्र सत्यवान से हुई। प्रथम दृष्टि ही मे उसने सत्यवान को अपना पति मान लिया। किन्तु जब घर से लौट कर राजा अश्वपति से अपना वैवाहिक निर्णय बताने गयी तो उसने देखा कि उसके पिता देवर्षि नारद के साथ वार्तालाप मे सलग्न थे। राजकुमारी सावित्री ने जब सत्यवान से अपना विवाह करने का निर्णय सुनाया तो त्रिकालज्ञ महर्षि थोडी देर के लिए मौन हो गए। फिर उन्होने सत्यवान को सर्वगुण सम्पन्न तो स्वीकार किया, किन्तु साथ ही यह भी कहा कि यह विवाह उचित नही है, क्योकि एक वर्ष पश्चात् ही सत्यवान की मृत्यु हो जायगी। सावित्री के माता-पिता ने उसे हर प्रकार समझाने की चेष्टा की, किन्तु वह अपने वचन पर अटल रही। अन्त मे उसका विवाह सत्य-वान के साथ कर दिया गया और वह उसके साथ वन मे साधारण जीवन व्यतीत करती हुई सब को सेवा-सुश्रूषा मे लग गयी। उसने थोडे ही दिनो मे अपनी सेवा, निरभिमानता, शील-स्वभाव, कोमल वाणी तथा कार्य-कौशल से सत्यवान को मुग्ध कर लिया।

किन्तु, कार्य की अतिशय व्यापकता मे भी वह नारद की भविष्यवाणी को एक दिन के लिये भी नही भूल सकी। अस्तु, जब वह दिन आया जब सत्यवान की मृत्यु होने वाली थी, उसने व्रत किया और सत्यवान के साथ वन मे चलने की आज्ञा माँगी। उसे आज्ञा मिल गयी। वह सत्यवान के साथ गयी और जब सत्यवान एक पेड से लकडी काटने लगा तो वह भी वही रुक गयी। सत्यवान ने कुल्हाडी के दो ही एक हाथ मारे होगे कि उसके सर मे भयकर पीडा होने लगी और वह पृथ्वी पर गिर पडा। सावित्री ने उसका सिर अपनी गोद ले मे लिया। तत्काल ही उसने देखा कि यमराज मौत का फन्दा लिये हुए उसके समक्ष खडे है। वह उठी और यमराज से प्रश्न किया कि वे स्वयं ही वहाँ क्यो आये थे, अपना कोई दूत क्यों नही भेजा? यमराज ने उत्तर मे कहा कि यह राजकुमार इतना सुन्दर और गुणो का आगार है कि इसको लेने के लिये साधारण दूत नही भेजा जा सकता था। और इतना कहने के पश्चात् यमराज सत्यवान का प्राण लेकर चल दिये। सावित्री ने भी उनका पीछा किया। यम ने अनेक बार सावित्री को अपने साथ न चलने के लिये कहा, किन्तु

प्रत्येक बार बुद्धिमत्ता पूर्ण शब्दो से उसने यम को निरुत्तर किया और बराबर पीछा करती गयी। और इसी प्रकार वह यमराज को प्रभावित करके एक के बाद दूसरा वरदान प्राप्त करती गयी। अन्त मे उसने अपनी अनन्य भक्ति, प्रेम और बुद्धिमत्ता से यमराज को इस सीमा तक प्रभावित किया कि उन्होने उसे सत्यवान के प्राण वापस कर दिये। सावित्री शीघ्र ही वन मे पड़े हुये सत्यवान के शरीर के पास आई और उसमे प्राण-प्रतिष्ठा करके उसे जीवित किया और दोनो साथ साथ अपने घर लौटे, जहाँ उन्होने यमराज-प्रदत्त सभी वरदानो को सत्य पाया। श्री अरविन्द ने अपने महाकाव्य को इसी कथा की आधार-शिला पर प्रतिष्ठित किया है।

(ब) सावित्री का आध्यात्मिक परिवेश श्री अरविन्द ने यद्यपि उपर्युक्त कथा को ही अपने महाकाव्य का आधार बनाया है, किन्तु 'सावित्री' के परिशीलन के पश्चात् जो तथ्य प्राप्त होते है, उनसे कथा के स्थूलत्व का कोई सम्बन्ध नही। इस कथा को उन्होने मात्र प्रतीक के रूप मे चुना है, जिसके माध्यम से उन्हे उच्चतम आध्यात्मिक उपलब्धि को व्यजित करना रहा है। श्री अरविन्द ने अश्वपति के यज्ञ अनुष्ठानो को मानवता के तप मे रूपान्तरित कर दिया है, अर्थात् मानवता चरम आध्यात्मिक उपलब्धि के लिये सतत तप-निरत है। सावित्री भी मात्र देवी का अवतार नही है, वरन् वह दैवी सुषमा है जो अश्वपति की इस कामना की पूर्ति के लिये—कि वह धरातल को जड़ता से मुक्ति प्रदान कर सके—ईश्वर की जीवन्त सत्ता के रूप मे अवतरित हुई है। सत्यवान और सावित्री का विवाह इस प्रतीक की अभिव्यक्ति करता है कि जगत् और मानव उठकर ईश्वर तक पहुँचे और ईश्वर धरती पर उतर कर उसके जडता-जन्म दु ख-सन्ताप को दैवी ज्योति और आनन्द से भर दे।

श्री अरविन्द ने अपने इस महाकाव्य का प्रारम्भ बड़े ही मनोहारी तथा महत् प्रकृति-चित्रण से किया है। उनके इस प्राकृतिक दृश्यो के विशाल तारतम्य के विधान से यह आभासित हो जाता है कि वह दैवी विजय के कितना अनुकूल है। वे अपने महाकाव्य का उपोद्घात अत्यन्त नाटकीय ढग से उस दिवस के उषाकाल से करते है जिस दिन सत्यवान की मृत्यु होने वाली थी। और उषा के प्रतीक द्वारा वे उस आध्यात्मिक विहान को व्यजित करना चाहते है जो सत्य-चेतना और अमरत्व का प्रतीक है। यह आश्चर्यजनक उषाकाल दिव्य दृष्टि-प्राप्त मानव के समक्ष किस प्रकार उपस्थित होता है और सावित्री को जो मृत्यु के साथ घोर सघर्ष करने के लिए तत्पर थी, किस प्रकार प्रभावित किया, इन पक्तियो मे इन दोनो की तुलना उपस्थित की गई है।[1] इन पक्तियो मे सावित्री की उस शक्ति के स्रोत का परिचय कराया गया है जिसने एकान्त दु ख और चिन्ता से उसे मुक्त करके ऊपरी स्तरो पर प्रतिष्ठित किया। साथ ही उसके देवीमय चरित्र और विदुषी प्रकृति का

१. सावित्री पृष्ठ ८।

परिचय दिया गया है जिससे उसके मृत्यु के साथ सघर्ष करने की शक्ति तथा दृढ सकल्प के स्रोत का आभास मिलता है ।

अगली पक्तियो मे श्री अरविन्द ने उस महत्वपूर्ण दिन का, जिस दिन सत्यवान की मृत्यु होने वाली थी, सावित्री को अपने भूत कर्मों मे सघर्ष करता हुआ दिखाया है, साथ ही उसे भूत–जीवन के कर्म–जाल से मुक्ति पाने के लिए अपनी शुद्ध बुद्धि से सहायता लेते हुए चित्रित किया है जो अमरत्व के मार्ग को अवरुद्ध किए हुए थे ।[1] इन पक्तियो मे यह दर्शाया गया है कि जब उसने सत्यवान की मृत्यु का सामना किया तो किस प्रकार उसका हृदय विश्व के सचालन करने वाले इजिन के पहियो का अवरोधक बना[2] और किस प्रकार उसने दैवी शक्ति जगाई और किस प्रकार दु ख ने अत्यन्त दैवी तत्वो पर आक्रमण किया और किस प्रकार उसके अन्तर्गत देवत्व विजय की अग्नि के समान दहक उठा और उसे पूर्णतया अभिभूत करके मृत्यु-पाश मे मुक्त करके अनन्त और अपरिसीम चेतना से सयुक्त कर दिया ।[3]

इतना वर्णन करने के पश्चात् कवि श्री अरविन्द घटना-क्रम को उस मूल पौराणिक कथा मे सयुक्त कर देते है, जहाँ अश्वपति अपनी मुक्ति के लिये आध्यात्मिक साधनाएँ करता है । यहा पर हम देखते ह कि किस प्रकार अश्वपति मनोनिग्रह और दृढ सकल्प शक्ति द्वारा अपनी चेतना को अलौकिक धरातल पर प्रतिष्ठित रखता है और अपने भौतिक शरीर को स्वर्ग के लिए उपयोगी बनाता है ।[4] जहाँ वह अपने को अहकार शून्य, असीम और सकीर्णता-हीन बनाता हे । इस कार्य मे शुद्ध तर्क-बुद्धि उसकी सहायता करती है ।[5]

इसके पश्चात् श्री अरविन्द हमे यह बतलाते है कि किस प्रकार उच्च तथा विस्तृत-सन्तुलित उन्नयन, जिसकी शान्ति को निम्न स्तर के अस्थिर तत्व भग करते हे, स्थिर किए जाते है ।[6] और किस प्रकार मानव के व्यक्तित्व के पतनोन्मुखी भाग, यहाँ तक कि उसके शरीर के 'सेल्स' को क्रमश आत्म शक्ति रूपान्तरित कर देती है और उन्हे यह अनुभव करने के लिये पुन भौतिकता को बाध्य करती है, क्योकि सृष्टि के विकास की यही आवश्यकता और प्रकृति है । अगर ऐसा न हो तो सृष्टि-विकास का उद्देश्य ही असफल हो जाय ।[7] इस स्थल पर उन सब बातो का वर्णन किया गया है कि उसे (अश्वपति को) उन सभी विचारो को अपने मस्तिष्क मे

---

१. सावित्री, पृष्ठ १५
२. वही पृष्ठ २४
३. वही पृष्ठ २५
४. वही पृष्ठ २६
५ वही पृष्ठ ३१
६ वही पृष्ठ ४०
७. वही पृष्ठ ४१

प्रविष्ठ न होने देना चाहिए जो दैवी तो दिखलायी पडते है, किन्तु वास्तव मे वे वैसे है नही।[1] उसका मौन व्यक्तित्व क्या प्रकट करता है, तथा जब उसका व्यक्तित्व पूर्णतया रूपान्तरित हो जाता है तो उसका उपचेतन किन अमूल्य निधियो को प्रदान करता है।

तत्पश्चात् रहस्यमय ज्ञान का वर्णन प्रारम्भ होता है, जिससे हमारे जीवन के सुव्यवस्थित रूप का पता चलता है। इससे यह ज्ञात होता है कि किस प्रकार दिव्यता की ज्योति पार्थिव वैभवो को पार करती हुई देवत्व की ओर आरोहण करती है। साथ ही इस तथ्य का भी अनुभव होता है कि किस प्रकार किसी दैवी शक्ति के सरक्षण मे हमारा जीवन शाश्वत सत्य की ओर अग्रसर है। हमे यह भी ज्ञात होता है कि हमारे अस्तित्व के मूल स्रोत क्या है तथा सार्वभौम व्यवस्थापक का क्या स्वरूप है, और किस प्रकार हमारे जीवन मे अन्तर्भूत ईश्वर अपने अस्तित्व का परिचय देता रहता हे। किन्तु, इतना होने पर भी अश्वपति को जीवन की कुछ समस्याएँ अनजानी ही रह जाती है और वह अपने को अनन्तता मे मग्न कर देता है।[2] वह ऐसा इसलिए करता है, क्योकि वह यह रहस्य जान लेना चाहता है कि किस प्रकार जड और चेतन परस्पर अनुस्यूत होते है। जड और चेतन जो अब पृथक्-पृथक् दृष्टिगोचर होते है, फिर किस प्रकार एकसूत्रित हो सकते है। वह यह जान लेना चाहता है कि जो जड-चेतन तत्वत एक ही है, उनमे यह पार्थक्य क्यो भासित होता है।

अस्तु, अश्वपति आत्मानुभाव के उन महत् स्तरो पर विचरण करता है और वह उस स्थिति मे रहने का साहस करता है जहाँ श्वास और विचार रुक जाते है, शान्त हो जाते है[3] और उस रहस्यमय जगत् मे प्रवेश करता है जहाँ सारे रहस्य अपने आप खुल जाते है, जहाँ ससार रूपी पहेली अपनी समग्र रहस्यमयता को छोडकर सर्वथा उन्मुक्त और स्पष्ट हो जाती है।[4] इस स्थिति को, जहाँ अश्वपति भौतिकता और पार्थिकता को छोडकर उच्च स्तरो पर आरोहण करता है, श्री अरविन्द ने बडे काव्यमय ढग मे दर्शाया है। जब हम उस स्थल को पढते है जहाँ अश्वपति ईश्वर के आलिगन मे बिल्कुल अकेला हो जाता है, तो जैसे हमे भी समाधि, ईश्वर की शक्ति तथा माधुर्यमयी रहस्यमयता का अनुभव होने लगता है।

जैसे ही वह उच्च स्तरो का आरोहण करता है उसके अपलक नेत्रो के समक्ष रहस्यमय साम्राज्यो की शृखला उन जीवन-स्तम्भो का साक्षात्कार कराती है,

---

१. सावित्री पृष्ठ ४४
२. वही पृष्ठ ७०
३. वही पृष्ठ ८४
४. वही पृष्ठ ८६

जिनके माध्यम से चेतना रूपी यन्त्र आत्मा को आन्दोलित करता है। अनेक ब्रह्माण्डो का आरोहण करता हुआ वह दूसरे ही देश-काल मे प्रविष्ट होता हे। सावित्री के इन स्थलो का अध्ययन करते हुए हम भी अश्वपति के साथ यात्रा करते हुए इन ग्रहो की दिव्यता का परिचय प्राप्त कर लेते है। इस स्थल पर श्री अरविन्द विश्व की सृष्टि का बडा भव्य वर्णन करते है। इस वर्णन मे भाषा की सहजता और सुघरता को देखकर यह प्रकट होता है कि इसका प्रयोग वही कर सकता है जिसे इन स्थितियो का प्रत्यक्ष अनुभव हो। जब हम अपनी आन्तरिक स्थितियो का अध्ययन करते है तो हमे विश्व के ढाँचे का अनुभव भीतर-बाहर और ऊपर किस प्रकार है, समझ मे आने लगता है।

स्थूल जगत् की इस स्थिति को भी पार करके अश्वपति सूक्ष्म भौतिक सत्ता मे प्रवेश करता है जहाँ हमारी आकृति के साँचे प्राप्त होते है। इसके पश्चात् वह शुद्ध जीवन-शक्ति के स्तरो पर पहुँचाता है जिसके निचले प्रदेश मे 'दु ख और सन्ताप' नित्य निवास करते है।[1] जहाँ पर पृथ्वी की क्षुद्रताओ और सकीर्णताओ का निवास है। जब कि उसके दूसरे पार्श्व मे जो कि उच्च है उच्चतर भाव, सद्इच्छाएँ और कामनाएँ निवास करती है और अप्राप्त विचार प्राणियो और राजाओ के रूप मे प्रतिष्ठित दिखलाई पडते है। इसके पश्चात् हम और निचले प्रदेशो मे जो बडे भयंकर है और जो घृणा तथा स्वार्थ से आपूर्यमाण है, अश्वपति के साथ यह जानने के लिए पहुँचते है कि इन विश्वो मे कामनाओ के अपूर्ण रह जाने का क्या कारण हे। वहाँ हम प्रकृति के खिचावो को देखते है। इसके आगे हम अश्वपति के साथ नरक मे प्रविष्ट होते है, जहाँ वह वहाँ के दैत्याकार जीवो से अपनी रक्षा करने के लिए ईश्वर मे प्रार्थना करता है और उसके महान नाम का स्मरण करता है।[2] यहा पर नरक की भयकरता, वहाँ के यान्त्रिक और असत्यतापूर्ण जीवन का बडा ही सजीव तथा सटीक वर्णन किया गया है।[3] यहाँ अश्वपति को यह अनुभव होता है कि सबसे महान् रहस्य इन्ही निचले ससारो की अतल गहराइयो मे बन्दी बने हुए है।

तत्पश्चात् हम उस माधुर्यमयी और आनन्दपूर्ण स्थिति का अनुभव करते हे, जो स्वर्ग के नन्दन-विपिन के आशा भरे जीवन से सम्बन्ध रखती है। किन्तु, अश्वपति यहाँ भी अधिक देर तक नही ठहरता और वह और अधिक महान् वस्तुओ की प्राप्ति के लिए यात्रा करता है। उसे उस स्थिति की कामना है जो उसके द्वैत-भाव को नष्ट करके उसे केवल कर दे, अद्वैत मे प्रतिष्ठित कर दे। क्योकि द्वैत-स्थिति मे मन की आकाक्षाओ की पूर्ति नही होती। एक कामना की पूर्ति के पश्चात् मन किसी अन्य वस्तु के उपभोग की कामना करता है और कामनाओ की

१. सावित्री पृष्ठ १७१

२. वही पृष्ठ २३८

३. वही पृष्ठ २४९, २५१, २५६, २६१

की श्रृंखला कभी टूटती ही नही। लघु मानस उसे अनन्त विश्लेपणात्मक कार्य-प्रणाली से परिचित कराता है और हमारा परिचय मानस के तीन बौनो से होता है, जिनके नाम क्रमश आदत, इच्छा और तर्क है। इसके पश्चात् वृहत् मानस अथवा मस्तिष्क के अधिक ज्योतिर्मय स्तरो मे वह प्रवेश करता है। इन स्तरो की अनुभूति बहुत कम व्यक्तियो को होती है। यहाँ एक ऐसे स्तर का परिचय प्राप्त होता है जिमे ईश्वर अपने सत्याकारो को मानव के पास भेजने के लिए सेतु के रूप मे प्रयोग करता है। मस्तिष्क के इन वातायनो को उन्मुक्त करने से मानव को कितनी महत्वपूर्ण उपलब्धि हो सकती है, बडे ही प्रेरणादायक तथा काव्यमय ढंग से इन पक्तियो मे अभिव्यंजन हुआ है।

इस स्थिति की अनुभूति के पश्चात् अश्वपति विचार के आनन्दमय स्वर्ग मे प्रवेश करता है। यह स्थिति आध्यात्मिक इच्छाओ का उद्गम है। यहाँ पहुँचने पर हम अनन्त की बाँसुरी का स्वर[1] स्पष्ट सुनने लगते है। अर्थात् हमे उस अनन्त सत्ता की झलक मिलने लगती है जिसकी उपलब्धि की यात्रा मे हम सतत प्रयत्नशील है।

मानस के इस सुन्दर स्तर से जहाँ मस्तिष्कीय कोमल भावनाओ का निवास है, वह निपट शान्ति मे प्रवेश करता है, जहाँ मस्तिष्क की आत्मा जो प्रकृति की साक्षी है, अपना रहस्यमय आधार रखती है। अश्वपति इस चिन्तन के उद्देश्यपूर्ण विचारो को ध्यानपूर्वक देखता है। किन्तु उमे यह विचार-जगत् केवल अन्वेषक प्रतीत होता है, ज्ञानी अथवा प्रेमी नही।

उपर्युक्त अनुभूति के पश्चात् राजा की आत्मा एक ऐसे प्रकाशमय वातायन का दर्शन करती है जो ससार की आत्मा को एक रहस्यमय स्वर प्रदान करती है। इस स्थल पर कवि श्री अरविन्द विश्व की सुव्यवस्था, सहानुभूति और इस सार्वभौम चेतना की बुद्धिमत्ता, जो कि पृथ्वी के प्राणियो के बीच मे आत्माओ की आध्यामिक क्रिया का निवास-स्थान है, का सुन्दर वर्णन करते है। यही पर हमे यह ज्ञात होता है कि ससार के इस 'प्रसाधन गृह' मे[2] आत्मा किस प्रकार आगामी जीवन के लिए योजनाये परिकल्पित करती है। यहा पर आध्यात्मिक यात्री अश्वपति अपनी आत्मा को देखता है और अब चैतन्य आत्मा अपने अद्वैत स्वरूप[3] का अनुभव करता है। यहा पर वह देखता है कि विश्व के माता-पिता सर्जन के अनन्त आनन्द मे मग्न है और उसे उनके कार्यों और शक्तियो का परिचय प्राप्त होता है। इस प्रत्यक्ष देवी के प्रभाव से आतकित होकर वह उसके पैरो पर गिर पडता है और उसे अनुभव होने

१. सावित्री पृष्ठ ३१६
२ वही पृष्ठ ३३२
३. वही पृष्ठ ३३४

लगता है कि वह अपने लक्ष्य के निकट आ गया है। अब अश्वपति उस स्थल पर पहुँचता है जहाँ अपरिसीम शान्ति है जहाँ सभी भिन्न है तथा सभी एक है।[1] वहाँ पर प्रभूत बुद्धि-वैभव उसे इधर-उधर बिखरा हुआ मिलता है।

इसके पश्चात् अश्वपति सृष्टि की उस ऊँचाई पर पहुँचता है जहाँ आत्मा का अरूप रूप प्राप्त होता है। यहाँ उसे स्वर्गीयता का समग्र रूप दृष्टिगोचर होता है जहाँ उसके पैर जीवन के आश्चर्यजनक पखो पर दृढता से स्थिर दृष्टिगोचर होते है।[2] यहाँ पर कवि ने ईश्वर के अकेलेपन, शान्ति और अगोचरता का वर्णन किया है जिसमे भौतिकता का लेश भी नही है और वह पूर्ण ज्योतिर्मय है। किन्तु, अश्वपति को इस निरपेक्ष चेतना के अमर आनन्द से सन्तोष नही होता। उसने इस पूर्ण शान्ति मे पूर्ण शक्ति का अन्वेषण किया[3], क्योकि वह जानता था कि महाशून्य ईश्वर का अन्तिम अभिप्राय नही है। इस प्रकार उसने निर्वाण को आध्यात्मिक उपलब्धि के रूप मे नही स्वीकार किया।

इसके पश्चात् सारगर्भित पक्तियो मे कवि स्वर्गीयता की उपलब्धि मे पृष्ठ-भूमि के रूप मे ईश्वर की उपस्थिति स्वीकार करता है। जिसके लिए अश्वपति सर्वतोभावेन प्रयासशील रहा है। यहा उसे ईश्वर के समग्र ऐश्वर्य के दर्शन दैवी माता के रूप मे होते है। यहा पर वह इस सर्व शक्तिमान मातृ शक्ति की प्रार्थना करता है, जिसने कि उसकी इच्छाओ को निर्मल कर दिया है और रिक्त स्थान मे देवताओ को प्रतिष्ठित कर दिया है[4]। इसके पश्चात् श्री अरविन्द अश्वपति के उस हृदय-परिवर्तन का वर्णन करते है जो उसके अन्तर्गत दैवी माता के मिलने के पश्चात् होता है, साथ ही उस नूतन सृष्टि को भी पृथ्वी पर अवतरित होने की भविष्य वाणी करते है, जिसका साक्षात्कार ज्ञान के उच्च शिखर पर चढ कर अश्वपति ने किया है। वह सृष्टि सभी विरोधो मे सगति उपस्थित करके समन्वय की प्रतिष्ठा करेगी। सहसा अश्वपति के समक्ष दैवी माता प्रकट होकर उसे चेतावनी देती है कि वह अमाप अवरोहण मे शीघ्रता न करे और अपनी आश्चर्यजनक शक्ति को उसके समक्ष प्रकट करती है। लेकिन अश्वपति, जिसने इस आश्चर्यजनक माता का साक्षात्कार किया है, सारी मानवता को उस अनन्त भव्य शक्ति से भावित होने के लिए उससे प्रार्थना करता है कि वह उसमे अपनी सात्विक शक्ति की अवतारणा कर दे।[5] उस सौन्दर्यमयी तथा अमर शक्ति के पृथ्वी पर अवतरित होने की स्वीकृति का वर्णन कवि श्री अरविन्द ने बडे ही भव्य मत्र-पद्यो मे इस महाकाव्य के अन्तर्गत किया है।

---

१. सावित्री पृष्ठ ३४० ।
२. वही पृष्ठ ३४८ ।
३. वही पृष्ठ ३५३ ।
४. वही पृष्ठ ३६० ।
५. वही पृष्ठ ३९१ ।

अस्तु, प्रकृति के अधकार को परिवर्तित करने के लिए सावित्री का जन्म हुआ। कवि ने काव्य की समग्र गरिमा और सौन्दर्य के साथ सावित्री के शैशव, उसके अन्तस् मे उत्तरोत्तर वर्द्धमान ज्ञान ज्योति तथा सत्य के अन्वेषण की जिज्ञासा और प्रेमी युगल के मिलाप का मनोहारी वर्णन किया है।

इसके पश्चात् देवर्षि नारद, जो न केवल अश्वपति से सत्यवान की मृत्यु के लिए भविष्यवाणी करते है, वरन् कर्म के नियमो, भाग्य और सन्ताप तथा महान् आत्माओ के दुःख भोग के कारण का भी रहस्योद्घाटन करते है। जिस प्रकार अर्जुन की विरक्ति का श्रीमद्भगवद्गीता के प्रारम्भ मे वर्णन किया है, ठीक उसी प्रकार सावित्री की योग-साधना और ईश्वर के साथ तादात्म्य प्राप्ति के मार्ग मे कवि ने सत्यवान की मृत्यु की पूर्व सूचना से उत्पन्न उसके हृदय के दुःख को दर्शाया है। कवि ने इस स्थल पर सावित्री का विरोधी तत्त्वो जडता, इच्छाओ और वासनाओ, मानसिक अस्थिरता, विषाक्त सत्य और हृदय की निर्बलता के साथ सघर्ष का अकन किया है। सावित्री इनसे सतप्त होकर आत्मा को सम्बोधित करती हुई कहती है कि वह उसे शक्ति प्रदान करे। वह उसकी गहराइयो से परिचित होने के लिए व्याकुल है[1]। वास्तव मे प्रत्येक तत्वान्वेषी और अन्धकार-अविद्या पर विजय प्राप्त करने वाले व्यक्ति की इसी प्रकार की दृढ प्रतिज्ञा होनी चाहिए।

इसके पश्चात् कवि ने सावित्री की अन्तर्मुखी वृत्ति का चित्र उपस्थित किया है, जहा वह अपनी आत्मा का अन्वेषण कर रही है। उसे यह अनुभव होता है कि जब व्यक्ति ईश्वर के निवासस्थान हृदय के कपाट बन्द कर लेता है, तो उसे प्रलोभनो के बहुरगी भुजग, ब्रह्म से विरक्त बनाने के अनेक सीमित और सरल मार्ग घेर लेते है और मानव उस जीवन-सघर्ष मे पलायन करने लगता है, जो उसे निर्वाण की प्राप्ति के लिए करना चाहिये। वह इन्हे किस प्रकार अपने मार्ग से बलपूर्वक हटा देते है, इन पक्तियो मे बडे ओजस्वी ढग से चित्रित किया गया है। जब वह आध्यात्मिक अग्नि का अपने अन्तर्गत अन्वेषण करती है, तो उसके समक्ष ही आत्म-शक्तिया प्रकट होती है। उनके नाम क्रमश इस प्रकार है (१) दैवी करुणा की माता (२) शक्ति की माता (३) बुद्धिमत्ता की माता। प्रत्येक शक्ति ससार मे अपने स्वरूप और कार्य का वर्णन करती है। अन्त मे सावित्री को अपने रहस्यमय देवता की उपलब्धि होती है।

किन्तु, तत्काल ही सत्यवान की मृत्यु का अशुभ दिवस आ जाता है। कवि ने इस स्थल का बडा ही वेदनामय चित्र उपस्थित किया है। सत्यवान की मृत्यु के समय सावित्री का मन शिर मे स्थित सहस्रदल कमल मे प्रविष्ट हो जाता है, जो शक्ति और प्रकाश का पुञ्ज है[2]। जहा वह यमराज से मिलने के लिये ऊपर उठती

१. सावित्री पृष्ठ ५४०।
२. वही पृष्ठ ६४७।

है। यहाँ पर यमराज तथा सवित्री एक दूसरे का विरोध करते हुए दिखलाये गए है। इन पक्तियो मे सत्यवान की मृत्यु के साथ मौन की गहराइयो की यात्रा करता हुआ और सावित्री का अपनी भौतिक काया को छोडकर समाधि-मग्न होती हुई दिखलाया गया है, ताकि वह सत्यवान के साथ रह सके। भौतिक ससार की सीमा को पार करके यमराज सावित्री को आगे न बढने का आदेश देते हे। किन्तु, सावित्री उनकी आज्ञा का पालन नही करती और वह उनके साथ उस शाश्वत निशा मे प्रविष्ट होने का साहस करती हे। किन्तु, पुन. यमराज उसे यह कह कर आगे न बढने का आदेश देते है कि और भी गहन अन्धकार है। यमराज के नरक प्रदेश के विषय मे भयकर भापण के पश्चात् बडी निर्भीकता से उत्तर देती है कि वह रात्रि की झूठी कालिमा की कुछ भी परवाह नही करती और वह घोपित करती है कि उसकी आत्म-शक्ति उससे सघर्ष लेने की शक्ति रखती है। फिर यमराज मे बडी तेजस्वी वाणी मे यह याचना करती है कि वे सत्यवान की उन इच्छाओ की पूर्ति करे, जिनके लिये वह अपने माता–पिता से वचनबद्ध था। यमराज प्रसन्नता से उसे यह वरदान दे देते हे, किन्तु उसे आगे बढने के लिये वर्जित करते हे कि यदि वह आगे बढेगी तो उसकी मृत्यु निश्चित है। किन्तु, उत्तर मे सावित्री कहती है कि उसमे अग्नि के समान शक्ति है जो उसे भी नष्ट कर सकती है। इस पर यमराज बडे व्यग भरे स्वर मे उत्तर देते है कि वे समस्त प्राणियो के सृष्टा और सहारक है। यम से भी तीव्र व्यग–वाणी मे अगली ओजस्वी पक्तियो मे सावित्री उद्घोपणा करती है कि उसके ईश्वर की इच्छा और प्रेम आश्चर्यजनक ढग से शक्तिशाली है। किन्तु, यमराज उसकी एक भी नही सुनते और कहते है कि वे अपनी शक्ति से उन सबको नष्ट कर देगे और सभी वस्तुओ को व्यर्थ कर देगे।

सावित्री यमराज से निरन्तर सघर्ष करती रहती है और उनके तर्कपूर्ण शब्दो को हँसी मे उडाती रहती है। यमराज उसके अधिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए चुनौती देते है, क्योंकि ज्ञान प्रेम को नष्ट कर देता है। किन्तु, इसके उत्तर मे सावित्री कहती है कि प्रेम की प्रकृति ज्ञान को जन्म देती है। इस प्रकार यम के साथ सघर्ष करती हुई वह शून्य लोक मे पहुँचती है, वहाँ भी दोनो मे विवाद चलता रहता है। यम कहते है कि जीवन के समस्त विरोधी तत्वो का एक दूसरे से किस प्रकार सघर्ष है, यहाँ (नरक) पर सुन सकती हो। और हम सावित्री के मृत्यु के सम्बन्ध मे वही तर्क सुनते है। यमराज एक लम्बी उद्घोषणा मे यह बताते है कि वे किस प्रकार जीवन के हेममय सत्यो को नष्ट कर देते है। यमराज के इस भैरव स्वर से परम साहसी सावित्री रचमात्र भी आतकित नही होती और अपने प्रेममय ईश्वर की अभी तक की गई करुणा का एक चित्र उपस्थित करके यह उद्घोषणा करती है कि वह आगे भी इसे पूरा करेगी और बडे ईश्वर के निर्माण का साहस करती है जो उसकी आत्मा को बन्दी रख सके। किन्तु, यमराज उसकी बात हँसी मे उडाते हुए

कहते है कि यह उसकी मस्तिष्क की विकृति है और बुद्धि के धोखो पर एक विस्तृत व्याख्यान देते है, अज्ञानता को उन्नति की नसैनी के रूप मे स्वीकार करते हैं। सावित्री उन्हे भयकर कुतार्किक सिद्ध करती है जो दु ख और अन्धकार को देवत्व की उपलब्धि के रूप मे स्वीकार करते है। सावित्री बडी सुन्दर काव्य की भाषा मे ईश्वर के आध्यात्मिक चमत्कारो का वर्णन करती है और वह उसकी महान शक्ति के द्वारा अपनी विजय के लिए पूर्ण आश्वस्त है। साथ ही वह अपने प्रेम पर भी पूर्ण विश्वास करती है जो मृत्यु के पाश से अधिक दृढ और शक्तिशाली है।

यमराज अब भी उससे व्यगमय तर्क करते जाते है और सत्य को पत्थर से भी अधिक कठोर कहते है। इस स्थल पर यमराज सूक्ष्म तत्वो का आश्रय लेकर सावित्री को मनुष्य के ससीम आध्यात्मिक आदर्शो और अतिशयोक्ति पूर्ण अधूरे सत्यानुभवो के द्वारा ईश्वर की निरर्थकता सिद्ध करने की चेष्टा करते है। किन्तु, सावित्री यमराज के सभी तर्को को कुशलतापूर्वक खण्डित कर देती है। इस स्थल पर सावित्री प्रकृति के चमत्कारो, अनन्त के द्वारा किए गए आश्चर्यमय कार्यो और आत्मा की अनन्त शक्ति को जो ईश्वर के लिए समर्पित है, विस्तार से वर्णन करती है।

अब यमराज को यह सन्देह होने लगता है कि कही सावित्री देवी माता तो नही है और वह उससे जीवन्त सत्य का रूप दिखलाने के लिए कहता है, क्योकि उसे ज्ञात है कि जड के अन्तर्गत अभी तक सत्य का निवास नही रहा है। सावित्री यम से उसके स्वरूप की व्याख्या करती है और उसे सावधान करती है कि यदि वह मूर्तिमान महद् सत्य का सस्पर्श करेगा तो अपने अस्तित्व को खो देगा और तत्पश्चात् वह अपने विराट् स्वरूप का दर्शन कराती है। किन्तु यमराज को अब भी विश्वास नही होता, और अपनी अन्ध शक्ति के द्वारा एक बार फिर मोर्चा लेते हुए सावित्री से कहता है कि वह अपने दैवी स्वरूप को प्रकट करे, क्योकि नि.सन्देह बहुतो के अन्तर्गत सत्य होता है, किन्तु, क्या कोई उसकी अभिव्यक्ति कर सकता है? अगली पक्तियो मे कवि ने सावित्री के देवत्व मे रूपान्तरित हो जाने का वर्णन किया है। इस स्थल पर सावित्री का अत्यन्त प्रभावशाली भाषण होता है और वह सत्य की जीवन्त शक्ति का प्रदर्शन करती है और सिद्ध करती है कि यमराज (मृत्यु) की अब आवश्यकता नही रही। मृत्यु (यमराज) धीरे-धीरे अदृश्य होने लगती है और उसकी पूर्ण पराजय होती है और उसे प्रकाश अपने अन्तर्गत भर लेता है।

अब, लोकोत्तर शान्ति के परिवेश मे सावित्री और सत्यवान आनन्दपूर्वक विचरण करते है। किन्तु, अब भी उनको जीवन के सघर्ष से विरक्त होकर आनन्दमय निवास मे रहने के लिए प्रलोभनमय स्वर सुनाई देते है। सावित्री इस परीक्षा को भी पूर्ण विश्वास के साथ देती है। बडी तेजस्वी वाणी मे वह उत्तर देती है कि असम्भव को सम्भव बनाने के लिए उसका पृथ्वी पर जन्म हुआ है। तब, ईश्वर

सावित्री और सत्यवान को ससार को देवत्व मे रूपान्तरित करने के लिए धरातल पर भेजता है। सावित्री टूटते हुए तारे के समान पृथ्वी की ओर आती है और अदृश्य रूप से सत्यवान भी तेजी मे उसके पीछे आता है। उनका पृथ्वी पर फिर सम्मिलन होता है। इस प्रकार सावित्री महाकाव्य उस सत्य का उद्घाटन करता है जो युगो से रहस्य बना हुआ था और मानवता के महद् उष.काल की सम्भावना करता है। इस प्रकार हम देखते है कि श्री अरविन्द ने अपने 'सावित्री' महाकाव्य मे पौराणिक कथा के माध्यम मे चरम आध्यात्मिक उपलब्धि के अनुभवो और पूर्ण दैवी सत्ता का बडे सामर्थ्य के साथ अभिव्यजन किया हे।

श्री अरविन्द के काव्य में प्रतीक-योजना

श्री अरविन्द ने अपने काव्यान्तर्गत वैदिक-प्रतीको का ही प्रयोग किया है। रहस्यवादिता को व्याख्यायित करने के लिए वैदिक प्रतीक ही सर्वश्रेष्ठ और समीचीन है। क्योकि उनके मतानुसार प्रतीक सत्य का निरूपण करते है और इसीलिए वे बौद्धिक आधार पर प्रयुक्त अग्रेजी काव्य की रूपकात्मक शैली (जो बौद्धिक आधार पर प्रतिष्ठित है) को अपने द्वारा मान्य और प्रयुक्त शैली से भिन्न समझते हे। इसका स्पष्टीकरण उन्होने दिलीपकुमार राय को लिखे हुए एक पत्र मे इस प्रकार किया है-

"There is a difference between symbolism and allegory Allegory is when a quality or other abstract thing is personalised—symbolism is when a living truth is given an image or figure—in mystic poetry a living truth in a living image or figure. Allegory is an intellectual form, for nobody believes in personalisation of the abstract quality, it is only a poetic divice symbolism surpasses that both the truth and the symbol are living powers."[1]

इस प्रकार श्री अरविन्द रूपक तत्व और प्रतीक योजना को मूलत भिन्न मानते है और अपने काव्य की प्रतीक योजना को भारतीय वैदिक ऋषियो की कोटि की स्वीकार करते है, जो वास्तविकता की अभिव्यक्ति के लिए गृहीत हुई थी। इसलिए श्री अरविन्द द्वारा गृहीत और प्रतिष्ठित प्रतीक-योजना जहाँ अग्रेजी-काव्य मे प्रयुक्त रूपक-पद्धति से पृथक् है, वही वह अग्रेजी साहित्य के लिए भी एक मौलिक प्रयोग है।

(अ) **वैदिक प्रतीक-योजना**—किन्तु, इसके पूर्व कि हम श्री अरविन्द की प्रतीक-योजना पर विचार करे, यह आवश्यक है कि हम वैदिक प्रतीक-पद्धति की भी सक्षेप मे जानकारी प्राप्त कर लें, क्योकि श्री अरविन्द ने अपनी प्रतीक-पद्धति को उसकी अनुसारिणी बतलाया है।

---

1. Letters of Sri Aurobindo (on poetry and literature) III series page 85, 86, 87 Published in 1949

वैदिक प्रतीक-योजना मे सूक्ष्म सत्य की ही अभिव्यक्ति स्थूल सत्य के रूप मे की गई है और यह अभिव्यजन अनुभूति के आधार पर हुआ है। इसकी अभिव्यक्ति बौद्धिक स्तर पर कथमपि नही हुई है। श्री अरविन्द ने इस विषय मे कहा है कि हमारा अस्तित्व, वृहद् सत् का एक अश है, जो उसके अवरोहण पर सम्भव हुआ है।[1] श्री अरविन्द के जड पदार्थ सत्, जीवन, चित् और मन आनन्द के अश है। इस प्रकार वे समग्र जगत् को सच्चिदानन्द का स्थूल मानते है। इसलिए वे पचभूतो को सच्चिदानन्द के विभिन्न प्रतीको के रूप मे समझते है। अस्तु, श्री अरविन्द की प्रतीक-योजना वैदिक ऋषियो के प्रतीक-विधान के ऊपर अधिष्ठित है, जहाँ पर वैदिक ऋषि "सर्व खल्विद" ब्रह्म के अनुसार यावत् जगत् को ब्रह्म का ही स्वरूप समझते है। अधोजगत् को इसीलिए श्री अरविन्द अपरार्द्ध और उपरि जगत् को परार्द्ध की सज्ञा देते है। श्री अरविन्द की प्रतीक-योजना उनके विकास के सिद्धान्त के ऊपर आधारित है। किस प्रकार जड, चेतन मे और चेतन, जड मे रूपान्तरित होता है, उन्होने प्रतीक की भाषा मे अभिव्यक्त किया है। इस स्थल पर उनके द्वारा गृहीत प्रतीको के विषय मे सक्षिप्त रूप से विचार किया जा रहा है।

(ब) पञ्च तत्वो का प्रतीक रूप

(१) जल—श्री अरविन्द ने वैदिक ऋषियो के अनुसार पञ्चभूतो को अपने काव्य मे प्रतीक रूप दिया है। ऋग्वेद मे जल को जड अथवा स्थूल से पृथक् सूक्ष्म रूप मे माना गया है। अर्थात् उसके स्थूल रूप से पृथक् मनोवैज्ञानिक रूप मे सत्ता की सूक्ष्म कल्पना को मान्यता दी गई है। जगत् की सत्ता की कल्पना इतनी सूक्ष्म और अन्तर्मुखी है कि उसकी अभिव्यक्ति बिना प्रतीक के नही हो सकती। पुराण मे विष्णु को प्रलय के पश्चात् क्षीर सागर मे अनन्त अथवा शेष नाग के ऊपर सोता हुआ दिखाया गया है। वास्तव मे यह प्रतीक है अचेतनावस्था का। प्रतीक का अर्थ इस प्रकार किया जा सकता है, विष्णु-अर्थात् परम चेतन, अनन्त शेष नाग अर्थात् शाश्वतता मे सोते है। श्री अरविन्द ने इस प्रतीक को अपनी "ए गाड्स लेबर" शीर्षक रचना मे इस प्रकार नियोजित किया है—

"I saw that a falsehood was planted deep
At the very root of the things
Where the grey sphin guards a riddle sleep
On the Dragon's out spread wings."

श्री अरविन्द ने अपनी एक अन्य रचना 'टु दी सी' मे जीवन अचेतनावस्था के सागर से परम चेतनावस्था के महासागर की ओर निरन्तर प्रवाहमान है, को सागर के

---

1. Our existence is sort of refraction of the divine existence in inverted order of ascent and descent.

Life Divine Vol. I

प्रतीक माध्यम से अभिव्यक्त किया है।[1] इसी प्रकार उनकी 'सोल्स सीम' रचना मूल सस्कारो के कारण मानव-मन की जडता मे प्रतिष्ठा के रूप मे, आत्मा की परमचेतना को महासागर के प्रतीक के रूप मे 'दि लास्ट बीट' शीर्षक रचना मे आदर्शवाद, आशावाद और पुनर्जन्म के दर्शन के प्रतीक के रूप मे रखा है। इसी प्रकार 'लाइफ हेवेन्स', 'ट्रान्स', 'आरजव' आदि रचनाओ मे कवि ने जल को विभिन्न प्रतीको के अर्थ मे अभिव्यक्त किया है।

अस्तु, हमने देखा कि किस प्रकार एक रहस्यवादी कवि के हाथ मे जल और समुद्र प्रतीक आध्यात्मिक अथवा मानसिक स्थितियो की अभिव्यक्ति बन गए है।

(२) अग्नि—दूसरा वैदिक प्रतीक अग्नि है, जिसे कवि ने अपने काव्य के अन्तर्गत प्रयुक्त किया है। वेद के अन्तर्गत आग को भौतिक रूप मे नही ग्रहण किया गया। वहाँ पर अग्नि का आध्यात्मिक रूप है। श्री अरविन्द ने अग्नि के विषय मे इस प्रकार लिखा है—

"It could easily recall to the initiated, whereever it occurred the idea of illumined energy which builds up the world's and exalts man to highest, the doer of the great work, the Purohit of human sacrifices"[2]

इससे सिद्ध होता है कि श्री अरविन्द अग्नि को ज्ञान की ज्योति और कर्म की शक्ति के प्रतीक के रूप मे स्वीकार करते है। 'वेद-रहस्य' मे अग्नि-तत्व की व्याख्या उन्होने निम्न शब्दो मे की है

"सामान्य पूजक के लिए 'अग्नि' का अभिप्राय मात्र वैदिक आग का देवता हो सकता था, या इसका अभिप्राय भौतिक प्रकृति मे कार्य करने वाला ताप या प्रकाश का तत्व हो सकता था अथवा अत्यन्त अज्ञानी के लिए इसका अर्थ केवल एक अतिमानुप व्यक्तित्व हो सकता था जो धन दौलत देने वाले मनुष्य की कामना को पूर्ण करने वाले, इस प्रकार के अनेक व्यक्तियो मे एक है।[3] इन अर्था के विपरीत अग्नि विषयक् अपनी व्याख्या वे इन शब्दो मे करते हुए कहते है, 'अश' का अर्थ होता था बलवान, दूसरा अर्थ था 'चमकीला' या यह भी कह सकते है कि शक्ति, तेजस्विता।"[4] अर्थात् श्री अरविन्द के अनुसार अग्नि शक्ति और ज्ञान का प्रतीक है।

1. Collected poems and plays. Page 129 Vol. I
2. The secret of Veda from the Fifth Chapter, "The Philosophical methods of Veda."
३. वेद रहस्य, प्रथम भाग, २४ नवम्बर १९४८, पृष्ठ ७३
४. " " " " पृष्ठ ७३

श्री अरविन्द ने अपनी रचना 'ट्रान्स आफ वेटिंग'[1] और 'अहाना'[2] मे अग्नि का प्रयोग सत्य के ज्ञाता और ज्योति-प्रदायक के रूप मे किया है। 'इन दि हिम्स आफ मिस्टिक फायर'[3] मे सौन्दर्य के प्रतीक के रूप अग्नि को रखा है।

इस प्रकार श्री अरविन्द ने अग्नि के प्रतीक को कही नाश के लिए, कही शक्ति के लिए और कही ज्ञान और सौन्दर्य के हेतु, कही पृथ्वी के हृदय[4] के रूप मे प्रयुक्त किया है। अस्तु, हम देखते है कि श्री अरविन्द ने अपने काव्यान्तर्गत अग्नि के प्रतीक का प्रयोग वैदिक मान्यता के आधार पर ही किया है जहाँ पर लौकिक अग्नि को ज्ञान अथवा चेतन अग्नि से समुचित विशेषणो द्वारा अक्षुण्ण रख दिया है।

(३) वायु—वायु के प्रतीक को भी श्री अरविन्द ने वेद के आधार पर ही ग्रहण किया है। वेद रहस्य अध्याय ६ मे वायु को वे जीवन के स्वामी के रूप मे स्वीकार करते है। उनका कहना है, प्राचीन ऋषियो ने जीवन को समग्र भौतिक जगत् से अधिक महत्व दिया था और इसी कारण बाद को इसे प्राण अथवा प्राणवायु की सज्ञा मिली। मनुष्य की समस्त प्राणवत्ता और नाडी सस्थान की व्यवस्था, इसी प्राणवायु के अन्तर्गत हुई है। श्री अरविन्द के काव्य मे भी वायु के प्रतीक को प्राण के रूप मे ही ग्रहण किया गया है। सावित्री (III) मे इन पक्तियो मे प्राणवायु के रूप मे 'वायु' का प्रतीक द्रष्टव्य है.

"Pure untouched above the mortal play
Is spread the spirit's husband immobile air."

अपनी 'अहाना' शीर्षक रचना मे कवि ने अनेक वायुओ को अधोजगत् की वायुओ के रूप मे चित्रित किया है जो अनेक नदियो की भाँति समुद्र से मिलने के लिए क्षिप्र गति से प्रवाहित है, अधिमानस से मिलने के लिए प्रवाहित हो रही है.

"The winds run like bees to thy sweetness."[5]

इस प्रकार अरविन्द के काव्य मे वायु के प्रतीक का प्रयोग जीवन-शक्ति के रूप मे हुआ है।

(४) शून्य—वेद मे आकाश अथवा शून्य का प्रयोग अनन्त सत्ता के प्रतीक के रूप मे हुआ है। श्री अरविन्द ने भी अपने काव्य मे शून्य को इसी प्रतीकात्मक अर्थ मे ग्रहण किया है। इसके लिए उनकी 'दि अदर अर्थ्स'[6] और 'आर्जव' शीर्षक रचनाये भी द्रष्टव्य है।

1 Collected poems and plays. I Volume.
2. ,, ,, ,, ,,
3. Hymns to Mystic Fire page 43
4. Savitri III 2
5. Collected poems and plays. Vol. I
6. ,, ,, ,, ,,

(५) अद्रि—श्री अरविन्द ने वेद-रहस्य (सरस्वती) मे अद्रि को भौतिक सत्ता के रूप मे स्वीकार किया है और इस अद्रि के माध्यम मे सूर्य के पशु मुक्त होते है और जल प्रवाहित होता है।

श्री अरविन्द के काव्य मे भी, अद्रि को मानवीय भौतिक सत्ता के रूप मे प्रयुक्त किया गया है। मानव तक आकर जडतत्व अत्यन्त सूक्ष्म रूप मे रह जाता है। अद्रि मे चेतन तत्व अत्यन्त गहराई मे रहता है और जड तत्व की प्रधानता रहती है। इसलिए चेतना के स्थूल रूप को अद्रि के प्रतीक के द्वारा श्री अरविन्द ने अभिव्यक्त किया है। 'गाड्स लेबर' मे चेतना के जडीभूत रूप को पत्थर के प्रतीक द्वारा इस प्रकार स्पष्ट करते है .

"A voice cried, Go where none have gone
Dig deeper, deeper yet.
Till thou reach the grim foundation stone
And knock at the keyless gate."

सावित्री (Book III C 3) मे भी अद्रि के प्रतीक को उपर्युक्त अर्थ मे ही उन्होने प्रयुक्त किया है ·

"In the texture of our bound humanity
He felt stark, resistance huge and dumb
Of our in concient and unseeing base
The stubborn mute rejection in life's depths,
The ignorant no in the origin of things"

किन्तु, अपरार्द्ध, परार्द्ध का ही एक भाग है। इसलिए श्री अरविन्द ने इस अद्रि के प्रतीक को चेतना के अवरोहण और आरोहण के स्तरो के रूप भी अभिव्यक्त किया है। यहाँ पर अद्रि को उन्होने ऊँचाई के रूप मे प्रयुक्त किया है।

'लार्डशिव' मे श्री अरविन्द लिखते है :

"A face on the cold dire mountain peaks
Grand and still its lines white and austere
Touching heaven implacable and sheer"

प्राय. उपर्युक्त दोनो प्रतीको के रूप मे श्री अरविन्द ने अद्रि का प्रतीक प्रयुक्त किया है।

(६) मदिरा—सोम अथवा मदिरा वेदो मे लौकिक मदिरा के रूप मे नही है, वरन् वहाँ वह आनन्द, आध्यात्मिक आनन्द के रूप मे प्रयुक्त हुए है। श्री अरविन्द ने अपनी 'ट्रान्सफारमेशन'[1] आदि रचनाओ मे मदिरा के प्रतीक को वैदिक अर्थ मे ही प्रयुक्त किया है।

1. Collected Poems and Plays Volume I

नक्षत्रों का प्रतीक

श्री अरविन्द ने नक्षत्रो का प्रतीक अन्तश्चेतना के विचारो के लिये प्रयुक्त किया है। य विचार उच्च मनस् मे अधिमनस् तक की मन की यात्रा मे प्रकट होते है। श्री अरविन्द ने 'आर्जव' शीर्षक अपनी रचना मे इसे बडी सुन्दरतापूर्वक अभिव्यक्त किया है

"And soundlessly fare through that starworld
To the living selar gate "[1]

इसी प्रकार कुछ अन्य प्रतीको का भी श्रा अरविन्द ने सार्थक प्रयोग किया है। जिनमे रात, दिन, मध्याह्न और अपराह्न के भी प्रतीक है। किन्तु, ये सभी प्रतीक चेतना के विभिन्न रूपों से सम्बद्ध है और ये बौद्धिक स्तर पर न होकर अनुभव के आधार पर प्रयुक्त हुए है।

श्री अरविन्द की अन्तिम रचनाएँ और आध्यात्मिक उपलब्धियों का अंकन

जीवन की समस्त समस्याये एकता की उपलब्धि को लेकर है। श्री अरविन्द की समस्त विचारणा इसी आदर्श जीवन की प्राप्ति के लिए है। क्योकि, एकत्व का दर्शन केवल सत्य की प्रकृति की ही व्याख्या नही करता, वरन् पूर्ण सत्य के अनुभव के लिए समुचित मार्ग-दर्शन भी करता है। श्री अरविन्द का दर्शन इस दिशा मे सर्वाधिक प्रयत्न करता है। वास्तव मे दर्शन का वही रूप सर्वाधिक भव्य और उपभोगी है, जो समस्त विरोधो मे सगति उपस्थित करके एक वृहद् समन्वय की चेष्टा करता है। श्री अरविन्द ने अपनी महान् दार्शनिक स्थापना मे जड-चेतन को एक ही चेतना मे अनुस्यूत करके सबसे महान् आध्यात्मिक सिद्धान्त की स्थापना की है। इसकी समग्र प्रक्रिया का उल्लेख प्रथम अध्याय मे हो चुका है। इस स्थल पर यह देखना है कि उनके अन्तिम काव्य मे किस प्रकार उनकी दार्शनिक स्थापनाओ की प्रतिष्ठा हुई है।

श्री अरविन्द की विचारधारा के अन्तर्गत व्यक्ति का बडा महत्व है, क्योकि वास्तविक आध्यात्मिक अनुभूति व्यक्ति के द्वारा ही सम्भव है। व्यक्ति ही अध्यात्म के उच्च शिखर तक पहुँचता है। श्री अरविन्द ने अपनी अन्तिम रचनाओ मे अपनी व्यक्तिगत आध्यात्मिक अनुभूतियो को रखा है, जो व्यष्टि की आध्यात्मिक अनुभूतियो का प्रतिनिधित्व करती है। वे कहते है :

"I am centre of Thy golden light
And its vast and vague circumference

1. Collected poems and plays. Vol. I

Thou art my sould great luminous and white
And Thine my mind and will and glowing sense.
Thy spirit infinite breath I feel in me
My life is a throh of Thy eternity."[1]

वह परमात्मा की शाश्वतता मे अपने जीवन को एक कपन के रूप मे ही नही देखता, वरन् वह दृढ विश्वास के साथ मानवता के पथ प्रदर्शक के रूप मे अपने को घोषित करता है

"And yet I know my footprints track shall be
A pathway towards immortality "[2]

किन्तु, वास्तव मे मानव की प्रारम्भिक स्थिति क्या हे, ससीम और क्षणभगुरमात्र। और वह साधना द्वारा एक दिन अनन्त शक्तिसम्पन्न हो जाता है, भगवान् ही बन जाता है। श्री अरविन्द कहते है.

A creative of his own grey ignorance
A mind half–shadow and half gleam a breath
That wrestless, captive in a world of death,
To live some lame brief years [3]

किन्तु, उसके अन्तर्गत आध्यात्मिक शक्ति निवास करती है जो उसे अपने अस्तित्व अपने 'स्व' की अनुभूति के लिए बाध्य करती हे.

. ... A divinity within,
A conciousness in the irconcient Night,
To realise its own supernal light,
Confronts the ruthless forces of the unseen [4]

साधना द्वारा सघर्ष करती हुई आत्मा अपने अमर स्वरूप की शोध एक दिन प्राप्त ही कर लेती है और उसके द्वैत को ज्ञान एक दिन पार ही कर जाता है। कवि ने उस स्थिति का वर्णन निम्न पक्तियो मे किया है

I have discovered my deathless being
Marked by my front of mind, immense and serie
It meets the world with an immortal's seeing
A god—spectator of the human scene.[5]

1. Sri Aurobindo, Last Poems (Pondicherry, Sri Aurobindo Ashram, 1952.)
२. वही पृष्ठ ५
३. वही पृष्ठ ४७
४. वही पृष्ठ ४७
५. वही पृष्ठ २५

अग्रिम पक्तियो मे कवि ने अपने विभु रूप का वर्णन इस प्रकार किया है ·

My mind, my soul grow larger than all space,
Time founders in that vastness glad and nude,
The body fades an outline a dim trace
A memory in the Spirit's solitude

\+ + + +

Life's now the Ineffable's dominion;
Nature is ended and the spirit alone.[1]

अब वह ब्रह्म के साथ इस प्रकार एकत्व का अनुभव करता है

He is in me, round me, facing every where
Self walled in ego to exclude His right,
I stand upon its boundaries and stare
Into the frontiers of the infinite.

\+ + + +

He has become my substance and my breath,
He is my anguish and ecstasy.
My birth is his eternity's sign, my death
A passage of his immortality.[2]

साधना की उपलब्धि के स्तर पर वह समग्र जीवन की एकता का अनुभव करता है और प्रत्येक हृदय के स्पन्द का अनुभव करता है

I housed with in my heart the life of things,
All hearts athrob in the world I felt as mine;
I shared the joy that in creation sings,
And drank its sorrow like a poignant wine [3]

श्री अरविन्द ने ऊपर एक ज्ञानयोगी के समान ईश्वर के साथ अपना ऐक्य स्थापित किया है । निम्न पक्तियो मे उनके भक्त का समर्पण देखिये

I have given my mind to dig thy channel mind,
I have offered up my will to be thy will,
Let nothing of myself be left behind,
In our union mystic and unutterable [4]

---

1. Sri Aurobindo, Last Poems (Pondicherry, Sri Aurobindo Ashram, 1952.) Page 31.
२. वही पृष्ठ ३५
३. वही पृष्ठ १०
४. वही पृष्ठ २३

आत्मानुभव की ज्योति जब ऊपर से नीचे उतरती है तो वह सर्वप्रथम कवि अरविन्द की इन्द्रियों की प्रकृति का रूपान्तर करती है। श्रवणशक्ति, दृष्टि और स्वाद सब मे आमूल परिवर्तन हो जाता है

Thy golden lıght came down ınto my braır,
And grey worms of mınd sun-touched became,
A br ght ıeply to wısdom's ocoult plane,
A calm ıllumınatıon and a flame.[1]

उस ज्योति के अध अवतरण से न केवल कवि का कठ, हृदय तथा चक्र क्रमश उसमे नहा उठते है, वरन् समग्र भूमण्डल ज्योति स्नान हो उठता है।

Thy golden lıght came down ın to my feet
My earth ıs now thy playfield and thy seat [2]

इन्द्रियो के रूपान्तरण को बड़े चित्रमय ढग से व्याख्यायित किया गया है —

Suı ely I take no more earthly food
But eat the fruıts and plants of Paradıse.
Foı thou have changed my sense's habıtude
For mortal pleasuı e to dıvıne surprıse
Heıe and sıght are now an ecstasy,
And all the fıagıances of eaı th dısclose
A sweetness matchıng ın ıntensıty
Odouı of the crimson marvel of the rose,

+ + + +

The body burns with Thy nature's sacred fire
Pure, passionate, holy, vırgın of desıre.[3]

अन्त मे इस आध्यात्मिक साधना की यात्रा का अन्त आता है जहाँ कवि एक नूतन द्वीप पर पहुँचता है। उस द्वीप पर अतिचेतन का सूर्य अपनी किरणो से सभी कुछ अमर बना रहा है। कवि उस सूर्य की आत्मा मे प्रविष्ट कर जाता है। जहाँ वह देखता है कि एक नया ससार जन्म ले रहा है। कवि विश्व के रूपान्तरण का सन्देश-वाहक बन कर पुन धरती पर लौट आता है। अब उसे प्रकृति की कोई वस्तु विरोधी नही प्रतीत होती। उसे सर्वत्र ईश्वर व्याप्त दृष्टिगोचर होता है और समग्र जगत् देवत्व मे रूपान्तरित :

1. Srı Aurobındo, Last Poems (Pondıcherry, Srı Aurobindo Ashram, 1952.) Page 11.

२ वही पृष्ठ ११

३ वही पृष्ठ ४२

I have sailed the golden ocean
And crossed the silver bar,
I have reached the sun of knowledge
The earth self's midnight star

Its fields flaming vision
Its mountains of bare might
Its peaks of fiery rapture
Its air of absolute light

\+ + + +

The light was still around me
When I came back to earth
Bringing the immortels knowledge
Into man's cave birth [1]

श्री अरविन्द के समग्र काव्य के उपर्युक्त विवेचन से हम जिन निष्कर्षों पर पहुँचते है उनकी तालिका निम्न प्रकार से बनाई जा सकती है .

१ वे अपने प्रारम्भिक काव्य से ही अन्तश्चेतनावादी रहे है ।

२ उनकी सावित्री तथा अन्तिम कविताए आध्यात्मिक यात्रा और अध्यात्म की चरम उपलब्धि की साधनापरक दार्शनिक रचनाए है ।

३ श्री अरविन्द ने अपनी रचनाओ मे सृष्टि के विकास के सिद्धान्त के माध्यम से 'सर्वम् खल्विद' ब्रह्म की बडी तर्क-सम्मत व्याख्या प्रस्तुत की है ।



1 Aurobindo, Last poems, page 33

५

पंत के काव्य में व्याप्त विचारधारा और अरविन्द्-दर्शन का उस पर प्रभाव

पन्त का प्रारंभिक काव्य और उनकी विचार-सरणि

श्री सुमित्रानन्दन पन्त हिन्दी के ऐसे कवि है, जिन्हे अनेक विचारधाराओ ने प्रभावित किया है। उन प्रभावो के फलस्वरूप उनके काव्य मे भावो तथा विचारो के विविध रग दृष्टिगोचर होते है। कविवर पत ने समय-समय पर अपने काव्य को जितने मोड दिए है, उतने कदाचित् ही किसी अन्य हिन्दी-कवि ने दिए हो। इस अध्याय मे उनके काव्य के एतद्विषयक समग्र विवेचन के सन्दर्भ मे उनकी उन रचनाओ का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है, जो विशेषतया अरविन्द-दर्शन से प्रभावित रही है।

पत जी का प्रथम काव्य-सग्रह 'वीणा' सन् १९१८–१९१९ मे प्रकाशित हुआ था। निश्चितरूप से उन्होने इसके पूर्व ही अपनी रचनाए प्रारम्भ कर दी होगी। स्पष्ट है कि 'पत' का यह सग्रह द्विवेदी युग के मध्याह्न काल मे प्रकाशित हुआ, अतएव उनके इस काव्य मे द्विवेदी युग की विचारधारा का किसी न किसी रूप मे प्रभाव पडना स्वाभाविक था। यह भी स्वाभाविक था कि उनकी नव्य काव्य-चेतना को तत्कालीन काव्य-धारा का विरोधी जानकर आलोचको द्वारा विरोध सहना पडे। श्री पत ने 'वीणा'-ग्रन्थि के सयुक्त प्रकाशन के 'विज्ञापन' मे एतद्विषयक भय को स्पष्ट भी किया है।[1] इस विज्ञापन मे जहा उन्होने काव्य मे नूतन भाव-धारा के प्रवर्तन की सूचना दी है, वही वह तत्कालीन कटु आलोचक-कठफोरो से आतकित भी प्रतीत होते है।

पत जी काव्य की छायावादी धारा के प्रवर्तको मे समर्थ तथा प्रमुख कवि माने जाते है। द्विवेदी-युग की इतिवृत्तात्मक कविताओ की प्रतिक्रियास्वरूप हिन्दी-काव्य मे भाव-प्रधान रचनाओ की प्रतिष्ठा हुई थी और उसकी सूक्ष्म प्रतिमा-स्थापन को देख कर तत्कालीन आलोचको ने इस नव्य काव्य-धारा को 'छायावाद' की व्यग्यपूर्ण

---

१ वारि-विकार के प्रेमियो के कठोर आघात से बचने के लिए एक बार मैंने सोचा था कि इस भूमिका मे अत्यन्त विनीत तथा शिष्ट शब्दो की चाटुकारी का रोचक जाल फैलाकर उनकी रण-कुशल चोच बाँध दू।

—'विज्ञापन' वीणा-ग्रन्थि (द्वितीय-सस्करण, २००७ वि०)

पूर्ण सज्ञा से स्मरण किया था। निष्कर्ष यह कि इस काव्य-धारा मे भाव की प्रधानता थी, किन्तु तत्कालीन विचारधारा से भी सर्वथा असपृक्त इसे नही कहा जा सकता। यद्यपि पत जी ने दर्शन शास्त्र का अध्ययन सन् १६२३ ई० मे प्रारम्भ किया था और उसके पूर्व ही 'वीणा', ग्रन्थि' और 'पल्लव' की अनेक भावुकता पूर्ण सरस सुन्दर रचनाओ की सृष्टि हो चुकी थी। यह बात ध्यान देने योग्य है कि ये सदा स ही इतने सवेदनशील रहे है कि उन्हे युग के अनेक आन्दोलनो ने अतिशयरूप से प्रभावित किया है। यही कारण है कि उनके 'वीणा' और 'पल्लव' मे शैली टेनीसन की कल्पना, स्वर-वैचित्र्य तथा सौन्दर्य-दृष्टि का सयुक्त प्रभाव परिलक्षित होता है। उन काव्य-ग्रन्थो को सब से बडी विशेषता कोमल-भावना की काव्य मे अवतारणा और नव्य रूमानी शैली का प्रयाग है। किन्तु जिस प्रकार उनकी इन रचनाओ मे काव्य-मूल्यो मे अति क्षिप्र परिवर्तन दृष्टि-गोचर होते है, उसी प्रकार जीवन-मूल्यो मे वह प्रगति दृष्टिगोचर नही होती। उनकी इस (वीणा) सग्रह की रचनाओ मे द्विवेदी-युग के कवियो के समान ही ईश्वर के प्रति प्रणति दृष्टिगोचर होती है। 'वीणा' की प्रथम रचना 'नव बसन्त-ऋतु मे आओ' जहा कविता का आह्वान करती है वही उसे 'द्विवेदी-युग' की ईश-वन्दना से भी प्रकारान्तर से मुक्ति नही मिल सकी। 'बाल काल मे जिसे जलद से' शीर्षक 'वीणा मे सगृहीत रचना से द्विवेदीयुगीन विचारणा का उदाहरण मिल जायगा।[1] यद्यपि द्विवेदीयुगीन इतिवृत्तात्मकता-प्रसूत उपदेश की नीरसता नही है, वरन् कविता का मार्दव और उसका सरस प्रवाह द्विवेदी युगीन कविता से पृथक्ता प्रतिष्ठित करते हुए अत्यन्त मोहक और आकर्षक हो गया है, फिर भी जीवन-मूल्य की निर्धारणा मे यह द्विवेदी युग से अधिक दूर नही है। इसी प्रकार वीणा की 'तेरा अद्भुत है व्यापार' नाम्नी रचना भी द्विवेदी युगीन कवियो के 'वाणी-वन्दन' के अनुरूप ही कही जा सकती है। इस रचना मे भी कवि पंत ने कविता-देवी अथवा वाणी की वन्दना की है। कविता मे दो चित्र दिए गए है—एक है सम्पन्नता के दभ का तथा दूसरा है, अकिंचनता के दैन्य का। दभ से सरस्वती नही रीझती, वह तो उसी के गले का हार बनती है जो सर्वतोभावेन अकिंचन होकर, दीन होकर उसे समर्पित हो जाता है।[2] इससे स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ पत की आरभिक रचनाओ मे नव्य कल्पना, मार्दव, और अभिनव बिबो का प्रयोग प्राप्त होता है, वही उनकी जीवन-सबधी विचारणा मे अपने पूर्ववर्ती काव्य से अधिक पृथक्ता नही दृष्टि-गोचर होती। साथ ही यह बात भी सिद्ध होती है कि 'पत' की प्रारम्भिक रचनाओं से ही विचार का एक सूत्र प्राप्त होता है, जो सतत् वर्द्धमान होता रहा है। यद्यपि उनके इस जीवन-दर्शन के देश-काल के प्रभाव के अनुसार अनेक रूप रहे है; फिर भी

---

१ वीणा, पृष्ठ १५ (द्वितीय सस्करण, २००७ सवत्)

२ वीणा, पृष्ठ ७२ (द्वितीय सस्करण, २००७ सवत्)

ध्यानपूर्वक देखने मे उनके इस विचार-वैचित्र्य मे लक्ष्य को लेकर एकसूत्रता प्राप्त होती है।

ग्रन्थि

'ग्रन्थि' का प्रणयन कवि ने सन् १९२० ई० मे किया था। पंत जी की यह रचना कथानक प्रधान हे। इसे पढ कर महसा 'प्रसाद' जी के विरह-काव्य 'आँसू' का स्मरण हो आता है। साथ ही यह भी आभास होने लगता है कि इसके पश्चात् कवि किसी मूल्यवान महाकाव्य की सृष्टि करेगा। 'प्रसाद' ने तो 'आँसू' के पश्चात् 'कामायनी' महाकाव्य की सृष्टि करके इस सभावना को मूर्तित किया, किन्तु पत जी की ओर हम आज भी आशा की दृष्टि लगाए हुए है।[1] अस्तु, 'ग्रन्थि' विरह-प्रधान खण्ड-काव्य की सी भूमिका मे लिखी गई है। कवि ने भी 'ग्रन्थि' के विज्ञापन मे सक्षिप्त 'कथा भाग' को स्वीकार किया है। इस रचना मे कवि ने लौकिक प्रेम को अलौकिक प्रेम मे प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की है और इससे उसका जीवन-दर्शन स्पष्ट होता है कि वह लौकिक से पारलौकिक, सान्त से अनत, विशाल हृदयता वाले सिद्धान्त का समर्थक है। यह व्यक्ति को व्यष्टि के सीमित कठघरे मे ही बन्दी नही बनाना चाहता, वरन् उसे समष्टि के अनन्त सागर मे विलीन करने मे ही श्रेय मानता है। इस प्रकार की वैयक्तिक कल्पना तत्कालीन प्रमुख कवि 'प्रसाद' जी से प्रभावित जान पडती है। फिर भी इसमे 'पत' जी की दार्शनिक चिन्ता-धारा का पता लगता है। 'ग्रन्थि' मे कवि ने अपने वैयक्तिक विरह-जन्य दु.ख को सार्वभौम बनाने की चेष्टा की है।[2]

'वीणा' तथा 'ग्रन्थि' काल की काव्य तथा वैचारिक उपलब्धि का वर्गीकरण मुख्यरूप से भिन्न स्तम्भो के अन्तर्गत किया जा सकता है :—

१—काव्य
(अ) नूतन छन्द तथा भाषा का प्रयोग,
(ब) नयी प्रतिभाओ, बिंबो एव प्रतीको का प्रयोग। कोमलता के प्रति विशेष आग्रह,
(स) विषय व्यक्तिनिष्ठ होते हुए भी समष्टि मे प्रवर्तित करने का आग्रह,
(द) द्विवेदी-युगीन इतिवृत्तात्मकता के विरुद्ध भाव प्रवणता तथा सरसता की ओर विशेष आग्रह।

---

१ अब इस वर्ष 'लोकायतन' के प्रकाशन के पश्चात् महाकाव्य के लेखक के रूप मे भी पन्त जी प्रतिष्ठित हो गये है।

२ 'ग्रन्थि', पृ० १३७ (द्वितीय सस्करण, सं० २००७)

२—वैचारिक (क) द्विवेदी-युगीन प्रभु-भक्ति के समान किसी अव्यक्त शक्ति के प्रति आस्था। वाणी के आह्वान मे उस सत्ता की भक्ति-भावना की स्वीकारोक्ति,

(ख) सान्त से उठ कर अनन्त की प्राप्ति की स्पृहा।

पल्लव (१९१८-२५)

'पल्लव' पत जी की १९१८ से १९२५ तक की विभिन्न रचनाओ का सग्रह है। इस सग्रह की रचनाओ को प्राय. सभी विचार-धाराओ के आलोचको ने भाव, भाषा तथा काव्य-कला की दृष्टि से पत जी का सर्व श्रेष्ठ काव्य सग्रह माना है। जैसा कि ऊपर कहा गया है 'पल्लव' की रचनाओ की मूल-धारा रूमानी है। इनमे कवि के हृदय का आह्लाद-विषाद तथा प्रेम-विरह रूपायित हुए है। भावुकता, इन कविताओ की प्राण है। रूमानी होने के कारण इन रचनाओ को आदर्शवादी भी कहा जा सकता है। 'पल्लव' की रचनाओ मे कवि 'पत' के निष्कपट हृदय स्पन्द प्राप्त होते है जिन्हे कवि ने बडी ईमानदारी से अभिव्यक्ति दी है। कल्पना-वैभव से धनवान तथा भाव-सपत्ति से आपूर्यमाण कवि के इस संग्रह की कुछ कविताओ की बानगी दी जा रही है, जिनमे उसने नव्य बिब-विधान का राशि-राशि सौन्दर्य बिखेरा है। 'पल्लव' शीर्षक रचना की कुछ पक्तिया देखिए :—

'प्रथम मधु के फूलो का बान,
दुरा उर मे, कर मृदु आघात,
रुधिर से फूट पडी रुचिमान
पल्लवो की यह सजल प्रभात,

शिराओ मे उर की अज्ञात
भव्य जग-जीवन कर गतिमान।"[1]

'पल्लव' की 'पल्लव' शीर्षक उपर्युक्त रचना मे कवि ने अपनी नव्य कल्पना को सर्वथा नवीन उपमा बिब अलकारो द्वारा सजाया है और प्राचीन अलकारो से पृथक् अपनी सत्ता प्रतिष्ठित की है। कल्पना और बिब-विधान के बधान द्वारा कवि ने असदिग्ध रूप से अपनी रचना को जो रसवत्ता प्रदान की है, वह पाठक को अपने मे आविष्ट करने की पूर्ण क्षमता रखती है।

इस रचना के अन्तिम छन्द मे कवि ने अपनी चिन्तना-सरणि का आभास दिया है। कवि का युवक हृदय युवकोचित आदर्शो और आशाओ से भरा हुआ है। चारो ओर बिखरी हुई जीवन की रगीनी उसे मानो अपने पास पहुँचने के लिए आमत्रित कर रही हो। कवि उस राशि-राशि सुषमा का उपभोग करना चाहता है। वह

१ पल्लव, पृष्ठ १, चतुर्थ आवृत्ति, सन् १९४२।

सब उसी के लिए तो है, किन्तु उसकी व्यष्टि समष्टि की इकाई है, वह उसे उससे पृथक् नही मानता। उसका इस प्रकार सोचना कितना स्वाभाविक है कि 'जो डाल आज पल्लवित हुई है, उसमे कल मधुमास गू जेगा।' भारतीय चिन्तना की यही आनन्दवादी पद्धति रही है, जिसमे विषाद की भावना का लवलेश भी नही।

'पल्लव' तथा 'पत' के अन्य पूर्ववर्ती सग्रहो की कविताओ मे हृदय का उच्छ्वास, नैराश्य, सयोग, विरह, करुणा, प्रकृति के विभिन्न चित्रणो द्वारा उसके प्रति ममता, रूप का बहुरगी अकन, प्रकृति की तन्मयता के चित्रण द्वारा अध्यात्म का नूतन अभिव्यजन (जो कि काव्य तत्वो के अन्तर्गत ही अभिव्यक्त हुआ है) प्राप्त होता है। वास्तव मे पत जी की 'पल्लव' तक की रचनाओ का मूल उद्देश्य रूप-माधुर्य का सर्वथा नवीन शैली मे अकन रहा है।

'पल्लव' की 'परिवर्तन' शीर्षक रचना कवि की प्रारम्भिक वैचारिक अवस्था को प्रकट करती है। 'पल्लव' की अन्य रचनाओ का स्वर युवकोचित माधुर्य से सपृक्त है। उन सब मे प्रेम-विरह की वाणी परिव्याप्त है, किन्तु 'जीवन यान' तथा 'परिवर्तन' शीर्षक रचनाए उसके काव्य-तत्वो से पृथक् जीवन दर्शन का विधान करती है, जो उनके कवि को क्रमश दार्शनिक बनाता गया है। हमे यह अन्तर स्पष्ट रूप से उनकी 'भावी पत्नी के प्रति'—'बाध दिए प्राणो से प्राण' तथा 'परिवर्तन' सरीखी रचनाओ के तुलनात्मक अध्ययन से प्राप्त होता है।

'पन्त' जी को दर्शन से प्रेम अपने प्रारम्भिक जीवन से ही रहा है। उनकी चिर सहचरी अन्तर्मुखी वृत्ति ने उन्हे अन्दर डूब कर सोचने के लिए वाल्यावस्था से ही विवश किया है। इसलिए उनकी रचनाओ मे अन्तर्पट उद्घाटित करने का प्रयत्न आवश्यकता से अधिक प्राप्त होता है। यह बात नही कि उन्हे वाह्य जगत् ने बिल्कुल ही आकर्षित न किया हो, किन्तु वे वाह्य-चित्रण करते-करते सहसा अन्तर की गहराइयो मे डूब जाते है। उनके ये द्वन्द कभी तो मानव-सौन्दर्य तथा प्राकृतिक सौन्दर्य के संघर्ष के रूप में प्रकट हुए है और कभी जागतिक नश्वरता के कारण उनके मन मे जगत के प्रति विरसता भर गई है। इस प्रकार ससार मे प्राप्त विपुल विपन्नता को सहज सुसगठितरूप देने के प्रयास मे उनका कवि सतत् प्रयत्नशील रहा है। उनकी एतद्विषयक चिन्ता-धारा का आयाम उनके समग्र कवि-कर्म के सीमान्तो का स्पर्श करता है।

'पल्लव' से लेकर 'गु जन' तक की रचनाओ मे चिन्तन के परिवेश मे औपनिषद् दर्शन का प्रभाव परिलक्षित होता है। यद्यपि यह बात नही है कि इसके पूर्व कवि का परिचय उपनिषदो के दर्शन से न हो, किन्तु इन सग्रहो मे विशेषरूप से वह स्पष्ट हुआ है। 'पल्लव' की रचनाओं मे हमे मुख्य रूप मे काव्य की मनोरमता और दर्शन की चिन्तना के मजुल समन्वय का सन्तुलन प्राप्त होता है। 'पल्लव' की 'नक्षत्र', 'छाया', 'सन्ध्या' तथा 'बादल' आदि रचनाएँ इसके उदाहरण के लिए

देखी जा सकती है। इन रचनाओ मे कवि का ध्यान वैविध्य की ओर आकर्षित हुआ है। वह एक तत्व के विकास को आविष्ट करने वाली बहुरगी कहानी कहता हुआ सा प्रतीत होता है।[1] पल्लव आदि की अन्य रचनाओ मे काव्य-वैभव इतना तेजवन्त रहा है कि उसे दर्शन की चिन्तना नीरस नही बना पाई।

'पल्लव' काव्य-सग्रह मे केवल दो ही ऐसी रचनाएँ है जिनमे कवि का सारस्य और कलाभिव्यजन प्रधान न होकर दर्शन प्रधान हो गया है। वे रचनाएँ है—'जीवन-यान' और 'परिवर्तन'। इन रचनाओ पर उपनिषदो के निषेधात्मक दर्शन और शकर के 'मायावाद' का प्रभाव परिलक्षित होता है। कवि को अपने जीवन मे विषाद और ससार की प्रत्येक वस्तु मे नश्वरता दृष्टिगोचर हुई है। गौतम बुद्ध के समान ही उसने जीवन-आयाम मे, सतत परिवर्तन को होते हुए देखा है और वह मर्माहत होकर अपने 'स्व' से ही अनेक प्रश्न करता है। उसकी इस प्रकार की जिज्ञासा निम्न पक्तियो मे देखिये.—

"अहे विश्व ! ऐ विश्व व्यथित मन !
किधर बह रहा है जीवन ?
यह लघु पोत, पात, तृण, रज-कण,
अस्थिर - भीरु - वितान,
किधर किस ओर ? अछोर अजान,
डोलता है यह दुर्बल यान ?"[2]

जीवन-यान शीर्षक उपर्युक्त रचना मे शकर के मायावाद से अधिक बौद्धो के शून्यवाद का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

'परिवर्तन' शीर्षक रचना मे मात्र भौतिक पदार्थो की नश्वरता का ही वर्णन नही प्राप्त होता जो मुख्यत बौद्ध-दर्शन का विषय रही है, अपितु इसमे उपनिषदो के अद्वैतवाद का भी सिद्धान्त अनुस्यूत मिलता है।

'परिवर्तन' शीर्षक कविता मे बौद्ध-दर्शन और शकराचार्य के मायावाद से विशेषरूप से कवि प्रभावित जान पडता है जिसके कारण उसे समस्त सासारिक पदार्थो मे परिवर्तन और अनित्यता का आभास हुआ है। किन्तु अन्तिम अवतरणो मे उसे जगत् मे व्याप्त एक ही तत्व के लीला-विग्रह का दर्शन हुआ है जो अपने को अनादिकाल से नाश-निर्माण के युग्म मे अभिव्यक्त करता रहा है। इस प्रकार इन उद्धरणो मे कवि का सर्ववादी दृष्टिकोण स्पष्ट है।

---

१. 'बादल' शीर्षक रचना, पृ० ६० (पल्लव, चतुर्थावृत्ति, १९४२)
'छाया' शीर्षक रचना, पृ० ४५ (वही)
२. 'जीवन-यान' शीर्षक कविता पृ० ६० (पल्लव, चतुर्थावृत्ति, १९४२)

किन्तु, जागतिक अथवा भौतिक नश्वरता को पन्त जी ने शंकराचार्य द्वारा निरूपित 'ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या' के सिद्धान्त के रूप मे नही स्वीकार किया । वे वास्तव मे प्रकृति के अन्तर्गत ब्रह्म की सत्ता का अन्वेषण करते है, उसे प्राप्त करना चाहते है । जगत् को असत्य बताकर केवल ब्रह्म को सत्य मानने के पक्ष मे वे नही प्रतीत होते । वे जगत् को बौद्धो के समान क्षणिक मानते है, मिथ्या नही । उनकी इस प्रकार की मान्यता 'पल्लव' की अन्य रचनाओ के अध्ययन से भी स्पष्ट होती है । अस्तु, वीणा, ग्रन्थि तथा पल्लव काल की रचनाओ का मूलस्वर मिथ्यात्ववादी न मानकर रहस्यवाद के अनुकूल सर्ववादी मानना चाहिए ।

'गुंजन' (१६२५-३२)

'पल्लव' तक की रचनाओ मे पन्त के कवि का मन प्रकृति के बाह्य-सौन्दर्य-चित्रण तथा उसमे परिव्याप्त अनिर्वचनीय तथा अचिन्त्य-सत्ता के अन्वेषण तक तत्पर रहा हे । यद्यपि उसके इस अन्वेषण की परिसीमा जिज्ञासा तक ही रही है, उसमे साधना का गम्भीर कर्म दृष्टिगोचर नही होता । उस काल तक उसका मन धरातल से ऊपर वायवी तत्वो के निरूपण मे अधिक रमा है । प्रकृति की छवि का अकन भी उसी चौहद्दी मे हुआ है । किन्तु 'गु जन' की रचनाएँ मानव की सुख दु ख पूर्ण अनेकविध समस्याओ को प्रस्तुत करती है । वह उन समस्याओ का निदान भी अपनी सतत् चिन्तन-साधना प्राप्त फल के रूप मे देता है । 'गु जन' की 'सन्ध्या-तारा' शीर्षक रचना की कुछ पक्तियो से यह बात स्पष्ट हो जायगी —

"वह रे अनन्त का मुक्त मौन
अपने असग सुख मे विलीन
स्थित निज स्वरूप मे चिर नवीन ।
निष्कप शिला-सा वह निरुपम भेदता जगत् जीवन का तम ।
वह शुद्ध, प्रबुद्ध, शुक्र, वह सम ।"

* * * *

जग मग—जग मग नभ का आँगन तय गया कुन्द कलियो से घन ।
वह आत्म और यह जग-दर्शन ।[1]

उपर्युक्त पक्तियो से स्पष्ट है कि कवि प्रकृति की सुषमा का वर्णन करते-करते मानव की हर्ष-विषाद से उद्भूत समस्याओ का आकलन करने लगता है और उससे सन्तुष्ट न होकर वह उसका निदान एक अव्यक्त सत्ता के रूप मे जो निज स्वरूप मे चिर नवीन होकर स्थित है–प्राप्त करना चाहता है ।

'गु जन' की अन्य रचनाओ मे भी उसका यह प्रयत्न देखा जा सकता है । इस प्रकार की रचनाओं के माध्यम से कवि का प्रयास एक अव्यक्त सर्व व्यापक सत्ता

---

१. 'गु जन', पृ० ८६ (छठा सस्करण स० २००८ वि०)

की टोह रहा है जिस तक पहुँच जाने पर कुछ करना शेष नही रह जाता और न कोई समस्या ही अवशिष्ट रह जाती है। मानव अमरत्व प्राप्त कर लेता है। प्रकृति की बाह्य सुषमा का अकन करते-करते कवि का 'शाश्वतता' की ओर उन्मुख होना 'गु जन' की 'नौका विहार' शीर्षक कविता मे सर्वाधिक स्पष्ट हुआ है—

> "इस धारा ही सा जग का क्रम, शाश्वत इस जीवन का उद्गम।
> शाश्वत है गति, शाश्वत सगम।
> मै भूल गया अस्तित्व ज्ञान,
> जीवन का वह शाश्वत प्रमाण।
> करता मुझको अमरत्व दान।"[1]

उद्धृत पक्तियो से ज्ञात होता है कि कवि की विचारधारा परिवर्तित हुई है और वह जीवन की शाश्वत समस्याओ का समाधान कर लेना चाहता है। जीवन की समस्याओ को चित्रित करने वाली 'गु जन' मे अनेक कविताएँ है। 'गु जन' से ही कवि के मानवतावादी दृष्टिकोण का प्रारम्भ मानना चाहिए।

'गु जन' मे सुख-दु:ख द्वारा प्रादुर्भूत समस्याओ की अस्थिरता बतलाता हुआ एक स्थल पर कवि जीवन की चिरतनता को इस प्रकार स्वीकार करता है—

> "अस्थिर है जग का सुख-दु ख,
> जीवन ही नित्य चिरतन।
> सुख-दु.ख से ऊपर, मन का
> जीवन ही रे अवलम्बन।"[2]

कवि जीवन की ही शाश्वतता पर अपनी आस्था प्रकट करता है। सुख-दुख तो क्षणिक है, नश्वर है। कवि शाश्वत आनन्द पर विश्वास करता है और वह उसी का चिर अन्वेषक है। वह नूतन आश-अभिलाष का काक्षी है और उसे ईश्वर (सत्य अथवा आदर्श) पर पूर्ण विश्वास है। वह विश्व•को नवजीवन प्राप्त करने का काक्षी है। कवि पन्त की 'गु'जन' तक की रचनाओ मे विचार की यही श्रृ खला प्राप्त होती है। वास्तव मे उनका सदा से ही यह अभिमत रहा है कि मानव की चरम उपलब्धि मात्र भौतिकता मे नही हो सकती। उन्होने उसकी चरम उपलब्धि 'सर्वातिशयता' के रूप मे स्वीकार की है। उनका कहना है कि मानव अपनी महान् से महान् भौतिक कल्पना की उडान मे सन्तोष नही पा सका। उसे अपनी इस प्रकार की सभी उड़ानों मे शाश्वत आनन्द तथा चिरशान्ति की टोह रही है। उसने सदा अमरत्व चाहा है। इसीलिए उसकी कल्पनाएँ सदा अलौकिक रही है और वह अद्भुत तथा विचित्र कल्पना-लोको मे विचरता रहा है। उनके लिए उसके हृदय मे सतत् तडप रही है। पन्त जी की 'गु जन' तक की रचनाओ की यही अवधारणा है।

---

१. 'गु जन', पृष्ठ १०४
२. वही, पृष्ठ २०

'ज्योत्स्ना'

'ज्योत्स्ना' पन्त जी का काव्य-सग्रह नही है, वरन् वह एक प्रतीक नाटक है। किन्तु, काव्य के प्रसग मे इसकी चर्चा इसलिए आवश्यक है; क्योकि वह उनकी विचार-शृखला की भूत तथा भविष्य की कडी जोडता है। इस नाटक मे कवि पन्त की कोमल-कल्पना की सर्वातिशयता प्राप्त होती है। ज्योत्स्ना मे कवि की विचारणा सुधारवादिता और समन्वय की ओर उन्मुख हुई है। उन्होने अपने अभीष्ट की सिद्धि के लिए प्रतीको का आश्रय लिया है। पन्त जी का नाटक मे प्रतीक-प्रयोग कोई नया आविष्कार नही है, वरन् प्राचीन प्रतीक-परम्परा के नाटको मे कृष्ण मिश्र का प्रतीक नाटक 'प्रबोध चन्द्रोदय', प्रसाद जी की 'कामना' तथा अन्य नाटक भी प्राप्त होते है। इस नाटक मे पन्त जी का मुख्य उद्देश्य भौतिकता को आध्यात्मिकता से समन्वित करना रहा है। यह समन्वय उन्हे अन्तश्चेतना के माध्यम से सम्भव प्रतीत हुआ है इसीलिए 'अन्तश्चेतना' के महत्व पर उन्होने विशेष प्रकर्ष दिया है। उनके सुधारवादी दृष्टिकोण का एक उदाहरण 'ज्योत्स्ना' के निम्न कथन मे देखिये —

> "मर्त्यलोक से मानवी भावनाएँ धीरे-धीरे लुप्त होती जा रही है। प्रेम-विश्वास, सत्य-न्याय, सहयोग-समत्व, जो मनुष्य-आत्मा के देव-भोजन है, एकदम दुर्लभ हो गए है। पशुवत् घृणा, द्वेष और अहकार सर्वत्र आधिपत्य जमाये है। अन्ध-विश्वासो की घोर अन्ध-निशा मे चारो ओर जाति भेद, वर्ण-भेद, धर्म-भाषा भेद, देशाभिमान, वशाभिमान, दानवो की तरह किमाकार रूप धरकर, मानवता के जर्जर हृदय पर ताण्डव नृत्य कर रहे है। विकास का विशाल आँगन राष्ट्रवादो की व्योम चुम्बी भित्तियो से अनेक सकीर्ण काराओ मे विभक्त हो गया है। जिनके शिखर पर दिन-रात विनाश के बादल मँडरा रहे है। अर्थ व शक्ति के लोभ मे पडकर ससार की सभ्यता ने मनुष्य जाति के उन्मूलन के लिए सहार की इतनी सामग्री शायद ही कभी एकत्रित की होगी।"[1]

ससार के प्रति अपने उपर्युक्त मत मे वे अन्य सुधारको के समान ही विचार प्रकट करते है। बात की पृष्ठभूमि तो प्राचीन ही है, किन्तु इससे कवि की ईमानदारी अवश्य प्रकट होती है। किन्तु संसार मे यह विपर्यय-मति क्यो है? कवि इसके लिए आध्यात्मिक आस्था के अभाव को सकेत करता हुआ अग्रिम पक्तियो मे कहता है:—

"मनुष्य जाति के भाग्य का रथ-चक्र जडवाद के गहरे पक मे धँस गया है। शासक-शासित, धनी-निर्धन, शिक्षित-अशिक्षित के बीच बढते हुए भेद-भावो की दुरन्त-खाई, मानव-सभ्यता को निगल जाने के लिए मुँह बाए हुए है। मनुष्य के

---

१. 'ज्योत्स्ना', पृ० २१

आत्म-ज्ञान का स्रोत अनेक प्रकार के भौतिक वाद विवादो के मरु मे लुप्त हो गया है।''[1] उपर्युक्त उद्धरण से यह स्पष्ट होता है कि कवि की यह दृढ मान्यता है कि जडवाद अथवा भौतिकता को जीवन मे प्राथमिक महत्व देने से मिथ्या बुद्धि अथवा बुद्धि की वृद्धि होती है और आस्था-विश्वास का क्रमिक ह्रास होता जाता है। परिणाम यह होता है कि जीवन असन्तुलित होकर अनेक वर्गो मे विभाजित हो जाता है जो जीवन को विषम बनाकर दुर्वह बना देते है। यह विरोध और वैषम्य वर्गो मे सामजस्य करने से ही दूर हो सकता है। कवि ने यह बात 'ज्योत्स्ना' के मुख से इस प्रकार कहलवाई है —

> "मनुष्य जाति अपने ही भेदो के भुलावे मे खो गई है। इस अनेकता के भ्रम को आत्मा की एकता के पाश मे बाँध कर, समस्त विभिन्नता को एक विश्व-जनीन स्वरूप देकर नियन्त्रित करना होगा। अनियन्त्रित प्रकृति विकृति मात्र है।"[2]

पन्त जी ने इस रूपक के माध्यम से एक और विचार प्रकट किया है कि ज्ञान-विज्ञान मनुष्य को अभिवृद्ध तो करता है; किन्तु वह उसे विकसित नही करता। आदर्शों को सापेक्ष दृष्टि से देखना और उनका मूल्याकन करना एक गलत सिद्धान्त है। उनके (आदर्शो) के प्रति निरपेक्ष दृष्टि ही उनकी आत्मा तक पहुँच कर उचित मूल्याकन कर सकती है। वास्तव मे यह धारणा ही मिथ्या है कि निरपेक्ष सत्य शून्य होता है। वास्तव मे निरपेक्ष सत्य ही समग्र है और वही वस्तु का सही मूल्याकन भी।[3]

मानव जीवन के स्थायी मूल्यो (भावो) स्नेह, करुणा, ममता आदि से सभी को प्रेम है। ससार मे कोई भी ऐसा व्यक्ति नही है, जिसने क्रोध, घृणा, अमर्ष आदि आसुरी वृत्तियो को अपने गले का हार न बनाया हो। प्रत्येक व्यक्ति जिसके व्यक्तित्व मे ये अवगुण व्याप्त हो गये है, इनको दूर करने मे तत्पर दिखाई पडता है। इन मानवता विरोधी अवगुणो का शमन तभी हो सकता है जब हम प्रेम के उदात्त भाव को व्यापक रूप मे अपनावें। पत जी ने अपने एतद्विषयक विचार 'ज्योत्स्ना' नाटक मे 'कल्पना' के मुख से इस प्रकार कहलवाया है .—

विगत युगो का मनुष्य मनस्तत्व की विवेचना मे अधिक सफल नही हुआ, इसीलिए मनोजगत को अनिवर्चनीय, माया आदि अनेक नाम देकर, त्याग-विराग की सहायता से अपने को भुलावे मे, डाल उसने जीवन को अज्ञानजनित, दु खजनित समझ लिया और अपनी आत्मा के लिए एक काल्पनिक स्वर्ग का इन्द्रजाल निर्मित

१. ज्योत्स्ना, पृ० २२
२. वही, पृ० ३६
३. वही, पृ० ४०

कर इस जन्म-मृत्यु, सुख दु.ख के चिर-आलिंगन पाश मे बधी हुई जीवन की कठोर वास्तविकता से छुटकारा पाने के लिए उसने अनेक छाया सत्यो पर अवलम्बित एक मिथ्या प्रवचना का आश्रय ग्रहण किया ।'[1]

जिस प्रकार पत जी आध्यात्मिक अतिवाद को मानवता की सुख-शान्ति के लिए घातक तथा वर्जनीय मानते है उसी प्रकार वे भौतिक अतिवाद को भी उसके लिए श्रेयस्कर नही समझते । ज्योत्स्ना' मे वे इस सम्बन्ध मे इस प्रकार अपने विचार प्रकट करते हैं :--

'इस युग के मनुष्य का ध्यान भूत प्रकृति की ओर गया है। ससार की भौतिक कठिनाइयो से परास्त होकर, उसके दु खो से जर्जर होकर, मनुष्य की समस्त शक्ति इस समय केवल वाह्य प्रकृति के अत्याचारो से मुक्ति पाने की ओर लगी है, जिसके लिए उसने भूत विधान की सृष्टि की है । वह देश, काल और भौतिक शक्तियो से सघर्ष कर रहा है । यह भूत प्रकृति ही उसके कष्टो का कारण है या कुछ और भी, इसका ठीक-ठीक निर्णय वह नही कर पाया । मानव-क्षेत्रो एव विभागो को सगठित एव सीमित कर अपने आन्तरिक जीवन के लिए उदासीन होकर मनुष्य अपनी आत्मा के लिए नवीन कारा निर्मित कर रहा है ।"[2]

ज्योत्स्ना के उपर्युक्त दोनो उद्धरणो से कवि की जिस विचारणा का शोध मिलता है, वह है जीवन को समग्र बनाने के लिए भौतिकता और आध्यात्मिकता-का समन्वय । बिना इसके जीवन मे सतुलन नही आ सकता और सन्तुलन के अभाव मे वह सुख शान्ति से वचित रहेगा, इसमे सन्देह नही ।

ऊपर के समग्र विवेचन से पत का मानवतावादी दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता है । वे न तो जगत् को पूर्ण निषेधात्मक ही मानते है और न वे उसकी पूर्ण स्वीकृति मे ही विश्वास करते है । उन्हे इस सुख-दु खात्मक जगत् से अत्यन्त अनुराग है और उन्हे उस पर निवास करने वाले सभी प्राणी भी अत्यन्त प्रिय है । एक स्थल पर 'ज्योत्स्ना' 'नाटक मे उन्होने ज्योत्स्ना से कहलवाया है :--

"मोह को मिटाना ध्येय नही है, नाथ । अनुरक्ति और मोह को पहचानना ही ध्येय है ।. इस रूप और रगो की सृष्टि से अधिक मनोहर मुझे कुछ नही लगता । जीवन शक्ति के समस्त दर्शन, ज्ञान-विज्ञान, भावना, कल्पना एव गुणो की अन्तिम और ठोस परिणति इसी नाम रूप के जगत् मे है । यही साकार सत्य है ।"

निष्कर्ष

पंत जी के प्रारम्भिक काव्य के विवेचन द्वारा हम उनके विचारों के जिन निष्कर्षों मे पहुँचते है, उनकी तालिका निम्न स्तम्भो मे बनाई जा सकती है :--

---

१ 'ज्योत्स्ना',--पृ० ४०

२ ज्योत्स्ना, पृ० ५१

१-(अ) वीणा-ग्रन्थि काल मे वे ईश्वर पर विश्वास करने वाले पूर्ण आस्थावान भक्त प्रतीत होते है।

(ब) सान्त से उठ कर अनन्त की प्राप्ति की स्पृहा। इससे वे व्यष्टि भावना से अधिक समष्टि भावना पर प्रकर्ष देते हुये जान पडते है।

२- पल्लव-गुंजन काल मे कवि का विचार दर्शन उपनिषदो के अद्वैतवाद और बौद्धो के शून्यवाद तथा क्षणिकवाद पर आधारित रहा है। इन दोनो सग्रहो की अनेक रचनाओ मे उनकी विचारणा रहस्यवाद की ओर अधिक झुकी हुई है और कवि प्राय. सर्ववादी हो गया है।

'गुंजन' से कवि के मानवतावादी दृष्टिकोण का प्रारम्भ मानना चाहिये। उसने अनेक रचनाओ मे मानव के सुख-दुःख, हर्ष-विषाद तथा शान्ति पर विचार किया है। किन्तु, उसका अभीष्ट इन द्वन्द्वो से मुक्ति पाने मे रहा है। इस अभीष्ट की सिद्धि उसके एक सर्व व्यापक सत्ता की प्राप्ति मे है, अर्थात् वह अध्यात्म की चिर उपलब्धि मे अमरत्व और शान्ति को मानता है।

३-ज्योत्स्ना मे कवि का मानवतावादी दृष्टिकोण अधिक स्पष्ट हुआ है। वह मानव की अनेक समस्याओ का समाधान करने मे समग्र नाटक मे सतत् प्रयत्नशील रहा है। उसने इन दुःख-सुखात्मक समस्याओ की उत्पत्ति आध्यात्मिकता और भौतिकता के अतिवादी दृष्टिकोण मे मानी है। उसका मत है इनमे से किसी एक पर अधिक प्रकर्ष जीवन को एकाँगी बना देता है, जिससे वह असन्तुलित होकर दुखमय हो उठता है। दोनो की सम्यक् स्वीकृति मे ही सुख शान्ति प्राप्त हो सकते है।

साराश यह कि वे अपनी प्रारम्भिक रचनाओ से ही मानव को आधार बनाकर उसकी सुख-शान्ति के निदान को ढूंढने मे तत्पर थे। इसमे सन्देह नही कि उनकी विचारधारा ने अनेक परिधान बदले है, किन्तु, वे मूल से कभी इतस्ततः नही हुए।

पंत जी के मध्ययुगीन काव्य की विचारधारा

(अ) युगान्त—१९३५-३६

वीणा-ग्रन्थि, पल्लव-गुंजन और 'ज्योत्स्ना' की रचना के पश्चात् जहाँ कवि की रचनाओ का आरम्भिक युग समाप्त होता है, वही उसकी विचारधारा का एक नूतन पृष्ठ मानवतावाद को लेकर खुलता है। डा० नगेन्द्र ने युगान्त की रचनाओ के विषय मे ठीक ही लिखा है :—

"युगान्त की कविताएं चिन्तन-प्रधान है। ३४-३५ मे लिखी हुई सभी कविताओ का एक सूत्र गुंफित मिलेगा। एक अन्तर्धारा मिलेगी जो कवि के तात्कालिक विचारो और भावनाओ से सम्बन्ध रखती है। इन सभी मे मानव-जगत की मगलाशा

ओत-प्रोत हुई है। पल्लव का करुणा-क्लिष्ट भाव जो गुंजन मे आकर समझौते का रूप धारण कर चुका था, युगान्त मे आकर पूर्णतया मागलिक कामनाओ का वाहक बन गया है। इन कृतियो मे कवि जगत् के जीर्ण उद्यान मे मधु प्रभात लाने की शुभाकाक्षा बार-बार करता हुआ देखा जाता है। उसका करुणा-तृप्त हृदय मानवहित से पूर्ण हो गया है। वह मानवता के विकास द्वारा जीवन की पूर्णता स्थापित करने की शुभेच्छाओ से आकुल है।"[1] कवि मानवता के विकास के लिए, मानव-मगल के लिए किसी एक सिद्धान्त के कठघरे का अपने को बन्दी नही बनाना चाहता। यदि उपनिपदो के अद्वैतवाद से वह अपने को मानवता को प्राण देने मे अक्षम पाता है तो उसे मार्क्स द्वारा प्रतिष्ठित द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को स्वीकार करने मे किसी प्रकार की हिचक नही, यदि वह उसका मगल कर सके, उमे शान्ति दे सके। इसीलिए हम युगान्त और उसके पश्चात् की रचनाओ—युगवाणी और ग्राम्या—मे मार्क्सवादी रचनाए पाते है, यद्यपि वे मार्क्सवाद को उसके सकुचित-वृत्त मे नही स्वीकार करते। वे समता के समर्थक है, किन्तु अपने ढग से, क्योकि अगर ऐसा न होता तो वे ज्योत्स्ना मे मार्क्सवाद द्वारा स्वीकृत हिसा-सिद्धान्त तथा वर्गवाद को स्वीकार करते, जब कि उन्होने इनका पूर्ण खण्डन किया है। निश्चय ही वे जातिवाद, वर्ण और वर्ग के विरोधी है। वे मानव-कल्याण के मार्ग मे अन्धविश्वास को बाधक मानते है। इसीलिए वे युगान्त मे गा उठे है —

"निष्प्राण विगत युग ! मृत विहग !
जग नीड शब्द औ ! श्वासहीन,
च्युत, अस्त-व्यस्त पखो-से तुम,
झरझर अनन्त मे हो विलीन।"

जीर्ण-पत्रो के नष्ट हो जाने से क्या होगा, कवि ने अग्रिम पक्तियो मे उसकी संभावना व्यक्त की है:—

"ककाल जाल जग मे फैले
फिर नवल रुचिर पल्लव वाली।
प्राणो की मर्मर से मुखरित,
जीवन की मांसल हरियाली।
मजरित विश्व मे यौवन के
जग कर जग की पिक मतवाली
निज अमर प्रणय-स्वर मदिरा से,
भर दे फिर नवयुग की प्याली।"

---

१ सुमित्रानन्दन पत, लेखक—डा० नगेन्द्र, पृ० १२३
(सप्तम सस्करण, स० २०१२)

उपर्युक्त पक्तियो से स्पष्ट है कि कवि जीर्ण-पुरातन के स्थान पर नव्य-विचार-भावना तथा हर्ष-उल्लास वाले जगत् का आकाक्षी है। वह प्राचीन अनुपयुक्त विचारधारा के स्थान पर विचारोत्तेजक तथा भावोन्मेषक विचारो के प्रतिष्ठापन का समर्थक है; क्योकि प्राचीन मान्यताओ द्वारा आधुनिक-युग की नवीन समस्याओ का समाधान सम्भव नही। जाति-पाँति, कुल वर्ण की प्राचीन मान्यताएँ जड हो गई है। उनमे वह लचीलापन नही रहा जो मानव के विकास का सबल बन सके। अतएव उनके नष्ट हो जाने मे ही मानवता का कल्याण है। कवि ने इस सम्बन्ध मे अपने विचार निम्न पक्तियो मे व्यक्त किए है —

"झरे जाति - कुल - वर्ण - पर्ण घन,
अन्ध नीड - से रूढि रीति छन,
व्यक्ति - राष्ट्र - गत राग द्वेष रण,
झरे, मरे विस्मृति मे तत्क्षण।"[1]

और वह कवि कोकिल को सम्बोधित करता हुआ अग्रिम पक्तियो मे कहता है कि इनके नाश से तुझे चिन्ता नही होनी चाहिए, क्योकि इनके स्थान पर जो नवलता और स्नेह आवेगे वे अत्यधिक महिम होगे —

'गा कोकिल, गा कर मत चिन्तन।
नवल रुधिर से भर पल्लव-तन,
नवल स्नेह - सौरभ से यौवन,
कर मजरित नव्य जग जीवन,
गूँज उठे पी - पी मधु सब जन।"

अगली पक्तियो मे उनका मानवतावादी दृष्टिकोण और अधिक स्पष्ट हुआ है —

"रच मानव के हित नूतन मन,
वाणी, वेश, भाव, नव शोभन।"

"स्नेह, सुहृदता हो मानस-धन,
करें मनुज नव जीवन-यापन।"[2]

उपर्युक्त पक्तियो मे कवि प्राचीन के स्थान पर नूतन की प्रतिष्ठा करने के लिए आतुर है। नूतनता लाने के लिए उसका अहिसक मन हिसा का सहारा भी लेने मे नही हिचकता। किन्तु, अन्ततोगत्वा वह मगल का ही काक्षी है। वास्तव मे पन्त जी के समक्ष यह सत्य व्यामिष्ट नही है कि उपकरण अथवा साधन साध्य नही

---

१. 'सुमित्रानन्दन पन्त', लेखक—डा० नगेन्द्र, पृ० १२
(सप्तम सस्करण, स० २०१२)

२. वही, पृ० १२–१३

बन सकते । वे जानते है कि ध्वस या विनाश का उद्देश्य निर्माण ही है । अस्तु, वे सडे-गले पुरातन के इसलिए विरोधी है, क्योकि उससे मानवता का कोई हित सम्भव नही । इसीलिए उन्होने कोकिल अथवा कवि रूपी कोकिल से 'पावक-कण' बरसाने की जहाँ एक ओर कामना की है, वही वे मानव और मानवता को विस्मृत नही कर सके, क्योकि मानव कोई साधारण जीवधारी नही है । वह तो 'चिरन्तन', 'स्फुलिंग' है । वे इसी रचना के अन्तिम चरण मे इस सम्बन्ध मे इस प्रकार अपने विचार प्रकट करते है —

"गा कोकिल, सन्देश सनातन,
मानव दिव्य स्फुलिंग चिरन्तन,
वह न देह का नश्वर रज कण ।
देश काल है उसे न बन्धन ।
मानव का परिचय मानवपन ।"

वे प्राचीन भारतीय विचारको के समान ही मानव को दिव्य प्राणी के रूप मे स्वीकार करते है, कदाचित् सृष्टि के चरम भौतिक विकास के रूप मे भी । गोस्वामी तुलसीदास ने भी मानव को सभी प्राणियो से अधिक प्रतिष्ठा प्रदान की है । वे मानव शरीर को देवताओ के लिए भी दुर्लभ वस्तु मानते है, क्योकि अन्य योनियाँ तो भोग-योनियाँ है । केवल मनुष्य-योनि ही कर्म-योनि है और इसी के माध्यम से समग्र साधनाएँ सम्पन्न होती है । अभ्युदय और नि.श्रेयस् की सभी उपलब्धियाँ मानव-शरीर से ही सम्भव है ।[1] पन्त जी भी गोस्वामी तुलसीदास की तरह मानव-शरीर के गुणगान करते हुए नही अघाते । वे भी उसे ईश्वर की सर्वशक्तिमान शक्ति के रूप मे स्वीकार करते हुए उसे मात्र 'नश्वर' मृत्तिका-कण के रूप मे नही स्वीकार करते और न उसके लिए किसी प्रकार का बन्धन ही मानते है । वह चिर स्वतन्त्र है । उसे देश, काल, वर्ग, वर्ण आदि का कोई बन्धन नही बाँध सकता । पन्त जी इसीलिए मानवता के द्वारा मानव का परिचय देते है ।

प्राचीन युग की परिसमाप्ति के चिह्न एक द्रष्टा कवि के रूप मे पन्त जी ने पहले ही देख लिए थे । इसीलिए वे कहते है:—

"युगान्त मे निश्चय रूप से इस परिणाम पर पहुँच गया था कि मानव-सभ्यता का पिछला युग अब समाप्त होने को है और नवीन युग का प्रादुर्भाव अवश्यम्भावी है ।"

जिन प्रेरणाओ से प्रभावित होकर यह कहा था, उसका आभास 'ज्योत्स्ना' मे पहिले ही हो चुका था ।

---

१. प्रभु तुम बहुत अनुग्रह कीन्ह्यो,
साधन धाम विबुध दुर्लभ तन, ताहि कृपा करि दीन्ह्यो ।
—विनयपत्रिका

वास्तव मे कवि ने जिस युग के अन्त की भूमिका का परिचय 'ज्योत्स्ना' मे पाया था, वह था सामन्तवादी और पूजीवादी युग, इन्ही का अत है 'युगान्त'। मध्ययुगीन पूजीवादी तथा सामन्तवादी विकृतियो को कवि ने मानवता के विकास-मार्ग मे अवरोध रूप मे पाया। वह इन विकृतियो के अनेकविध रूपो से जो सस्कृति-व्यामोह उत्पन्न करते थे, तिलमिला उठा और इनके विरोध मे कह उठा --

"शत मिथ्या वाद विवाद तर्क
शत रूढि नीति शत धर्म द्वार,
शिक्षा, सस्कृति, संस्था समाज,
वह पशु मानव का अहकार।"[1]

कवि ने देखा कि मानव का यह 'अहकार' जो गत युग की विकृतियो से सभूत है, वास्तव मे विकास का प्रगतिशील चरण नही है, वरन् यह तो उसे पतन की ओर घसीटने वाला है, उसे पशु बनाने वाला है, तो वह युगद्रष्टा की पीडा लिए हुए कराह उठा। उसका स्वर एक जागरूक और ईमानदार प्रहरी के समान बापू के प्रति शीर्षक रचना की इन पक्तियो मे फूट पडा .--

"जडता, हिंसा, स्पर्धा मे भर,
चेतना, अहिसा, नम्र ओज,
पशुता का पकज बना दिया
तुमने मानवता का सरोज।
पशुबल की कारा से जग को
दिखलाई आत्मा की विमुक्ति,
विद्वेष, घृणा से लडने को,
सिखलाई दुर्जय प्रेमयुक्ति।
वर श्रम-प्रसूति से की कृतार्थ
तुमने विचार परिणीत उक्ति,
विश्वानुरक्त है अनासक्त,
सर्वस्व त्याग को बना मुक्ति।"[2]

कवि ने महात्मा गाँधी मे उस प्रतीक युग-पुरुष के दर्शन किये, जो आगत युग का प्रतिनिधि हो सकता है और जिसके सस्पर्श द्वारा विगत सामन्त युगीन विकृतियां नष्ट हो सकती है और हुई है, क्योकि बिना इन विकृतियो के नष्ट हुए नूतन युग का आगमन नही हो सकता, जिसका आभास उसे सर्व प्रथम हुआ है और जिसकी महिमा-सुषमा का वह प्रथम गायक है :--

१ युगान्त, पृ० ३१ (प्रथम सस्करण स० २००६ वि०)
२ युगान्त, पृष्ठ ५८

"सुन्दरता का आलोक स्रोत,
है फूट पडा मेरे मन मे
जिससे नवजीवन का प्रभात
होगा फिर जग के आगन मे ।
* * *
मै सृष्टि एक रच रहा नवल
भावी मानव के हित, भीतर,
सौन्दर्य, स्नेह, उल्लास मुझे
मिल सका नही जग मे बाहर ।"[1]

और उसने 'सौन्दर्य', 'स्नेह' तथा 'उल्लास' से आपूर्यमाण आगत युग का स्वप्न क्यो देखा है ? क्योकि मानव ही जैसा कि ऊपर कहा गया है, सृष्टि का चरम विकास है, सब से सुन्दर है । पत जी ने लिखा है .—

"सुन्दर है विहग सुमन सुन्दर,
मानव ! तुम सब से सुन्दरतम ।
निर्मित सब की तिल सुषमा से
तुम निखिल सृष्टि मे चिर निरुपम ।
यौवन ज्वाला से वेष्टित तन
मृदु त्वच सौन्दर्य-प्ररोह अग,
न्योछावर जिन पर निखिल प्रकृति,
छाया प्रकाश के रूप-रग"[2]

और इसी मानव की सुख-सुविधा के लिए कवि ने 'युगान्त' को अपना विषय बनाया है । 'युगान्त' मे कवि का मन वायवीय परिकल्पनाओ से धरती पर उतरा है और उसके दृष्टिकोण मे मासलता आई है । वह सौन्दर्य को मानव और मानवता के परिप्रेक्ष्य मे देखने लगा है । डा० नगेन्द्र ने ठीक ही कहा है :—

"गुंजन मे जो कला तितली के पख छोड कर उडी थी वह युगान्त मे आकर मासल हो गई है । उसके लघु-लघु गात अब पृथु हो गए हैं । भाषा मे ज्योत्स्ना के गीतो की रुनझुन नही है । उसमे है एक सबल ओज ।"[3]

युगवाणी (१६३६–३६)

'युगान्त' के विवेचन से स्पष्ट है कि कवि की कल्पना उसकी (युगान्त) कविताओ मे मूर्त होने लगी थी । उसमे मासलता आने लगी थी । 'युगवाणी' की

---

१ युगान्त, पृ० ३४-३५
२ वही, पृ० ५०
३ सुमित्रानन्दन पत, डा० नगेन्द्र, पृ० १२९

रचनाओ मे उसमे और निखार आया। विचार और अधिक स्पष्ट हुए। कवि ने 'युगवाणी' के विज्ञापन मे स्वीकार किया है .—

> "जिनमे (युगवाणी की रचनाओ मे) मैने युग के गद्य को वाणी देने का प्रयत्न किया है। यदि युग की मनोवृत्ति का किंचिन्मात्र आभास इनमे मिल सका तो मै अपने प्रयास को विफल नही समझू गा।"

'गद्य' शब्द के प्रयोग से कवि ने अपनी रचनाओ मे विचारो की प्रधानता स्वीकार की है और साथ ही 'युग की मनोवृत्ति' का चित्रण जहाँ एक ओर बहिर्संघर्ष की व्याख्या करने की ओर सकेत करता है, वही उस समय की राजनीतिक विचारधारा को रूपायित करने की चेष्टा का भी द्योतन करता है। पत जी ने 'युगवाणी' के दृष्टिपात मे स्वय ही अपनी 'विचारधारा' की ओर निम्नलिखित ढग मे अपने विचार प्रकट किए है :—

> "युगवाणी मे प्रकृति सम्बन्धी कविताओ के अतिरिक्त—जो मेरी अन्य प्राकृतिक रचनाओ की तुलना मे विशेषता रखती है—मुख्यत पाच प्रकार की विचारधाराए मिलती है .—
>
> १—भूतवाद और अध्यात्मवाद का समन्वय, जिससे मनुष्य की चेतना का पथ प्रशस्त बन सके।
>
> २—समाज मे प्रचलित जीवन मान्यताओ का पर्यालोचन एव नवीन सस्कृति के उपकरणो का सग्रह।
>
> ३—पिछले युगो के उन मृत आदर्शों और जीर्ण रूढि-रीतियो की तीव्र भर्त्सना, जो आज मानवता के विकास मे बाधक बन रही है।
>
> ४—मार्क्सवाद तथा फ्रायड के प्राणिशास्त्रीय मनोदर्शन का युग की विचारधारा पर प्रभाव, जन समाज का पुनः सगठन एव दलित लोक-समुदाय का जीर्णोद्धार।
>
> ५—बहिर्जीवन के साथ अन्तर्जीवन के सगठन की आवश्यकता, राग भावना का विकास तथा नारी जागरण।[1]

कवि की उपर्युक्त विचार-सरणि से यह प्रतीत होता है कि उसका मन अनेक विचारधाराओ से (जो उस युग मे उपस्थित थी) अत्यधिक ऊहापोह मे पड गया था। उसका वह अन्तर्मन्थन चाहे जितना वैविध्यपूर्ण क्यो न रहा हो, एक ही आधार पर अधिष्ठित था और वह आधार था 'मानव'। क्योकि कवि ने 'युगान्त' और 'युगान्तर' की ही रचनाओ से अपनी वायवीय रचनाओ मे परिवर्तन का परिचय दिया था, कवि को अब विश्वास हो चला था कि प्राचीन मान्यताओ और आदर्शों के आधार पर नव सस्कृति का निर्माण असम्भव है। इसलिए वह उनके नष्ट होने मे

---

१ युगवाणी—दृष्टिपात, पृ० १० (चतुर्थ सस्करण १९५९)

ही मानवता और सस्कृति का श्रेय समझता है। एकागी दर्शनों से, वे चाहे भौतिकवाद के समर्थक हो और चाहे अध्यात्मवाद के परिपोषक, मानवता का कल्याण नही हो सकता, न ही हुआ हे और न उनके ऊपर भावी सस्कृति की नीव डाली जा सकती है। 'युगवाणी' की कुजी के रूप मे 'बापू' शीर्षक अपनी पहली कविता की निम्न पक्तियो को जिनमे उसने भौतिकवाद और अध्यात्मवाद के समन्वय मे सस्कृति की पूर्ण परिभाषा देखी है, कवि ने स्वीकार किया है —

"भूतवाद उस धरा-स्वर्ग के लिए मात्र सोपान,
जहाँ आत्मदर्शन अनादि से समासीन अम्लान।"[1]

इन पक्तियो मे यह प्रकट होता है कि कवि की 'विचार-धुरी' 'मानव' और मानव-सस्कृति रही है। वह इसकी समग्रता के लिए भौतिकता और अध्यात्म दोनो को स्वीकार करता है। भौतिकता का साधन के रूप मे और आध्यात्मिकता अथवा आत्म-दर्शन को साध्य के रूप मे। कवि ने 'बापू' मे उस पूर्ण सस्कृति के दर्शन किए है। उन्हे ही उसने सस्कृति का दूत कहा है। इसलिए उसने उन्हे सबोधित करते हुए कहा है .—

"बापू! तुमसे सुन आत्मा का तेजराशि आह्वान,
हँस उठते है रोम हर्ष से, पुलकित होते प्राण।
भूतवाद उस धरा स्वर्ग के लिए मात्र सोपान,
जहाँ आत्मदर्शन अनादि से समासीन अम्लान।
नही जानता, युग विवर्त मे होगा कितना जन क्षय,
पर, मनुष्य को सत्य अहिसा इष्ट रहेगे निश्चय!
नव सस्कृति के दूत! देवताओ का करने कार्य,
मानव आत्मा को उबारने आए तुम अनिवार्य।"[2]

उपर्युक्त पक्तियो से यह स्पष्ट है कि कवि को परिवर्तन अभीष्ट है। इस परिवर्तन की चेष्टा मे हो सकता है, अमित 'जन क्षय' हो, किन्तु वह उस हिंसा को इष्ट मानने को प्रस्तुत नही। वह मानव के लिए सत्य और अहिसा को ही अभीष्ट मानता है। उनकी यह समन्वयात्मक दृष्टि 'युगवाणी' की निम्न पक्तियो मे भी दृष्टिगोचर होती है —

"आत्मा ही बन जाय देह नव,
ज्ञान ज्योति ही विश्व स्नेह नव,
हास, अश्रु, आशा काक्षा

---

१ युगवाणी–दृष्टिपात, पृ० १० (चतुर्थ सस्करण १९५९)
२ युगवाणी, पृ० १६ (चतुर्थ सस्करण, १९५६)

बन जायँ खाद्य, मधु पानी,
युग की वाणी ।"[1]

स्पष्टत: छायावादी परिवेश मे लिखी गई पत जी की रचनाओ से इन रचनाओं (युग-वाणी, ग्राम्या-काल की रचनाओ मे) विचार-परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। वीणा-पल्लव काल की रचनाओ मे कवि का ध्यान सामूहिक अभ्युदय की ओर नही गया था। उस समय तक वह ह्रास, आश, आकाक्षा आदि को पानी के रूप मे नही देख पाया था। उसमे विचार का अभाव होने के कारण मनोहर सगीत के ही मुख्यतया दर्शन होते है। किन्तु, युगवाणी और मुख्यतया युगवाणी की उत्तरकालीन रचनाओ मे कवि विचार-प्रधान हो गया है और वह मानव-जीवन तथा मानव-सस्कृति के विषय मे मात्र सोचता ही नही, वरन् उनके विषय मे उसके विचार भी स्पष्ट होने लगे है —

"भाव कर्म मे जहां साम्य हो सन्तत।
जग जीवन मे हो विचार जन के रत
ज्ञान वृद्ध, निष्क्रिय न जहाँ मानव मन।
मृत आदर्श न बधन, सक्रिय जीवन।"[2]

कवि 'नव सस्कृति' के लिए भाव-कर्म मे समन्वय का काक्षी है। जग-जीवन की सफलता के लिए वह उसमे व्यक्ति के लिए विचार चाहता है। वह ऐसी सस्कृति की अभिलाषा करता है, जहाँ 'मानव मन' निष्क्रिय न हो और मृत सस्कार जिसे बाधित न करते हो, जीवन मे सक्रियता हो।

'युगवाणी' मे कवि ने उस अध्यात्मवादिता की भी निन्दा की है, जो मानव को निष्क्रिय बनाती है और कल्पना लोक मे ही विचरने की प्रेरणा देती है, साथ ही भू-जीवन के सघर्षो से पलायन करने के लिए बाध्य करती है—

"तक रहे हो गगन ?
मृत्यु नीलिमा गगन ?
अनिमेष, अचितवन, काल नयन।
नि:स्पन्द, शून्य, निर्जन, नि.स्वन ?
देखो भू को
जीव प्रसू को।"[3]

किन्तु, साथ ही कवि इस बात को भी नही चाहता कि मानव-मन मात्र भौतिक-जीवन को ही प्रकर्ष दे। क्योकि इससे तो वह एकागी होकर बिखर जायगा। अस्तु, वह मात्र वाह्य साम्यवाद का खंडन करता हुआ कहता है :—

१ युगवाणी, पृष्ठ २० (चतुर्थ सस्करण, १९५९)
२ ,, ,, २४ ,, ,, ,,
३ ,, ,, २५ ,, ,, ,,

"वाह्य नही, आन्तरिक साम्य,
जीवो से मानव को प्रकाम्य।
मानव को आदर्श चाहिए।
सस्कृति, आत्मोत्कर्ष चाहिए,
वाह्य विधान उसे है बंधन
यदि न साम्य उनमे अन्तरतम"[1]

वास्तव मे अन्तर्वाह्य का बिना समन्वय हुए आत्मोत्कर्ष असंभव है।

उपर्युक्त समन्वयवादी विचारधारा के अतिरिक्त 'युगवाणी' मे मार्क्सवादी प्रभाव के कारण कवि का प्रगतिवादी दृष्टिकोण भी प्रकट हुआ है। एतद्विषयक, युगवाणी मे सग्रहीत 'दो लडके', 'धनपति', 'कृषक', 'श्रमजीवी', 'नारी', 'दो मित्र', 'युग', 'नृत्य', शीर्षक रचनाए देखी जा सकती है। उनकी इस विचारधारा के कुछ उदाहरण प्रस्तुत है :—

"लोक क्रान्ति का अग्रदूत, वर वीर जनहित,
नव्य सभ्यता का उन्नायक, शासक, शासित!
चिर पवित्र वह, भय, अन्याय, घृणा से पालित,
जीवन का शिल्पी, पावन श्रम से प्रक्षालित।'[2]

उपर्युक्त पक्तियो मे कवि ने 'वीणा-ग्रन्थि-पल्लव-गु जन' काल के छायावादी मार्दव से भिन्न ठोस तथा कठोर जीवन की ओर दृष्टिपात किया है। इन पक्तियो मे उसने श्रमजीवी के विपन्न जीवन की ओर सकेत किया है। वह श्रमजीवी जो जीवन का शिल्पी है, जो क्रान्ति का अग्रदूत है तथा नूतन सभ्यता का उन्नायक है, किन्तु वह शासको की कठोर यत्रणाए सहता है और जिसका पालन भय, अन्याय और घृणा के द्वारा किया गया है।

कृषक जो कि सब का अन्नदाता है, उसकी कितनी विपन्न स्थिति है, निम्नपंक्तियों मे देखिए :—

"युग युग का वह भारवाह, आकटि नतमस्तक,
निखिल सभ्य ससार पीठ का उसके स्फोटक।
बज्र मूठ, जड भूत, हठी, वृष बाधत कर्षक,
ध्रुव ममत्व की मूर्ति, रूढियो का चिर रक्षक।
कर जर्जर, ऋण ग्रस्त, स्वल्प पैतृक स्मृति भू-धन,
निखिल दैन्य-दुर्भाग्य, दुरित, दुख का जो कारण,
हर्ष शोक की स्मृति के बीते जहाँ, वर्ष क्षण।"[3]

---

१ युगवाणी, पृष्ठ २५ (चतुर्थ सस्करण) १९५९)
२ " २९ " "
३ " ५१ " "

मध्ययुग मे जो नारी के प्रति मानव का दृष्टिकोण रहा है, उससे कवि का मन सन्तप्त हो उठा है। प्राचीन युग मे नारी किस प्रकार समाज मे समादृत थी, इसका प्रमाण मनुस्मृति की इस पक्ति से प्रकट होता है—

"यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते,
रमन्ते तत्र देवता।"

किन्तु, धीरे-धीरे इस दृष्टिकोण मे परिवर्तन आता गया और अन्तत मानव ने उसे आत्मा विहीन मात्र देह के रूप मे देखा। उसकी दृष्टि नारी के प्रति प्रेम-परक न होकर भोगपरक हो गई। मध्ययुगीन हिन्दी-काव्य मे नारी विषयक विचारणा इतनी स्थूल और भोगपरक रही है कि विश्वास नही होता कि सौन्दर्य-व्याख्या का इतना वीभत्स रूप और भोग वृत्ति का इतना विकृत रूप अन्यत्र कही मिल सकता है। कवि पत ने कदाचित् उसके प्रति इसी दृष्टिकोण का उल्लेख इन पक्तियो मे किया है :—

"योनि मात्र रह गई मानवी
निज आत्मा कर अर्पण,
पुरुष प्रकृति की पशुता का,
पहने नैतिक आभूषण।
नष्ट हो गई उसकी आत्मा,
त्वचा रह गई पावन,
युग-युग से अवगु ठित गृहिणी,
सहती पशु के बधन।"[1]

और इसीलिए कवि ने मानव से उसे अपने दासता-पाश से मुक्त करने की अपील की है :—

"खोलो हे मेखला युगो की
कटि प्रदेश से, तन से!
अमर प्रेम हो बधन उसका,
वह पवित्र हो मन से।
अगो की अविकच इच्छाए
रहे न जीवन पातक,
वे विकास मे बने सहायक,
होवे प्रेम प्रकाशक!"[2]

---

१ युगवाणी पृ० ६४ (चतुर्थ स०, १९५९)

२ वही पृ० ६५

किन्तु ऐसा लगता है कि कवि का मन इस काल में मार्क्स और गाँधी को लेकर बड़े असमजस मे पड गया है। उसके मन का यह सघर्ष कवि की 'मार्क्स' और 'गाँधी' के प्रति लिखी हुई इन पक्तियो मे बिल्कुल स्पष्ट है :—

"दिग् दिगन्त मे व्याप्त, युग का चिर गौरव हर।
जन सस्कृति का नव विराट्, प्रासाद उठेगा भू पर।"
धन्य मार्क्स ! चिर तमच्छन्न पृथ्वी के उदय शिखर पर।
तुम त्रिनेत्र के ज्ञान-चक्षु से प्रकट हुए प्रलयकर।"[1]

उपर्युक्त पक्तियों मे जहाँ उसने मार्क्स के प्रति अपना समादर प्रकट किया है, वही उसे भूत दर्शन की जानकारी भी है और उसके प्रति आस्था भी। किन्तु अपनी प्राचीन मान्यता के कारण उसको वह गाँधीवाद के साथ ही सयुक्त कराने मे हित समझता है :—

"गाँधीवाद हमे देता, जीवन पर अन्तर्गत विश्वास।
मानव की नि सीम शक्ति का मिलता, उसमे चिर आभास।
मनुष्यत्व का तत्व सिखाता, निश्चय हमको गाँधीवाद।
सामूहिक जीवन-विकास की, साम्य योजना है अविवाद।"[2]

अस्तु, यह विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि 'युगवाणी' के अन्तर्गत श्री पत के कवि का मन वायवीय क्षितिज से उतर कर भूतल पर आया है और वह भू-जीवन और मानव की समस्याओ के विषय मे सोचता ही नही, वरन् उनका समाधान भी प्रस्तुत करने की चेष्टा करता है। वह इस काल मे दो महापुरुषो के विचारो से प्रभावित है। एक तो कार्ल मार्क्स के तथा दूसरे महात्मा गाँधी के। किन्तु वह किसी एक के विचारो को मानवता के लिए हितकर नही समझता, वरन् मार्क्स के 'भूत-दर्शन' और गाँधी जी के अध्यात्म-दर्शन के समन्वय मे ही नव सस्कृति के निर्माण की कामना करता है। उसके विचारो मे भौतिकता और आध्यात्मिकता को लेकर पर्याप्त संघर्ष रहा है और कदाचित् वह इनमें से किसी एक की महत्ता नही स्वीकार कर सका, इसलिए उनके समन्वय का समर्थक हो गया है।

ग्राम्या (१६३६–४०)

'युगवाणी' के पश्चात् पन्त की ग्राम्या प्रकाशित हुई। इस सग्रह मे सन् १९३९–४० मे उनकी लिखी हुई ५३ कविताएँ सगृहीत है। इन रचनाओ मे 'युगवाणी' की स्थूल विचारधारा मे और अधिक स्पष्टता आई है। कहना तो यह चाहिए कि कवि के समाज सापेक्ष्य चिन्तन को 'ग्राम्या' की रचनाओ मे चरम विकास

---

१ युगवाणी, पृष्ठ ४४, चतुर्थ सस्करण, १९५९
२ " " " "

प्राप्त होता है। इनमे कवि ने ग्राम्य-जीवन सम्बन्धी अनेक प्रयोग किए है, 'ग्राम्या' की व्याख्या करता हुआ कवि स्वय कहता है —

"है मॉस-पेशियो मे उसके दृढ कोमलता,
सयोग अवयवो मे, अवश्लथ उसके उरोज।
कृत्रिम रति की है नही हृदय मे आकुलता,
उद्दीप्त न करता उसे भाव कल्पित मनोज।"[1]

इन पक्तियो से यह सिद्ध होता है कि कवि का मन रूप और प्रकृति के वायवीय सुन्दर बिम्बो के चित्रण से विरक्त होकर यथार्थ की ठोस भूमि पर आ ही नही गया है, वरन् वह उसके पुष्ट चित्र भी चित्रित करने लगा है। किन्तु, कवि ने इन रचनाओ मे ग्रामीणो के प्रति मात्र बौद्धिक सहानुभूति ही दी है, वह उनके साथ घुल-मिल नही सका। जैसा कि उसने स्वय 'ग्राम्या' के 'निवेदन' मे स्वीकार किया है —

"इनमे पाठको को ग्रामीणो के प्रति केवल बौद्धिक सहानुभूति ही मिल सकती है। ग्राम-जीवन मे मिलकर, उसके भीतर से, ये अवश्य नही लिखी गई है।"

वे इसका कारण बतलाते हुए अग्रिम पक्ति मे कहते है —

"ग्रामो की वर्तमान दशा मे वैसा करना केवल प्रतिक्रियात्मक साहित्य को जन्म देना होता।"

पन्त जी के 'निवेदन' से यह स्पष्ट है कि उन्होने बौद्धिक धरातल पर ही ग्रामो का पर्यवेक्षण प्रस्तुत किया है और ऐसा करने मे उनका प्रच्छन्न मत यह प्रतीत होता है कि वे उनका आदर्श रूप ही प्रस्तुत करे। अपने इस मत के कारण वे साहित्य मे श्रेय की ही प्रतिष्ठा के समर्थक प्रतीत होते है। वे यथार्थ को भी आदर्श के अनुबन्ध मे स्वीकार करते प्रतीत होते है। किन्तु, काव्य-कला की दृष्टि से 'ग्राम्या' की रचनाये किसी प्रकार घटतर नही है। खण्डवा से प्रकाशित 'कर्मवीर' ने 'ग्राम्या' की कला पर विचार करते हुए ठीक ही कहा है —

"ग्राम्या पके हुए धान के लहलहाते खेत के समान है। उसमे ग्रामीण जीवन की आर्द्रता है। 'ऐस्थीट' कवि ने कई सुन्दर चित्र आलेखित किए है। भाषा और भी सरल, ओजस्वी और सजीव हो उठी है। कई जगह ग्रामीण शब्दो का भी प्रयोग है जो 'लोकल कला' उत्पन्न करता है। 'धोबियो का नाच', 'चमारो का नाच', 'कहारो का नाच' इफेक्ट की दृष्टि से अत्यन्त ललित चीजे है। 'भारत माता', 'ग्रामवासिनी', 'अहिंसा', 'चरखा गीत' सुन्दर सघगीत (कोरस) है।"

जैसा कि ऊपर कहा गया है 'ग्राम्या' की रचनाओं का प्रणयन 'युगवाणी' की विचार-भूमि पर हुआ है। 'युगवाणी' के अन्तर्गत कवि ने सामन्तयुगीन तथा

---

१. ग्राम्या, पृष्ठ २१ (प्रथम सस्करण, सं० १९९७)

पूँजीवादी सस्कृति के पतन की चर्चा की है। अस्तु, 'ग्राम्या' की रचनाओ मे उसे ग्राम और ग्रामवासी सुन्दर एव पुष्ट तथा माँसल और रक्तसम्पन्न नही प्रतीत हुए, वरन् उसने उन्हे निम्न प्रकार से देखा है —

"यह तो मानवलोक नही रे यह है नरक अपरिचित।
यह भारत का ग्राम, सभ्यता, सस्कृति से निर्वासित।
झाड-फूस के विवर, यही क्या जीवन-शिल्पी के घर?
कीडो से रेगते कौन ये? बुद्धि प्राण नारी नर।"[1]

* * * *

"धर्मो का उत्पात, जातियो वर्गों का उत्पीडन,
इसमे चिर सकलित रूढि, विश्वास, विचार सनातन।
घर घर के बिखरे पत्रो मे नग्न, क्षुधार्त कहानी,
जन-मन के दमनीय भाव कर सकती प्रकट न वाणी॥
मानव दुर्गति की गाथा से ओत-प्रोत मर्मान्तिक,
सदियो के अत्याचारो की सूची यह रोमाचक।"

पन्त के कवि ने ग्रामो और ग्रामीणो का कितना सही चित्र उपस्थित किया है, कहने की आवश्यकता नही। (ग्राम्या) की इस प्रकार की रचनाएँ वस्तुत उसके वीणा, (ग्रन्थि) और (पल्लव) आदि के कल्पना तथा सौन्दर्यवादी दृष्टिकोण के परिवर्तन की सूचना देती है। अपने इस परिवर्तित दृष्टिकोण की सूचना कवि ने (आधुनिक कवि पन्त) की भूमिका मे इस प्रकार दी है —

" 'कितनी चिडिया उडे अकाश, दाना है धरती के पास' वाली कहावत के अनुसार ऐतिहासिक भूमि पर उतरने से कल्पना के लिए जीवन मे सत्य का दाना सुलभ और साकार हो जाता है, और कृषि, वाणिज्य, व्यवसाय कला-कौशल, समाजशास्त्र, साहित्य, नीति, धर्म, दर्शन के रूप मे खण्ड-खण्ड विभक्त मनुष्य की सास्कृतिक चेतना का ज्ञान अधिक यथार्थ हो जाता है।"

'आधुनिक कवि पन्त' के उपर्युक्त उद्धरण मे कवि ने परिवर्तन के महत्व को स्वीकार किया है। क्योकि बिना परिवर्तन के जीवन मे ताजगी का एकान्त अभाव हो उठता है तथा उसमे सडाध आ जाती है और वह मरणोन्मुख हो उठता है। यही बात सस्कृति के विषय मे भी कही जा सकती है। यदि समयानुकूल सास्कृतिक नियमो-उपनियमो, सिद्धान्तो-उपसिद्धान्तो मे परिवर्तन-विवर्तन न किए गए तो उसमे कठोरता आ जाती है और कालान्तर मे वह नष्ट हो जाती है। ग्रीक, मिश्र और रोम की सभ्यता को उदाहरण के लिए रखा जा सकता है। कविता के लिए भी यही बात कही जा सकती है। वही काव्य और कवि अमर रहेगा जो देश-कालानुसार

---

१. ग्राम्या, पृष्ठ १६ (प्रथम सस्करण, १९९७ वि०)

अपने विचारों और काव्य-दृष्टि मे परिवर्तन करता है। कवि की (ग्राम्या) की रचनाओ मे भी इसी कारण उसकी प्रारम्भिक रचनाओ का मार्दव, स्निग्धता, सौन्दर्य-दृष्टि और वायवीय चित्रणो का अभाव प्राप्त होता है। क्योंकि पन्त जी के मतानुसार —

"भविष्य के साहित्यिक को इस युग के वाद-विवादो, अर्थशास्त्र और राजनीति के मतान्तरो द्वारा, इस सन्धिकाल की घृणा, द्वेष, कलह के वातावरण के भीतर से, अपने को वाणी नही देनी पड़ेगी। उसके सामने आज के तर्क-सघर्ष, ज्ञान-विज्ञान, तर्क-कल्पना सब घुल मिलकर एक सजीव सामाजिकता और सास्कृतिक चेतना के रूप मे वास्तविक एव साकार हो जायेंगे। वर्तमान युद्ध और रक्तपात के उस पार वह एक नवीन, प्रबुद्ध, विकसित और हँसती-बोलती हुई, विश्वनिर्माण मे निरत, मानवता मे अपनी सृजन-सामग्री ग्रहण कर सकेगा। इस परिवर्तन-काल के विक्षुब्ध लेखक की अत्यन्त और अपार कठिनाइयाँ है।"

कवि ने अपनी इस विचारधारा का साकार रूप 'ग्राम्या' की रचनाओ मे देखना चाहा है। वह किस प्रकार के समाज की प्रतिष्ठा करना चाहता है, 'ग्राम्या' की रचनाओ मे उसकी व्याख्या की गई है।

पत जी ने सामन्तयुगीन सस्कृति के विनाश के पश्चात् साम्यवाद की प्रतिष्ठा को एक अनिवार्य आवश्यकता के रूप मे ग्राम्या' के अन्तर्गत स्वीकार किया है। कवि ने अपने एतद्विषयक विचार इन पक्तियो मे बडी स्पष्टता से प्रकट किए है —

"श्रीराम रहे सामन्तकाल के ध्रुव प्रकाश।
पशुजीवी युग मे नव-कृषि सस्कृति के विकास॥
कर सके नही वे मध्य युगों का तम विनाश।
बन रहे सनातनता के तब से क्रीत दास॥

पशु-युग मे थे गण देवो के पूजित पशुपति।
थी रुद्रचरो से कुठित कृषियुग की उन्नति॥
श्रीराम रुद्र की शिव मे कर जनहित परिणति।
जीवित कर गए अहिल्या को, थे सीतापति॥

बाल्मीकि बाद आए श्री व्यास जगत वन्दित।
वह कृषि सस्कृति का चरमोन्नत युग था निश्चित॥
बन गए राम तब कृष्ण, भेद मात्रा का मित।
वैभव युग की बंशी से कर जन-मन मोहित॥
तुलसी ने कृषि मन युग अनुरूप किया निर्मित।

गत सस्कृतियाँ थी विकसित, वर्ग व्यक्ति आश्रित ।
सामन्त मान अब व्यर्थ समृद्ध विश्व-अतिशय"[1]

उपर्युक्त पक्तियो से स्पष्ट है कि कवि ने प्राचीन इतिहास के आधार पर भौतिकता के विवेचन की चेष्टा की है । सामन्त युग के पश्चात साम्यवादी व्यवस्था की प्रतिष्ठा की स्वीकृति निम्न पक्तियो मे और भी स्पष्ट है :—

"आज मिट गए दैन्य दु ख, सब क्षुधा तृषा के क्रन्दन ।
भावी स्वप्नो के पट पर, युग जीवन करता नर्तन ।।
डूब गए सब तर्क वाद, सब देशो राष्ट्रों के कण ।
डूब गया रव घोर क्रान्ति का, शान्त विश्व सघर्षण ।।
ग्राम नही वे, नगर नही वे, मुक्त दिशा औ क्षण से ।
जीवन की क्षुद्रता, निखिल, मिट गई मनुज जीवन से ।"[2]

उपर्युक्त पंक्तियो से यह सिद्ध हो जाता है कि कवि ने अपने को कोमल कल्पना की सुन्दर गुहा से निकाल कर यथार्थ की ठोस भूमि पर प्रतिष्ठित कर दिया है और इसीलिए वह जनवादी शक्तियो का पूर्ण विकास चाहता है .—

"आज युग का गुण है जनरूप,
रूप जन सस्कृति के आधार ।
स्थूल जन आदर्शो की सृष्टि,
कर रही नव सस्कृति निर्माण,
स्थूल युग का शिव, सुन्दर, सत्य,
स्थूल ही सूक्ष्म आज, जन प्राण ।"[3]

वह उन सारी शक्तियो का विरोधी है जो जनवादी प्रवृत्तियो के विकास मे बाधक है । वह अहिंसा को भी जनवादी तत्वो का विरोधी मानता है । इसीलिए वह कहता है :—

"वह मनुजोचित, निश्चित कब ? जब जन हो विकसित ।
भावात्मक आज नही वह, वह अभाव वाचक,
उसका भावात्मक रूप प्रेम केवल सार्थक ।
हिंसा-विनाश यदि, नही अहिसा मात्र सृजन,
वह लक्ष्य शून्य अब भर न सकी जन मे जीवन ।
भव तत्व प्रेम साधन है उभय विनाश सृजन,
साधन बन सकते नही, सृष्टि गति मे बधन ।"[4]

---

१ ग्राम्या, पृष्ठ ५८, ५९ और ६० (प्रथम संस्करण, १९९७ वि०)
२ ,, ,, ११-१२ ,, ,,
३ ,, ,, ९४ ,, ,,
४ ,, ,, ६६ ,, ,,

'ग्राम्या' के माध्यम से कवि ने जिस विकसित मानव के दर्शन किए है, उसका मूर्तिमान किन्तु, एकाकी उदाहरण महात्मा गाँधी के व्यक्तित्व मे उन्हे प्राप्त हुआ है :—

"पूर्ण पुरुष, विकसित मानव तुम, जीवन सिद्ध अहिसक,
मुक्त हुए तुम, मुक्त हुए जन, हे जग वंद्य महात्मन् ।"

'ग्राम्या' की रचनाओ के अन्तर्गत कवि ने जन-जीवन के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डाला है। उसकी दृष्टि जन-सस्कृति से लेकर जन-जीवन के समग्र अ ग-प्रत्यगो तक गयी है। इस दृष्टिकोण से ग्राम्या मे सगृहीत 'ग्राम युवती', 'ग्रामनारी', 'कठपुतले', 'गॉव के लडके', 'धोबियो का नृत्य', 'चमारो का नाच', 'नहान', 'कहारो का नाच', 'ग्राम देवता', 'ग्राम श्री' आदि रचनाए विशेष दृष्टव्य है।

ग्राम्या की रचनाओ के अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुचते है कि यद्यपि कवि का मन मार्क्स दर्शन से विशेष रूप से प्रभावित हुआ है, फिर भी उसने आध्यात्मिकता के पाश से मुक्ति नही पाई। 'बापू' शीर्षक ग्राम्या की पक्तियो मे उसके मन का यह सघर्ष स्पष्टतया दृष्टिगोचर हुआ है :—

"है श्लाध्य मनुज का भौतिक सचय का प्रयास।
मानवी भावना का क्या उसमे विकास ?"[1]

उसके इस अन्तर्द्वन्द्व का प्रतिबिंब 'खिडकी से' शीर्षक कविता की इन पक्तियों मे भी अभिव्यक्त हुआ है, जिनमे कवि ने प्राचीन दार्शनिको के इस विचार का अनुवाद प्रस्तुत किया है कि एक ही शक्ति से जगत् प्रपच का विकास हुआ है।

"एक शक्ति से कहते, जग प्रपच यह विकसित।
एक ज्योति कर से समस्त, जड चेतन निर्मित।
सच है यह आलोकपाश मे बधे चराचर।
आज आदि कारण की ओर खीचते अन्तर ॥"

यद्यपि इस रचना मे साम्यवादी विचारो की पुष्टि की गई है, फिर भी उनका समाधान अद्वैतवाद की प्रतिष्ठा से ही किया गया है। इसमे सन्देह नही कि 'ग्राम्या' की रचनाओ मे कवि की विचारधारा को सर्वाधिक समष्टिवाद पुष्ट जनवादी विचारधारा से प्रश्रय मिला है; किन्तु साथ ही वह आत्मवादी विचारधारा को भी आवश्यक समझता है। उसकी यह मान्यता है कि अध्यात्मवादी शक्तियो पर विश्वास न करने पर यान्त्रिकता की वृद्धि होगी, उच्चादर्शो के अभाव मे मनुष्य जड़ हो जायगा।

---

१ ग्राम्या, पृष्ठ ९५ (प्रथम संस्करण, सं० १९९७ वि०)

अस्तु, वीणा-ग्रन्थि, पल्लव-गुंजन, युगान्त-युगवाणी तथा ग्राम्या के परिशीलन से हम कवि की विचारधारा के विषय मे जिन निष्कर्षो पर पहुँचते है, उनकी स्थूल तालिका निम्न प्रकार से बनाई जा सकती है —

१—कवि अपने काव्य के प्रथम आयाम ('वीणा ग्रन्थि', 'पल्लव-गु जन काल) मे युवकोचित भावुकता और रूमानी आदर्शवाद से प्रभावित रहा है। भाषा और कला दोनो 'कोमल-कान्त' रही है। विचारो की दृष्टि से वह आस्तिक और ईश्वर के अस्तित्व पर आस्थावान रहा है। 'यथार्थ' की अपेक्षा 'आदर्श' की प्रतिष्ठा मे उसने अधिक यत्न किया है।

२—युगान्त, युगवाणी और 'ग्राम्या मे उसके कवि का स्वर परिवर्तित हुआ है। इनमे उसने अपनी कल्पना को धरती पर उतारा है और मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद तथा गान्धी जी के अहिसावाद के मनोहर तथा उपयोगी चित्र उपस्थित किए है। 'ग्राम्या' मे कवि 'मार्क्स' की बिचारधारा से सर्वाधिक प्रभावित रहा है। इसलिए उसका यह काव्य-सग्रह प्रमुख रूप से प्रगतिशील तत्वो से प्रभावित है। फिर भी 'बापू' और 'विनय' आदि रचनाओ से स्पष्ट है कि वह भौतिकता के आधार पर सस्कृति-विकास को स्वीकार करके भी उसे अन्तिम नही मानता और उसको अध्यात्म-समन्वित करके ही पूर्ण समझता है। इससे सिद्ध होता है कि कवि के मन धरातल पर 'ग्राम्या' तक की रचनाओ मे कभी आध्यात्मिक विचारधारा और कभी भौतिक विचारधारा प्रधानता पाती रही है। निष्कर्ष यह कि इन दोनो विचारधाराओ का समानान्तर प्रवाह उनके काव्य के दूसरे आयाम मे प्राप्त होता है, यद्यपि 'ग्राम्या' मे मार्क्सवादी विचारधारा का सर्वाधिक प्रतिबिंबन हुआ है। उनके इस युग के काव्य की विचारधारा को यदि दार्शनिक् भाषा मे हम कहे तो कह सकते है कि इन रचनाओ मे कवि का मन अन्नमयकोश से उठ कर मनोमय कोश मे अधिष्ठित हुआ है।

पंत जी की रचनाओं का तृतीय चरण अथवा उनका अधुनातन काव्य और अरविन्द-दर्शन

सन् १९४० मे पन्त जी ने 'ग्राम्या' को समाप्त कर दिया था। ऊपर यह कहा गया है कि 'ग्राम्या' मे कवि का मार्क्सवादी दृष्टिकोण सर्वाधिक प्रश्रय पा सका है; किन्तु फिर भी उसकी विचारधारा आध्यात्मिकता के रग से मुक्त नही हुई है। इसी कारण उन्होने 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' मे अति भौतिकवाद का दृढ स्वर से निषेध किया है और पूर्ण मानवता की प्रतिष्ठा आत्म-सत्य और वस्तु-सत्य अथवा आध्यात्मिकता और भौतिकता के सम्यक् समन्वय मे मानी है। इसमे कोई सन्देह

नही कि पन्त जी ने अन्तर्मुखी और अध्ययनशील होने के कारण अपने काव्य को अनेक मोड दिए है, किन्तु वे 'मानव' और उसके 'हित' को कभी विस्मृत नही कर सके, अत: उनके काव्य के अनेक रूपाकारो मे उनकी अध्यात्म-चेतना कभी क्षीण धारा मे मन्थरगति से और कभी अपने समग्ररूप मे तीव्रगति से प्रवाहित दृष्टिगोचर होती है। इसीलिए उनके भौतिकवाद मे भी 'मानववाद' प्रतिष्ठित दृष्टिगोचर होता है। इसी कारण 'ग्राम्या' मे कवि की विचार-प्रतिष्ठा सामूहिक चेतना तथा विकास पर अधिष्ठित हुई है। कवि ने 'ग्राम्या' की 'विनय' शीर्षक रचना मे अपने एतद्विषयक विचार इस प्रकार प्रकट किए है:—

''मनुजो की लघु चेतना मिटे, लघु अहकार,
नवयुग के गुण से विगत गुणो का अधकार।
हो शान्त जाति-विद्वेष, वर्ग गत रक्त समर
हो शान्त युगो के प्रेत, मुक्त मानव अन्तर।
सस्कृत हो सब जन, स्नेही हो, सहृदय, सुन्दर,
संयुक्त कर्म पर हों सयुक्त विश्व निर्भर।
* * *
हो धरणि जनो की, जगत् स्वर्ग, जीवन का घर,
नव मानव को दो, प्रभु! भव मानवता का वर।''[1]

इन पक्तियो मे यद्यपि 'सामूहिक-चेतना के विकास' को मार्क्सवादी विचारधारा के अन्तर्गत ही स्वीकार किया गया है, फिर भी 'प्रभु' के सबोधन से उसकी आध्यात्मिक मान्यता भी स्पष्ट है, जिसके द्वारा पूर्ण प्रणति और समर्पण के साथ उसका आस्था-वादी आस्तिक स्वर मुखर है।

स्वर्ण–किरण (१९४६-१९४७)

'पंत' जी ने यह स्वय स्वीकार किया है कि—'ग्राम्या के प्रणयन तथा सन् १९४२ के आन्दोलन के बाद मेरी विचारधारा मे फिर एक परिवर्तन आने लगा था और मेरा मन साहित्य, सस्कृति तथा दर्शन-ग्रन्थो मे अधिक रमने लगा था। 'संस्कृति-केन्द्र' के कलात्मक वातावरण मे मेरा सौन्दर्य-प्रिय जीवन-द्रष्टा मेरे भीतर फिर जगने लगा। मुझे प्रतीत होने लगा कि एक पूर्ण विकसित समाज मे मनुष्य को अवश्य ही सौन्दर्य-प्रेमी तथा सस्कृत होना चाहिए। मार्क्स के अध्ययन के बाद सम्पन्न लोक-जीवन का स्वप्न मेरी विचार-धारा का एक अग बन गया था। किन्तु वह स्वप्न केवल राजनीतिक, आर्थिक मान्यताओ की वृद्धि तथा भौतिक उपकरणो के विकास द्वारा ही पूर्ण होगा, इस पर मेरा विश्वास उठने लगा था। वाह्यरूप से एक सुव्यवस्थित तथा समृद्ध तत्र मे रहने पर भी यदि मानव-जीवन भीतर से उन्नत न हो सके

1 ग्राम्या, पृ० १०८, (प्रथम सं० १९९७ वि०)

और यदि उसमें उच्चतम मानवीय गुणों का विकास होने के बदले वह केवल समतल शक्तियो से जूझने के लिए यत्र मात्र बन जाय और उसे मनुष्यत्व के मूल्य पर वाह्य व्यवस्था तथा सतुलन स्थापित करना पड़े, तो ऐसा समाज या तत्र और जिसके भी योग्य हो, मनुष्य के योग्य नही कहा जा सकता।'[1] श्री पंत के समक्ष इस महती समस्या को हल करने का प्रश्न था। यद्यपि उन्होने इसका समाधान भौतिक दर्शन तथा 'जैव विज्ञान' के अध्ययन मे पाया था, जिसका प्रभाव 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' की रचनाओ मे दृष्टिगोचर होता है। फिर भी उन्हे पूर्ण सन्तुष्टि नही मिल पाई थी। वे एतद्विषयक चिन्तन-मनन मे सतत व्याप्त रहे। उदयशकर के 'सस्कृति केन्द्र' मे रहते उन्हे श्री अरविन्द की 'लाइफ डिवाइन' प्रथम भाग से परिचय हुआ और उस एक ही भाग के सम्यक् परिशीलन से वे अपनी कल्पना द्वारा अरविन्द-दर्शन से पूर्णतया परिचित हो गए। उनकी समग्र शकाएं निर्मूल होने लगी और उन्हे 'मन' का आन्तरिक विधान-सबधी ज्ञान स्पष्ट होने लगा। अपनी अनेक शकाओ का अरविन्द-दर्शन मे समाधान पा जाने से उनके मन मे नूतन आशा और प्रेरणा का सचार हुआ। सन् १९४० से सन् ४२ तक का समय पत जी के जीवन में परिव्राजक और रुग्णावस्था का काल रहा है, यद्यपि वे परिब्राजक तो एक दृष्टि से समग्र जीवन ही रहे है। सन् ४७ के पूर्व अस्तव्यस्त जीवन के कारण उनकी कोई रचना प्रकाशित नही हुई। सन् १९४७ ई० मे उनकी 'स्वर्ण किरण' और 'स्वर्ण-धूलि' प्रकाशित हुई। इन दोनो सग्रहो का प्रणयन कुछ महीनो मे ही हो गया था। इन रचनाओ मे अरविन्द-दर्शन का पूर्ण प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इन रचनाओ के सम्बन्ध मे 'बच्चन' जी ने लिखा है—"अब की बार जब वे आए तो पूरे अरविन्दवादी थे .उनके सन्दूक अरविन्द-साहित्य से खचाखच भरे थे, कुछ हिन्दी मे, कुछ अग्रेजी मे।"[2] श्री 'बच्चन' जी ने इन रचनाओं के विषय मे लिखा है कि—"इनके अधिकाश भाग पर उनके (अरविन्द के) दर्शन और विचारो की छाया पडी है।..श्री अरविन्द के दर्शन, विचार, भावो और स्वप्नो की व्याख्या 'स्वर्ण-किरण' और 'उत्तरा' मे की गई है।"[3] अरविन्द-दर्शन की विचारणा और निष्कर्ष क्या है, इस पर विस्तारपूर्वक प्रथम अध्याय मे विचार किया गया है। इस स्थल पर एतद्विषयक् उनकी रचनाओ की पीठिका के लिए, इतना ही लिखना पर्याप्त होगा कि श्री अरविन्द ने ब्रह्म, जीव और जगत की विचित्र किन्तु तर्कसम्मत व्याख्या की है। उनके अनुसार जीवन मे भौतिकता तथा आध्यात्मिकता, दोनो की आवश्यकता है। जीवात्मा और जगत् ब्रह्म के साथ एक ही चेतना से अनुस्यूत होने के कारण एक ही है। पत्थर और लौह ऐसे जड पदार्थो मे भी प्राण है, किन्तु वे अवचेतन के इतने गहरे स्तर मे है कि हम अनुभव

---

१ साठ वर्ष—एक रेखाकन, पृ० ६१–६२ (प्रथम सस्करण) सन १९६०

२ कवियों मे सौम्य सत, पृ० ७९ (प्रथम स०)

३ वही, ८० ,,

नही कर पाते। जीवात्मा कही बाहर से नही आता, वरन जगत् मे पूर्णरूपेण व्याप्त है। भौतिकता और आध्यात्मिकता उस ब्रह्म के दो पार्श्वमात्र है। जीव तत्व विकसित होता हुआ अभी अन्न से मन तक पहुचा है। उसका अग्रिम विकास अधिमानस तक होगा। जिस स्थिति मे वह ईर्ष्याद्वेष आदि द्वन्द्वो से अतीत होकर पूर्ण शक्ति का अनुभव करेगा। इस दिशा की ओर सतत विकास हो रहा है और चेतन की इस यात्रा का प्रमाण जड से अर्द्धचेतन (वृक्ष, लता, पशु आदि) और फिर चेतन मनुष्य है। यह विकास चैतन्य शक्ति की आरोहण और अवरोहण दोनो प्रक्रियाओ द्वारा चिरतन हो रहा है। अरविन्द के इसी दर्शन से प्रभावित होकर कवि की आगामी रचनाओ की सृष्टि हुई है। समन्वय के आधार पर रची हुई ये रचनाए अन्तश्चेतना और मानवता पर विशेष प्रकर्ष देती है। पत जी ने इन रचनाओ मे मानवविकास के लिए अन्तर-विकास पर विशेष बल दिया है। अविकसित चेतना एकागी होती है, इसीलिए उन्होने भूत और चेतना, अध्यात्म और भौतिकता, हृदय और मस्तिष्क के समन्वय मे पूर्ण मानवता का विकास माना है। इसीलिए उनमे भौतिक सृष्टि के प्रति अनुरक्ति है। 'स्वर्ण' शब्द को कवि ने चेतना के प्रतीक के रूप मे स्वीकार किया है, इसीलिए 'स्वर्ण-किरण' मे चेतनाप्रधान कविताए है। 'स्वर्ण-किरण' की प्रथम रचना 'अभिवादन' मे ही कवि का अरविन्दवादी दृष्टिकोण स्पष्ट है। इस रचना मे किरण के प्रतीक के माध्यम से ब्रह्म की शक्ति के रूप मे चेतना के अवरोहण का चित्र उपस्थित किया गया है। कवि ने, चेतना के उस ज्योति-सस्पर्श से भूत जीवन मे किस प्रकार चैतन्य व्याप्त हो गया है, बड़े ही काव्यमय और सटीक ढग से चित्रित किया है :—

"हँसी, तो स्वर्णकिरण,
शिखर आलोक वरण।
विचरती स्वर्णकिरण
धरा पर ज्योति-चरण।"[1]

और पर्वत शिखरो को अपना सस्पर्श दान देती हुई जब 'धरा' पर किरण उतरी तो पृथ्वी की क्या दशा हुई, कवि ने बडे मनोहारी ढग से उस स्थिति का वर्णन किया :—

"जगे तरु नीड़ सकल
खगो की भीड़ विकल,
पवन मे गीत नवल
गगन मे पंख चपल!
* * *
सरो मे हँसी लहर
ज्योति का जगा प्रहर

---

१ स्वर्णकिरण, पृ० १ (प्रथम संस्करण)

चेतना उठी सिहर
स्पर्श यह दिव्य अमर !
* * *
विजय से दीप्त गगन
ध्वजा सी उडती, पवन,
धरा रज नव चेतन
खिला मन का लोचन।
युगो का तमस् हरण,
करे यह स्वर्ण किरण।''[1]

उपर्युक्त पक्तियो मे कवि ने अरविन्द-दर्शन के उस मूल सिद्धान्त को वाणी दी है, जिसमे उन्होने यह प्रतिपादित किया है कि जड-चेतन दोनो ब्रह्म के चैतन्य-तत्व से अनुस्यूत है। जड-चेतन दोनो मे मात्र आवरण और विक्षेप के कारण भेद हो गया है। जड मे चेतन-तत्व, इसी विक्षेप, जो तमस् के रूप मे परिव्याप्त है, उसके अवचेतन मे प्रसुप्त है। ब्रह्म की चेतना-किरण जब उसको अपना स्पर्शदान देती है तो वह तमस् नष्ट हो जाता है और जड मे अन्तर्निहित चैतन्य जागृत हो उठता है।

कवि ने 'स्वर्ण किरण' की दूसरी रचना 'सम्मोहन' मे भी श्री अरविन्द के इसी विचार को मूर्त किया है। इस रचना मे कवि ने जहाँ जीवन को नूतन सौन्दर्य-दृष्टि दी है, वही प्रभु का जगत् पर कितना स्नेह है और वह किस प्रकार उससे मिलने के लिए आतुर है, बताने की चेष्टा की है। कवि की सौन्दर्य-दृष्टि का उदाहरण देखिये.—

'जादू बिछा दिया इस भू पर।
तुमने सोने की किरणो की
जीवन हरियाली बो-बो कर
फूलों से उड फूल, रंगो से,
निखर सूक्ष्म रग उर के भीतर।
बुनते स्वप्न मधुर सम्मोहन,
स्वर्ण रुधिर से अन्तर थर् थर्!"

और जड मे अन्तर्निहित जब चैतन्य, ब्रह्म की चेतना शक्ति का सस्पर्श पाकर चेतनता-लाभ करता है, तो उसकी क्या स्थिति होती है, कवि की निम्न पक्तियो मे देखिए:—

'प्रणय दृष्टि दे दी नयनो की,
प्राणो मे सगीत दिया भर,
स्वर्ण-कामना का घूघट नव,
डाल धरा के मुख पर सुन्दर,

---

१ स्वर्णकिरण पृ० १-२ (प्रथम संस्करण)

निज जीवन का कटु सघर्षण,
भूल गया यह मानव-अन्तर
जगजीवन के नव स्वप्नो की
ज्योति वृष्टि मे स्नान कर अमर।"[1]

किरणरूपी चेतना के धरा-स्पर्श करने के बाद सारा जड-चेतन जगत् एक नव जीवन नव स्फूर्ति तथा नूतन कल्पना से भर गया है। उसे नव्य सौन्दर्य-दृष्टि प्राप्त हुई है। मानव-हृदय अनेक प्रकार के विक्षेपो से सभूत सघर्षो को भूल गया है और ज्योति-वृष्टि मे स्नान करने के पश्चात् उसके मानस मे नई कल्पनाए जागी है और वह सौन्दर्य के नए क्षितिजो को उद्घाटित करने मे तत्पर हुआ है। कवि ने उपर्युक्त पक्तियाँ अपनी दीर्घकालीन रुग्णावस्था की मुक्ति के पश्चात् लिखी है और उस रोग-सघर्ष मे विजयी होने पर जो प्रतिक्रिया उसके मन मे हुई है, उसका आध्यात्मिक दृष्टिकोण से कम महत्व नही है। उनके मत मे यह विश्वास और भी दृढ हुआ है कि सब कुछ होने पर भी मानव की अपनी सीमाए है और उन सीमाओ से परिचित हो जाने के पश्चात् ही वह किसी अलौकिक शक्ति पर विश्वास करता है। और, इसी कारण उसे केवल भौतिकता के आधार पर अधिष्ठित जीवन एकागी प्रतीत होता है और वह आध्यात्मिक मानववाद की कामना करता है। कवि ने 'स्वर्णकिरण' की 'स्वर्णोदय' शीर्षक रचना मे अपने एतद्सम्बन्धी विचारो को इस प्रकार प्रकट किया है:—

"भू रचना का भूतिवाद युग
हुआ विश्व इतिहास मे उदित
सहिष्णुता सद्भाव शान्ति के
हो गत सस्कृत धर्म समन्वित।
पृथा पूर्व पश्चिम का दिग्भ्रम
मानवता को करे न खण्डित,
वहिर्नयन विज्ञान हो महत्
अन्तर्दृष्टि-ज्ञान से योजित
एक निखिल धरणी का जीवन
एक मनुजता का सघर्षण
विपुल ज्ञान सग्रह भव पथ का
विश्व क्षेम कर करे उन्नयन।"[2]

बिना बहिर्दृष्टि को विज्ञान तथा अन्तर्दृष्टि को ज्ञान से समन्वित किए जीवन मे सुख-शान्ति नही प्राप्त हो सकती। कवि ने इसी ज्ञान को 'स्वर्णकिरण' के प्रतीक के रूप

---

१ 'स्वर्णकिरण' पृ० ३ (प्रथम सस्करण)
२ 'वही, १२८ ,,

मे रखा है। किन्तु, इस प्रकार का सयोग आवश्यक ही नही, अनिवार्य भी है । कवि ने इस तथ्य को 'ज्वार' के रूपक मे इस प्रकार अभिव्यक्ति दी है —

"इस धरती के उर मे है,
उस शशि मुख का असीम सम्मोहन,
रोक नही पाते भू के तट,
जीवन वारिधि का उद्वेतन।"[1]

कवि ने इस रूपक द्वारा यह स्पष्ट करने की चेष्टा की है कि यद्यपि ब्रह्म का अश जीव-पृथ्वी अर्थात् जगत् के माया-पाश मे आबद्ध है, फिर भी जब उसे ब्रह्म की चेतना का सस्पर्श मिलेगा, वह इन सारे बधनो को तोड कर उससे मिलने को आतुर हो उठेगा। इसमे कोई सन्देह नही।

जीवन मे कितना सौन्दर्य है, इसका आभास मानव को तब तक नही हो सकेगा, जब तक वह वासना-जन्य अपने हृदय के समग्र 'तमस्' का नाश न कर देगा। केवल आत्मा ही शाश्वत और चिरंतन है, वही निर्माण है, उसी की उपलब्धि मे सुख-शान्ति की भी उपलब्धि है । इसलिए उसी को प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिए। कवि ने निम्न पक्तियो मे उपनिषदों द्वारा अनुमोदित अपने विचार इस प्रकार प्रकट किये है.–

"मृत्युहीन रे यह पुकार मानव आत्मा की निश्चय,
सत्य ज्योति अमरत्व और वह बढे अनागत निर्भय।
वैदिक ऋषि के अमृत नित्य वचनो की जग मे हो जय,
वे उपनिषद्, समीप बैठ रे, ग्रहण करे हम आशय।"[2]

"अन्ध तम· प्रविशन्ति ये धामुपासते ।
ततो भूव इव ते तमो च उ विद्यायां रता
विद्या चाविद्या च यस्तद्वेदो ।
अविद्या मृत्यु तीर्त्वा विद्ययामृमश्नुते ॥"

श्री अरविन्द का दर्शन समन्वय का समर्थक है। वे जगत् और ब्रह्म मे किसी का भी निषेध नही करते। वे जगत् को भी क्रम का ही एक अ ग मानते है । इसी लिए उन्होने भौतिकता को अध्यात्म से समन्वित करने पर बल दिया है और इस प्रकार जीवन को समग्र दृष्टि से देखकर सुख-शान्ति की कल्पना की है। पत जी श्री अरविन्द के इस दृष्टिकोण से अतिशय रूप से प्रभावित है, इसलिए उन्होने निम्न पंक्तियो मे श्री अरविन्द के मत का इस प्रकार समर्थन किया है:–

---

१ स्वर्णकिरण, पृ० ४८, प्रथम सस्करण ।
२ वही, पृ० २२ "

'जन मन के विकास पर निर्भर,
सामाजिक जीवन निश्चित,
संस्कृति का भू स्वर्ग अमर,
आत्मिक विकास पर अवलबित।'[1]

'स्वर्णकिरण' की रचनाओ मे कवि अरविन्द-दर्शन से इतना प्रभावित दृष्टिगोचर होता है कि वह उनके दर्शन का पद्यीकरण-सा करता प्रतीत होता है। अरविन्द की जड-चेतन मे एक ही चैतन्य तत्व की व्याप्ति की मान्यता पन्त जी की निम्न पक्तियो मे किस सुन्दर ढग से कवि की अपनी अनुभूति से सपृक्त होकर किस मनोहारी ढग से अभिव्यक्त हुई है, देखिये —

"यह नीला आकाश न केवल,
केवल अनिल न चचल,
इनमे चिर आनन्द भरा,
मेरी आत्मा का उज्ज्वल।
हलकी गहरी छाया के जो,
घिरते ये रग-बादल,
मेरी आकाक्षा की विद्युत,
बहती इनमे प्रतिपल।"[2]

आकाश की नीलिमा अथवा आकाश का आकाशत्व आत्मा का चैतन्य तत्व है। जो उस जडिमा को रूप देता है, उसे प्रोद्भासित करता है। वायु की जडता को कंपन देने वाली भी वही चेतना है, बादलो की हलके-गहरे रगो मे भी उसी चैतन्य की आकाक्षा की 'विद्युत' व्याप्त हो रही है। तात्पर्य यह कि जड का चेतन के बिना कोई अस्तित्व नही। यह आत्मा ही चेतना के रूप मे विकसित होकर विश्व के स्थूल रूप मे परिणत हो गया है।

जगत् मे आत्म चेतना की इसी व्याप्ति के कारण जड और चेतन परम चेतन (ब्रह्म) बनने की आकाक्षा से सतत ऊर्ध्वमुख है। वह असत्, तमस और मृत्यु को पार कर अमृत होना चाहता है, ईश्वर होना चाहता है। कवि ने इस विचार को 'स्वर्णकिरण' 'मे सग्रहीत' 'इन्द्रधनुष' शीर्षक रचना मे इस प्रकार अभिव्यक्त किया है.—

"असत्-तमस औ मृत्यु सलिल मे हमे पार कर,
सत्य, ज्योति, अमृतत्व धाम दो, जीवन ईश्वर॥"[3]

१ स्वर्ण किरण, पृ० ४६ (प्रथम संस्करण)
२ वही, पृ० ६६
३ वही, पृ० १६

कवि की यह अमृतत्व की कामना जहा एक प्राकृतिक विकास के रूप मे है, वही वह आज के भौतिक विकास, जो विज्ञान को अधिष्ठान बना कर हुआ है, उसको अध्यात्म से समन्वित करने के प्रसग मे भी है। श्री अरविन्द का मत है, भौतिक सगठन तो मात्र बहिर्संगठन है जो एकागी है। इससे जीवन मे असन्तुलन आएगा और वह पूर्ण नही हो सकता। अतएव उन्होने उसकी सफलता की स्वीकृति आन्तरिक विकास अथवा आध्यात्मिक विकास के आधार पर ही स्वीकार की है। अत सगठन और बहिर्संगठन के आधार पर ही जीवन की समग्रता सम्भव है, वह चिर सुख-शान्ति का महासागर बन सकता है जो प्राणिमात्र का चिर लक्ष्य है। कवि पत ने आज के भौतिक विकास अथवा बहिर्संगठन को इस प्रकार स्वीकार किया है –

"आज वाष्प विद्युत औ,
विश्व किरण मानव के वाहन।
भूति शक्ति का मूल स्रोत भी
अणु ने किया समर्पण।
मातृ प्रकृति ने सौप दिया,
मानव को विभव अपरिमित।
हरित नील जब भी भविष्य मे,
कर लेगा वह सचित।
आज वनस्पति पशु जग को,
कर सकता मानव वर्धित।
गर्भाशय मे जीवन अणु को ऊर्जित,
विद्युत गर्भित।
भूत रसायन प्राणि वनस्पति शास्त्र,
विविध अब विकसित।
दिशाकाल के परिणय का रे,
मानव आज पुरोहित।"[1]

किन्तु माता प्रकृति के इस अमित सांसारिक वैभव और शक्ति के समर्पण द्वारा जहाँ वह पूर्णतया अभ्युदय-सपन्न हो गया है वही उसके लिए इस वैभव के दुरुपयोग से 'मानव' से 'दानव' बनने की आशंका भी उत्पन्न हो गई है और इस आशका को कवि ने निम्न पक्तियो मे इस प्रकार अभिव्यक्त किया है :—

"आओ, सोचें द्विपद जीव कैसे बन सकता मानव,
शक्ति-मत्त होकर भू देव न बन जाए भू-दानव।

---

१ स्वर्णकिरण, पृ० १७, (प्रथम संस्करण)

मानव-सस्कृति का क्या स्वर्ग बसाएगा वह भू पर,
भीषण अणु का भू प्रकप या छोड़ेगा प्रलयकर।
नव मनुष्यता होगी भूसगठित कि राष्ट्र विभाजित।
अन्तर्देवो से प्रेरित या भूत दैन्य से शासित ?"[1]

भौतिकता के विकास से प्रादुर्भूत होने वाले इस सभावित आतक से त्राण पाने के लिए केवल एक साधन है कि मानव को शिक्षित किया जाय। उसका अन्तर्विकास किया जाय, क्योकि मानव के अन्तर्जीवन का इतिहास अत्यन्त भयानक रहा है। कवि ने अपने एतद्विषयक विचार निम्न पक्तियो मे बडी प्रभविष्णुता के साथ प्रकट किए है —

"मानव के अन्तर्जीवन का गत इतिहास भयानक,
जनता के उर अधकार की कथा करुण मर्मान्तिक,
शिक्षा ही बहिरतर जन मगल की मात्र विधायक।
अर्ध जगत् अवगुठित, तमसावृत रे लोक असख्यक,
अर्ध सभ्य, सब विध शेष, जो जाति वर्ण के पोषक।"[2]

अस्त, भौतिकताजन्य इन सभी द्वन्द्वो और विभेदो को दूर करने के लिए ही आज हमे मानव को नूतन शिक्षा देनी है, क्योकि वही 'आत्म-ऐक्य' और 'व्यक्ति-मुक्ति' का एकमात्र साधन है —

"शिलान्यास मानव शिक्षा का हमको करना नूतन,
आत्म ऐक्य औ व्यक्ति मुक्ति का स्वर्ग सौध रच शोभन।"[3]

क्योकि बिना ऐसा किए हुए जगत् की जो स्थिति है, वह अत्यन्त शोचनीय और भयावह है :—

"बहिर्चेतना जाग्रत जग मे, अन्तर्मानव निद्रित,
बाह्य परिस्थितियाँ जीवति, अन्तर्जीवन मूर्च्छित, मृत !
भौतिक वैभव औ आत्मिक ऐश्वर्य नही सयोजित,
दर्शन औ विज्ञान विश्व-जीवन मे नही समन्वित।

खोई-सी है मानवता, खोई वसुधा प्रतिबधित
जाति-पाति है, रूढि-रीति है, देश प्रदेश विभाजित।"[4]

बहिरतर के समन्वय से जीवन की सुख-शान्ति तथा सौन्दर्य का जो अनिन्द्य और अपूर्व रूप प्रकट होगा, उसकी झाँकी कवि ने निम्न पक्तियो मे उपस्थित की है:—

---

१ स्वर्णकिरण, पृ० १७ (प्रथम सस्करण)
२ वही
३ वही
४ वही

"मानव हो सयुक्त प्रकृति से, स्वर्ग बने भू या वन
बहिरतर ऐश्वर्यों से चरितार्थ निखिल भव जीवन।
शशि मंगल लोको को छूते आज कल्पना के पर,
शशि दे जन को स्वप्न, भौम मन मे साहस बल दे भर।
शशि-प्रभ स्वप्नो से मगलमय स्वर्ग रचे हम सुन्दर,
मानव-जीवन मे अवतरित पुन. हो मानव ईश्वर।'[1]

भौतिकता के विकास के साथ जीवन की कुरूप परिभाषा को ही आज का मानव चरम-परम मान बैठा है। यद्यपि वह उसके प्रभाव से अत्यन्त दुखी है, फिर भी उसकी मान्यताओ को छोड नही पाता। इस एकागी तथा बौद्धिक भौतिक विकास के कारण जीवन, स्पर्धा और अहमन्यता से प्रलप्त हो रहा है। कवि ने लिखा है '—

"आज चतुर्दिक् घृणा द्वेष,
स्पर्धा से जग-जीवन परितापित,
आज एकता के मन्दिर मे
अहमन्य जड़ समता स्थापित।

आज प्रतीति न प्रीति हृदय मे,
औ उल्लास न आशा,
प्रतिहिंसा, तृष्णा सशय भव,
नयनो की शर भाषा।"[2]

और इसीलिए कवि ने अन्तर्बाह्य के विकास के आधार पर जीवन के स्वरूप की इस परिभाषा की कल्पना की है, जो समग्र भी है तथा सुखद और सुन्दर भी . —

"कब विश्वास प्रेम आशा,
पुरुषार्थ उच्च अभिलाषा,
कला सृष्टि, सौन्दर्य दृष्टि,
होगी जीवन परिभाषा।"[3]

'स्वर्णकिरण' की अधिकाश कविताओ का विषय श्री अरविन्द द्वारा प्रतिष्ठित ब्रह्म की शक्ति के अवरोहण की व्याख्या रहा है। कवि पंत ने इन कविताओ के माध्यम से चेतना के विभिन्न स्तरो को रूपायित किया है। 'अरुण ज्वाल' शीर्षक रचना मे कवि ने 'नवचेतना' से स्फूर्त प्रकृति के अग-प्रत्यगो को नवीन सौन्दर्य और जीवन-शक्ति से ऊर्जित देखा है।

---

१ स्वर्णकिरण, पृ० १७ (प्रथम सस्करण)
२ वही, पृ० २६
३ वही, पृ० २६

'स्वर्ण-निर्झर' शीर्षक रचना मे आभ्यतर मे छिपे हुए सौन्दर्य-चेतना के उन मोहक रूपो को दर्शित किया है, जिनके विषय मे लोक अभी तक अपरिचित रहा है। चेतना के सस्पर्श से प्रत्येक वस्तु एक विशिष्ट आभा और अनुपम सौन्दर्य से प्रोद्भासित हो उठी है। 'ऊषा' के अभिनव सौन्दर्य की एक मनोहर झाँकी देखिए :—

"ऊषा की लाली से कल्पित नव बसन्त के कोपल,
सौरभ पुष्पो के शत रग खिलते प्रतिपल।
शशि किरणो के नभ के नीचे, उर के सुख से चचल,
तुहिनो का छाया बन नित कपता रहता तारोज्ज्वल।"[1]

इसके अतिरिक्त 'स्वर्णकिरण' की ज्योति 'भारत' शीर्षक रचना मे भी 'दिव्य चेतना' के अमोघ और अमित प्रभाव को स्वीकार किया गया है।

'नोआखाली के महात्मा जी के प्रति' शीर्षक रचना मे कवि ने कदाचित् श्री अरविन्द द्वारा प्रतिष्ठित 'अतिमानव' के दर्शन किए है। कवि ने 'गाधी' जी का स्तवन करते हुए कहा है :—

"कौन खडे उन्नत अविचल, दुर्धर झझा के सन्मुख ?
स्वर्ग दूत से जाति भेद का हरने धरणी का दुख।
देह मात्र से मानव तुम, बल मे अदम्य तुम भूधर,
ऊर्ध्व चरण धर चलते निश्चल, भू से स्वर्ग क्षितिज पर।'[2]

'हिमाद्रि और समुद्र' शीर्षक रचना मे चेतना के ऊर्ध्व और निम्न उभय स्वरूपो अथवा अगो का प्रतीकात्मक वर्णन किया है। एक 'हिमालय' शिखर-शिखर उठ कर चिदाकाश के सूक्ष्म से सूक्ष्मतर स्तरो का स्पर्श करता है और दूसरा युगो से प्रसुप्त धरती को जागृत करने के लिए उससे लिपटा है। कवि ने हिमालय (ऊर्ध्व चेतना) की ऊँचाई को गहरा माना है और समुद्र (निम्न चेतना) की उच्चता को अत्यन्त गभीर स्वीकार किया है। श्री अरविन्द ने जड-जगम मे भी चैतन्य शक्ति को स्वीकार किया है। जड पदार्थो मे वह चैतन्य शक्ति अवचेतन मे इस प्रकार प्रसुप्त रहती है कि उसका आभास नही होता। किन्तु, वह एक दिन जागेगी अवश्य, ऐसा श्री अरविन्द का विश्वास है। श्री पत ने उसी चेतन शक्ति को 'हिमालय' और 'समुद्र' के द्विविध प्रतीको मे देखा है। कुछ पक्तिया देखिये —

हिमालय — "वह शिखर-शिखर पर स्वर्गोन्नत
स्तर पर स्तर ज्यो अन्तर्विकास
चढ सूक्ष्म सूक्ष्मतम चिद् नभ मे

---

१ स्वर्णकिरण, पृ० ३१ (प्रथम संस्करण)

२ वही, पृ० ३५

करता हो शुचि शाश्वत विलास।''

समुद्र.— ''यह मनश्चेतना ज्यो सक्रिय
भू के चरणो पर बिखर-बिखर
शत स्नेहोच्छ्वसित तरगो की
बाहो मे लेती भू को भर।
नभ से बन पवन, पवन से जल,
लालायित यह चेतना अमर
सोई धरती से लिपट, जगाने
उस युगो की जडता हर।''[1]

'समुद्र' विषयक पाचवी और छठी पक्ति मे कवि ने श्री अरविन्द द्वारा प्रतिपादित चेतन शक्ति के अवरोहण पर उसके क्रमागत निम्न अवतरण पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि वह चेतन शक्ति किस प्रकार आकाश से पवन और पवन से जल मे विवर्तित होकर पृथ्वी मे प्रसुप्त चेतन शक्ति को जगाने के लिये उसे अपने आलिगन पाश मे बाध लेती है।

'स्वर्णकिरण' की 'पूषण' शीर्षक कविता मे कवि ने अरविन्द दर्शन के इस तथ्य को निरूपित करने की चेष्टा की है कि समग्र विश्व ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नही है। चूँकि मानव अज्ञानाधकार से परिवृत प्रसुप्त है, इसलिये उसे अपने स्वरूप का आभास नही होता। कवि ने लिखा है :—

''मेरा यह सन्देश, उठो हे, जागो, भूधर (भूचर)
तुम हो मेरे अ श, ज्योति सतान तुम अमर!
छोडो जडता, छिन्न करो अवभेदो का तम,
तुम हो मुझमे एक, एक तुम भूतो से, सम!''[2]

परम चेतन (ब्रह्म) और चेतन (जीव) मे श्री अरविन्द कोई भेद नही मानते, किन्तु जड़ता अथवा माया के कारण वह (जीव) ब्रह्म से भेद मान बैठा है।

'स्वर्णकिरण' की 'चन्द्रोदय' शीर्षक रचना मे श्री अरविन्द द्वारा प्रतिपादित 'अधि मानस' (सुपर माइन्ड) स्थिति का और 'द्वा सुपर्णा' शीर्षक रचना मे कवि ने अरविन्द द्वारा प्रतिष्ठित अतिमानव के स्वरूप को स्थिर किया है जो उपनिषदो मे प्रतिष्ठित एकागी दर्शन के विरुद्ध पूर्ण सन्तुलन उपस्थित करता है। दोनो रचनाओ का एक-एक उदाहरण उपस्थित किया जा रहा है :—

---

१ स्वर्णकिरण, पृष्ठ ४५ (प्रथम सस्करण)
२ वही, पृ० ४७

चन्द्रोदय —— "वह सोने का चाद उठा ज्योतित अधिमनसा
मानस के अवगु ठन के भीतर पूषण सा !
दुग्ध-धार सी दिव्य चेतना बरसा झर-झर,
स्वप्न जडित करता वह भू को स्वर्जीवन भर। "

द्वासुपर्णा —— "कही नही क्या पक्षी ? जो चखता जीवन फल,
विश्व वृक्ष पर नीड, देखता भी है निश्चल।
परम अहम् औ, द्रष्टा भोक्ता जिसमे सग-सग
पखो मे बहिरतर के सब रजत स्वर्ण रग,
ऐसा पक्षी, जिसमे हो सपूर्ण सतुलन,
मानव बन सकता है, निर्मित कर तरु जीवन।"

* * *

भीतर बाहर एक सत्य के रे सुपर्ण द्वय,
जीवित सफल उडान, पक्ष सतुलन जो, विजय।"[1]

श्री अरविन्द ने मानव को मनोमय कहा है। उसके मतानुसार वह अन्न-प्राण से उठ कर मन तक पहुँचता है। इस स्थिति मे वह सकल्प-विकल्प किया करता है। वह जिस प्रकार की कल्पना करता है वही बन जाता है। श्री पत ने इस विचार को अपनी 'छायापट' कविता मे इस प्रकार रखा है—

"कब यह उड जग मे छा जाता,
जीवन की रज लिपटा लाता,
औ, मेरे चेतना व्योम मे,
इन्द्र धनुष घन बन मुसकाता ?
नही जानता, कब, कैसे फिर,
वह प्रकाश किरणे बरसाता।
बाहर-भीतर ऊपर नीचे,
मेरा मन जाता-आता है,
सर्व व्यक्ति बनता जाता है।"[2]

किन्तु, अन्ततोगत्वा मन की यह भी स्थिति नही रहती। कवि ने श्री अरविन्द के अनुसार इसकी वृत्ति में परिवर्तन स्वीकार किया है। उसका स्तर-स्तर ऊर्ध्व-विकास होता रहता है। और इसीलिए कवि ने इस तन के मन अथवा भौतिक मन के अन्तर्गत सूक्ष्म-मन अथवा 'आत्मा के मन' को स्वीकार किया है—

"तन के मन मे कही अतरित
आत्मा का मन है चिर ज्योतित,

---

१ स्वर्णकिरण, पृ० ६४- (प्रथम सस्करण)
२ वही ,, ७२-७३

इन छाया दृश्यो को जो,
निज आभा से कर देता जीवित।"[1]

और इस मन मे अहर्निशि परिवर्तन होता जाता है—

"मन जलता है
मन मे तन मे रण चलता है,
चेतन अवचेतन नित नव
परिवर्तन मे ढलता है
मन जलता है।"[2]

मन के इस परिवर्तन की प्रेरणा अरविन्द-दर्शन से पाकर कवि ने इस 'दहन मन' के जो अनादि काल से, स्वर्ग, मुक्ति, पुत्र, कलत्र का कामी रहा है, आमूल परिवर्तन की इस प्रकार कामना की है:—

"सृजन करो नूतन मन!
खोल सके जो ग्रन्थि हृदय की,
उठा सके सशय-गु ठन,
आक सके जो सूक्ष्म नयन से,
जीवन का सौन्दर्य गहन,
भेद सके जो दैन्य दुरित औ'
मृत्यु अविद्या के भीतर,
जहा प्रेम आशा शोभा,
अमरत्व प्रतिष्ठित है प्रतिक्षण!"[3]

'स्वर्णकिरण' की कौवे के प्रति' रचना जहाँ पत जी की अमरिमेय कल्पना-शक्ति की परिचायिका है, वही उसमे कवि ने 'स्थित-प्रज्ञ' अथवा अरविन्द द्वारा प्रतिपादित 'अतिमानव' के स्वरूप की प्रतिष्ठा भी की है—

"ज्योति ह स औ' तमस् काक इन दोनो से जो है पर
उसी सर्वगत पर जो केन्द्रित रहे मनुज का अन्तर,
ह स रहे जग मे, मयूर औ' वायस रहे परस्पर।
सबके साथ अपाप बिद्ध, स्थितप्रज्ञ रहे जग मे नर।"[4]

जगत मे ज्योति-तमस अथवा पुण्य-पाप से जो पर तत्व है, उसमे यदि मानव मन अधिष्ठित रह सके तो वह ह स, मयूर और वायस (बहुरगी जगत मे) से आपूर्यमाण जगत् मे बिना किसी भ्रान्ति के शान्ति पूर्वक रह सकता है। इसी अपापविद्ध

---

१ स्वर्णकिरण, पृ० ७३ (प्रथम सस्करण)
२ वही
३ वही
४ वही

अवस्था को प्राप्त मानव को स्थितप्रज्ञ अथवा अतिमानव कहते है और बिना इस स्थिति की प्राप्ति के मानव का न तो कल्याण ही है और न वह अपनी इस ऊर्ध्वमुखी प्रगति को रोक ही सकता है। कवि बौद्धिकता के द्वारा प्रतिष्ठित भौतिकता के विकास से अत्यन्त दुखी है जो सृष्टि की अखडता को खण्डित कर रही है। वह देख रहा है कि किस प्रकार इस एकागी दृष्टि कोण वाले जीवन-दर्शन से प्रभावित होकर मानव जाति-पाति और ईर्ष्या-द्वेष के विग्रहो द्वारा अपने अन्तस्सगठन को छिन्न-भिन्न करके अपनी सुख-शान्ति के लिए अतिशय रूप से बाधक हो गया है। किन्तु उसने मानवता के इन विरोधी तत्वो के भीतर से नयी चेतना की लहर को भी देखा है, जो द्रुतगति से आगे बढ़ती हुई उस तमस को तिरोहित करने मे सलग्न हो गई है। कवि ने अपने एतद्विषयक विचार 'स्वर्णकिरण' की 'सक्रमण', 'युग प्रभात' और 'सविता' आदि शीर्षक रचनाओ मे प्रकट किये है। उदाहरण के लिए 'सक्रमण' और 'सविता' शीर्षक रचनाओ से कुछ पक्तियाँ उद्धृत की जा रही है—

"रह गया, इतिहास, विज्ञान
दर्शन सहस्र शास्त्र,
सभ्यता के ब्रह्मास्त्र।
खो गई एकता।
व्याप्त है अनेकता!
* * *
खो गई मानवता,
खो गई बसुन्धरा!
नही सत्य सहृदयता,
नही मही बसुन्धरा।"[1]

किन्तु, चेतना की किरण के द्वारा उन्हे मानो बुद्धि-अतिरेक-जन्य-विषमता से त्राण मिल गया है—

"अन्ध रूढि पर चलने वाले
आज पा गए है अभिनव पथ,
नव प्रकाश का सूर्य उन्हे,
मिल गया, दमकता सप्त अश्व रथ।"[2]

'स्वर्णकिरण' की 'श्री अरविन्द-दर्शन' शीर्षक कविता मे कवि ने श्री अरविन्द द्वारा प्रतिष्ठत दर्शन के मूल सिद्धान्त की व्याख्या की है। कवि उनकी विचारधारा से इतना प्रभावित है कि वह उन्हे राम-कृष्ण आदि अवतारो की पक्ति मे ही नही रखता, वरन् वह उन्हे युग के क्रमागत अवतारों की क्रमश. वर्द्धमान क्षमता और पूर्णता का

१ स्वर्ण किरण पृ० ८१ (प्रथम संस्करण)
२ वही ,, ८८

विश्लेषण करता हुआ श्री अरविन्द को अत्यन्त महान ठहराता है। उसकी इस स्वांग प्रणति से उसकी इन महापुरुष के साथ महान आस्था और भक्ति प्रकट होती है —

"जल जीवन मे मच्छ, कच्छ तुम कर्दम मे बन,
भू जडत्व मे शूकर, वनचर मे नृसिंह तन,
आदि मनुज वामन, शूरो मे राम परशु पण,
मर्यादामय राम, विश्वमय बने कृष्ण घन !
आज लोक सघर्षो से जब मानव जर्जर,
अतिमानव बन तुम युगसभव हुए धरा पर,
अन्न प्राण मन के त्रिदलो का कर रूपान्तर,
वसुधा पर नव स्वर्ग सजोने आए सुन्दर।"[1]

श्री अरविन्द द्वारा प्रतिष्ठित 'अतिमानव' का स्वरूप मन के 'अन्नमय कोश' 'प्राणमय कोश' और 'मनोमयकोश' के ऊपर रूपान्तरित होकर अधिष्ठित हो जाने मे होता है। श्री अरविन्द द्वारा प्रतिष्ठित 'अतिमानव' इहलोक (भौतिकता) और परलोक (आध्यात्मिकता) दोनो का ज्ञान रखता है तथा जागतिक सघर्षो मे रहता हुआ भी वह उनमे व्याप्त नही होता। श्री पत ने श्री अरविन्द के इसी रूप को प्रणति दान दिया है।

'स्वर्णकिरण' मे सगृहीत सबसे लम्बी और कदाचित सबसे सुन्दर रचनाए-'स्वर्णोदय'-और 'अशोक वन' है। 'स्वर्णोदय' को कवि ने एक उपशीर्षक भी दिया है-'जीवन-सौन्दर्य'। इन दोनो रचनाओ मे कवि ने श्री अरविन्द-दर्शन को जिसे उसने 'चेतनावाद' की सज्ञा दी है, मूर्त करने की चेष्टा की है। किन्तु, दर्शन की नीरसता से ये रचनाए असुन्दर नही हो पाई, वरन् इनमे काव्य का समग्र सौन्दर्य भी अपनी समग्र गरिमा के साथ निखरा है।

'स्वर्णोदय' मे कवि ने मानव के शैशव, कैशोर, यौवन और वृद्धत्व का काव्यमय चित्रण उपस्थित किया है और मानव जीवन की इस व्याख्या के पश्चात् कवि ने नवसस्कृति के जागरण का वर्णन किया है। इस वर्णन से श्री अरविन्द द्वारा प्रतिष्ठित 'अतिमानव' की भी ध्वनि मिलती है। अतिमानव स्थिति प्राप्त मानव-सस्कृति को कवि ने 'नव-सस्कृति' और 'नव-मानवता' की सज्ञा दी है। शैशव, कैशोर, यौवन और वृद्धत्व क्रमश: मन के विवर्तन के अन्न, प्राण, मन और अतिमानस अथवा अधिमानस रूप है। भावी मानव-सस्कृति 'अतिमानस' की होगी। सृष्टि मे निहित चेतना का ऊर्ध्वमुखी विकास इसी क्रम से हो रहा है। कवि ने शैशव के प्रतीक द्वारा अन्नमय कोश की अस्थिर मन.स्थिति का वर्णन किया है, कैशोर द्वारा प्राणमय कोश के मन के कुतूहल और साथ ही कुछ समझने की चेष्टा का वर्णन किया है, और यौवन के द्वारा मनोमय कोश की महत्वाकाक्षा और सौन्दर्यदृष्टि का वर्णन किया है। इस स्थिति मे आदर्शों के प्रति निष्ठा और दृढता भी मन मे उत्पन्न होती है। वृद्धत्व के द्वारा अति-

---

१ स्वर्णकिरण, पृ० ९३ (प्रथम सस्करण)

मानस-स्थिति का वर्णन किया है, जहा पर मन स्थैर्य को प्राप्त करके संश्लेषण-विश्लेषण मे प्रवृत होता है। इस अवस्था मे जिस प्रकार की सस्कृति का विकास होगा उसमे न तो मात्र भौतिकता को ही प्रश्रय मिलेगा और न आध्यात्मिकता को ही प्राधान्य मिलेगा, वरन् अध्यात्म-भौतिकता को समान रूप से स्थान मिलेगा। भोग और निवृत्ति साथ-साथ रहेगे। कवि ने लिखा है —

"तुमसे रहित अचिर अपूर्ण जग तुमसे पूर्ण चिरतन,
तुम हो, भव है शून्य एक के गुण से गणित निरतर।
तुमसे जो मन युक्त सकल जग जीवन हो आराधन,
प्रेम, तुम्हारे हित माया का पाश मुक्ति हो, प्रतिक्षण,
तुममे केन्द्रित लोक योजना बने स्वर्ग सी पावन।
मानव के घटवासी, दो मानव को नवजीवन वर।'[1]

कवि ने आध्यात्मिकता के परिवेश मे भौतिकता की स्वीकृति को 'नव मानव जीवन' अथवा नव मानव सस्कृति के रूप मे स्वीकार किया है। वास्तव मे आध्यात्मिकता और भौतिकता के समन्वय मे ही जीवन और सस्कृति की समग्र परिभाषा निहित है।

'अशोक वन' शीर्षक रचना वास्तव मे एक रूपक है। इस रचना मे कवि ने रावण के 'अशोक वन' मे वन्दिनी सीता का वर्णन किया है। इस रचना मे कथा का बधान यद्यपि पौराणिक ही है, किन्तु कवि ने अपनी प्रतिभा से उसे प्रतीकत्व भी प्रदान कर दिया है। इसी कारण यह रचना श्री अरविन्द-दर्शन की प्रतिष्ठा मे भी अप्रतिम है। प्रतीक की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है। सीता ब्रह्म की चेतना-शक्ति है जो राम (ब्रह्म) से परिणीत है। रावण भौतिक सभ्यता का प्रतीक है जो सीता (नव चेतना) को बन्दी बनाए हुए है, क्योकि वह राम के अवतार अथवा आध्यात्मिकता के विकास को अभिशाप समझता है। किन्तु, राम अथवा ब्रह्म की शक्ति अवतरित होकर जड़-सभ्यता रूपी रावण के हाथो मे छटपटाती हुई सीता रूपी अपनी चेतना शक्ति को मुक्ति प्रदान करती है। इस कविता की सक्षेप मे यही पीठिका है। कवि ने इसी चेतना के विकास द्वारा नव सस्कृति की कामना की है और भविष्य की उस सस्कृति के अग्रदूत के रूप मे राम, गाँधी, श्री अरविन्द और जवाहरलाल का स्वीकार किया है। साथ ही इस रचना मे श्री अरविन्द-दर्शन के समग्र मूलाधार तत्व भी प्रतिष्ठित हुए है, जिनका विस्तार से निर्देशन यथास्थान कर दिया गया है।

स्वर्णधूलि (१९४७)

पन्त जी की 'स्वर्णधूलि' मे सगृहीत रचनाओ का मूल स्वर सामाजिक है। किन्तु, वह सामाजिक व्यवस्था, भौतिकता तथा आध्यात्मिकता के समन्वय से ही सभव

१ स्वर्णकिरण' पृ० १४६ (प्रथम सस्करण)

है। इसलिए कवि की इन रचनाओं को भी अरविन्द-दर्शन के सदर्भ मे ही लेना समीचीन होगा। 'स्वर्णधूलि' की प्रथम रचना मे ही उनका आध्यात्मिक दृष्टिकोण स्पष्ट है–

"मुझे असत् से ले जाओ तुम सत्य ओर,
मुझे तम से उठा, दिखाओ ज्योति छोर,
मुझे मृत्यु से बचा, बनाओ अमृत भोर।
बार-बार अन्तर मे आकर हे चिर परिचित,
दक्षिण मुख से, रुद्र करो मेरी रक्षा नित।"

किन्तु कवि की प्रभु के प्रति प्रार्थना मे निहित व्यक्तिगत चेतना आगे चलकर विश्व-कामना मे परिणत हो गयी है—

"छोड नही सकते रे यदि जन
जाति वर्ग, नभ, धर्म के लिए रक्त बहाना,
बर्बरता को सस्कृति का बाना पहनाना,
तो अच्छा है अगर छोड दे।
हम हिन्दू-मुस्लिम औ, ईसाई कहलाना।
मानव होकर रहे धरा पर,
जाति वर्ण धर्मो से ऊपर,
व्यापक मनुष्यत्व मे बध कर।"[1]

वास्तव मे पन्त जी का मत है कि अब नव मानव-सस्कृति का विकास जाति वर्ण, धर्म निरपेक्ष केवल मानवता के आधार पर ही हो सकता है; क्योकि ये तत्व तो अब मानव सस्कृति के बाधक हो गए है। श्री अरविन्द द्वारा प्रतिष्ठित मानवता के सिद्धात की ओर जो अध्यात्म-भौतिकता समन्वित है, श्री पन्त का सकेत है। उनकी अभीष्ट सस्कृति का निर्माण चेतन के आधार पर ही सभव है, इसलिए वे उसका उल्लेख सभी स्थलो मे पूर्ण आकर्षण के साथ करते है—

"बरसो हे घन,
आशा का प्लावन बन बरसो,
नव सौन्दर्य प्रेम बन सरसो,
प्राणो मे प्रतीति बन हरसो,
अमर चेतना बन नूतन,
बरसो हे घन।"[1]

---

१ स्वर्णधूलि, पृ० ११५ (द्वितीय सस्करण, १९५९)

१ वही पृष्ठ ६९,

यद्यपि 'स्वर्णधूलि' की अनेक रचनाओ मे कवि की वृत्ति अन्तर्मुखी रही है, फिर भी उन सभी को 'अरविन्द-दर्शन' के परिवेश मे नही लिया जा सकता। स्वर्णधूलि' मे सग्रहीत 'सामन्जस्य', 'आजाद', 'लोकसत्य', 'स्वप्न निर्बल', 'मृत्यु जय' 'आशका', 'चौथी भूख', 'पैगम्बर', 'छाया' 'अन्तर्विकास' और 'मुक्ति बधन' शीर्षक रचनाओ का स्वर सिद्धान्तवादी है, किन्तु इनमे से बहुत कम पर श्री अरविन्द-दर्शन का प्रभाव परिलक्षित होता है।

'सामजस्य' शीर्षक रचना मे कवि ने भाव-सत्य और वस्तु-सत्य के समन्वय मे पूर्ण मानवता को देखा है। इनमे से किसी एक के अभाव मे जीवन का सतुलन बिगड जायगा। कवि को यह प्रेरणा श्री अरविन्द के 'अन्तर्वाह्य' अथवा भौतिक आध्यात्मिक सगठन के सिद्धान्त से मिली है। यह सगठन आत्मैक्य सिद्धान्त के अनुसार ही हो सकता है। कवि ने बड़े सुन्दर ढग से इनके समन्वय की चर्चा की है :—

"पख खोले सपने उड़ जाते,
सत्य न बढ पाता गिन-गिन पग,
सामजस्य न यदि दोनो मे
रखती मै, क्या चल सकता जग ?"[1]

इन पक्तियो से पूर्ण स्पष्ट है कि भाव-जगत और वस्तु-जगत का सतुलन आत्मा की मान्यता द्वारा ही हो सकता है।

'स्वर्णधूलि' की 'लोक सत्य' शीर्षक रचना मे कवि ने आत्मा के अधिष्ठान पर अन्न (भूतवाद) और प्राण को प्रतिष्ठित करके समग्र मानवता की कामना इस प्रकार की है :—

"वही सत्य कर सकता मानव जीवन का परिचालन
भूतवाद हो जिसका रज तन, प्राणिवाद जिसका मन,
औ, अध्यात्मवाद हो जिसका हृदय गभीर चिरतन
जिसमे मूल सृजन विकास के, विश्व प्रगति के गोपन।"[2]

'स्वप्न निर्बल' शीर्षक रचना मे कवि ने ब्रह्म की चेतना-शक्ति के अवरोहण की चर्चा की है। वह चेतना-शक्ति किस प्रकार जगत मे परिवर्तन विवर्तन कर सतत प्रवाहित रहती है, कवि की इन पक्तियो मे देखिए —

"यह जीवनी शक्ति का सागर
उद्वेलित जो प्रति क्षण,
जिसका युगचेतना सदा से
करती आई मथन।

---

१ स्वर्णधूलि पृ० १०४
२ वही, पृ० १०२

"कर शभु चाप का भजन,
किया राम ने मुक्त
जीर्ण आदर्शो से जग जीवन।
बन कर युगचेतना राम फिर
नवयुग परिवर्तन मे
मध्ययुगो की नैतिक असि,
खडित करती जन मन मे।"[1]

इन पक्तियो के माध्यम से कवि ने यह दर्शाया है कि सृष्टि के प्रारम्भ से जगत् मे व्यवस्था लाने के लिए चेतना द्वारा सतत परिवर्तन होते रहे है। वह चेतना शक्ति कभी राम के रूप मे आई है तो कभी कृष्ण, बुद्ध और गाँधी के रूप मे।

'मृत्यु जय' शीर्षक कविता मे कवि ने 'ईश्वर' के मरने की बात कही है। ईश्वर अथवा आदर्श (सत्य) भी देश-काल-सापेक्ष होकर चलता है। कवि ने इसीलिए समय-समय पर परिवर्तित होने वाली आदर्श की धारा की बात की है। उदाहरणार्थ एक वातावरण मे राम द्वारा प्रतिष्ठित आदर्श चरम थे तो समाज की दूसरी अवस्था मे कृष्ण, बुद्ध और गाँधी द्वारा प्रतिष्ठित आदर्श सर्व श्रेयस्कर थे। कवि ने इसीलिए इस रचना मे सत्य की चेतना धारा के मरने की बात की है। वास्तव मे वह मरती नही है, क्योकि वह अजर-अमर है। वह तो केवल समयानुकूल नूतन रूप धारण करती है —

"परम दृष्टि से, परम रूप मे यह है ईश्वर,
अजर अमर औ, अनेक, सर्वगत अक्षर,
व्यक्ति विश्व जड स्थूल सूक्ष्मतर।"

*　　*　　*

"मरने दो तब ईश्वर को मरने दो हे,
वह जी उट्ठेगा, ईश्वर को मरने दो।
वह फिर-फिर मरता, जी उठता,
ईश्वर को चिर मुक्त सृजन करने दो।"[2]

'स्वर्णधूलि' मे सगृहीत 'चौथी भूख' शीर्षक रचना मे कवि ने अरविन्द-दर्शन का आदर्श समाज-व्यवस्था के साथ अद्भुत सगुफन उपस्थित किया है। उन्होने इस कविता मे कहा है कि मानव-मन की एक तो तन की भूख है जिसमे भोग वृत्ति प्रधान रहती है, दूसरी भूख है मन की, जिसमे मानव-मन आत्मगौरव और कीर्ति चाहता है और तीसरी भूख है आत्मा की जिसमे मन को लय करके वह पूर्ण सन्तुष्टि और शान्ति का अनुभव करता है। किन्तु, मानव के लिए कदाचित् इनमे से कोई भी

१ स्वर्णधूलि, पृ० ९९
२ वही, पृ० ६०

अधिक हित कर नही है, क्योकि ये सभी एकागी है। मन की उस चौथी भूख का कवि ने इस प्रकार वर्णन किया है, जो किसी प्रकार एकागी नही है :—

"किन्तु ऊपर हो कि भीतर,
मनोगोचर या अगोचर,
क्या नही कोई कही ऐसा अमृत घन
जो धरा पर बरस भर दे भव्य जीवन ?
जाति वर्गों से निखर जन,
अमर प्रीति प्रतीति मे बध
पुण्य जीवन करें यापन,
जन धरा हो ज्योति पावन।"[1]

उस 'अमृत घन' के सकेत द्वारा कवि ने श्री अरविन्द-द्वारा प्रतिष्ठित भौतिकता और आध्यात्मिकता के समन्वय की अभिलाषा प्रकट की है।

'छाया' शीर्षक रचना मे कवि ने जगत को छाया-आभा के प्रतीक द्वारा दुख-सुख का समुच्चय माना है। अस्तु, पूर्ण मानव वह है जो सुख-दुख को समान रूप से अपना कर दोनो से परे होकर 'अतिमानव' हो जाता है, क्योकि ये दोनो ब्रह्म के ही रूप है और अविच्छन्न है —

"यह छायाभा है अविच्छिन्न,
यह आँख मिचौनी चिर सुन्दर,
सुख दुख के सुरधनु रगो की,
यह स्वप्न सृष्टि अज्ञेय, अमर।"[2]

'स्वर्णधूलि' मे कवि ने इसी प्रकार यत्र-तत्र अरविन्द-दर्शन को अभिव्यक्ति दी है। इस सग्रह मे 'स्वर्णधूलि' के समान अरविन्द-दर्शन को स्थान नही मिला, फिर भी इसमे सगृहीत रचनाओ मे भी कवि की अन्तर्मुखी चिन्तन-शील वृत्ति स्पष्ट है। सामाजिक व्यवस्था में वह अरविन्द के विचारो को ही प्राथमिकता प्रदान करता है।

(ख) उत्तरा और युगान्तर (१९४९–४८)

'उत्तरा' का प्रकाशन सन् १९४९ मे और 'युगान्तर' का प्रकाशन सन् १९४८ मे हुआ था, किन्तु दोनो की विचार-सरणि मे इतना अधिक साम्य है कि उनका विवेचन एक साथ करने मे किसी प्रकार की आपत्ति नही हो सकती।

कवि ने इस सग्रह को 'उत्तरा' शीर्षक से इसलिए अभिहित किया है; क्योकि इसमे उसकी उत्तरकालीन रचनाए सगृहीत है। 'स्वर्णकिरण' से उद्भूत विचारधारा

१ स्वर्णधूलि, पृ० ७३ (द्वितीय सस्करण)

२ वही, पृ० ६७

जो 'स्वर्णधूलि' और 'युगान्तर' मे पुष्पित होती रही है, 'उत्तरा' तक आकर पूर्ण पुष्ट होगई है ।

कवि ने 'उत्तरा' की भूमिका मे उसकी रचनाओ के विषय मे स्वीकार किया है कि इसमे कुछ रचनाए तो प्रतीकात्मक है, कुछ प्रकृति, चित्रण सम्बन्धी, कुछ युग-जीवन सम्बन्धी और कुछ विप्रलभ शृगार सम्बन्धी । कुछ गीत ऐसे भी है जो प्रार्थना-परक है ।[1] 'स्वर्णकिरण' से लेकर 'उत्तरा' तक की रचनाओ मे विशेष रूप से कवि का दृष्टिकोण वाह्य के साथ आभ्यतर क्रान्ति का पक्षपाती रहा है । वह 'उत्तरा' की भूमिका मे स्वय इस विषय मे स्वीकार करता है—

"मै बाहर के साथ भीतर (हृदय) की क्रान्ति का भी पक्षपाती हू जैसा कि मै इधर सकेत कर चुका हू । आज हम बाल्मीकि तथा व्यास की तरह एक ऐसे युग-शिखर पर खड़े है, जिसके निचले स्तरो मे धरती के उद्वेलित मन का गर्जन टकरा रहा है और ऊपर स्वर्ग का प्रकाश, अमरो का सगीत तथा भावी का सौन्दर्य बरस रहा है । ऐसे विश्व-सघर्ष के युग मे सास्कृतिक सन्तुलन स्थापित करने के प्रयत्न को मै जाग्रत चैतन्य मानव का कर्त्तव्य समझता हू । अतएव मेरी इन रचनाओ मे पाठको को धरा-शिखर के इसी सगीत की अथवा नवीन चेतना के आविर्भाव-सम्बन्धी अनुभव की क्षीण प्रतिध्वनिया मिलेगी ।"[2] कवि का 'स्वर्णकिरण', 'स्वर्णधूलि' और 'उत्तरा' की रचनाओ के सम्बन्ध मे उपर्युक्त वक्तव्य यह सिद्ध करता है कि वह इन रचनाओ मे अतिशय रूप से अरविन्द दर्शन के इस सिद्धान्त से प्रभावित रहा है जिसमे उन्होने यह स्वीकार किया है कि अन्तर्वाह्य सभी उस ब्रह्म का विकास है । स्थूल जगत की समस्याओ मे परिवर्तन-विवर्तन के साथ आन्तर जगत् अर्थात् हृदय की क्रान्ति भी परमावश्यक है, क्योकि एक के बिना दूसरा एकागी है और कुछ अ शो तक अनिवार्य भी । इस दृष्टिकोण से 'उत्तरा' की रचनाओ की सफलता-विफलता पर प्रकाश डाला जा रहा है । इस विवेचन का वृत्त मात्र अरविन्द दर्शन से प्रभावित रचनाओ तक ही सीमित रहेगा।

विवेचन की दृष्टि से 'स्वर्णकिरण' की रचनाओ मे कवि सिद्धान्तवादी विशेष रहा है, किन्तु, 'उत्तरा' की अधिकाश रचनाओ का स्वर भाववादी है । इन रचनाओ मे कवि ने अपनी अनुभूति और प्रेरणाओ को भावजगत् मे उतार कर लोक से यह काक्षा की है कि वह अपने अन्तर्जगत की ओर ध्यान दे । उस राशि-राशि सौन्दर्य की ओर ध्यान दे जो नूतन दृष्टि के वातायनो से विश्व मे बिखरा पड रहा है । 'उत्तरा' की रचनाओ के उद्देश्य के विषय मे सक्षेप मे यही कहा जा सकता है ।

'उत्तरा' की रचनाओ मे कवि ने श्री अरविन्द द्वारा प्रतिष्ठित अन्तश्चेतना का व्यापक प्रयोग किया है । अन्तश्चेतना के ही आधार पर भौतिक और आध्यात्मिक

---

१ उत्तरा की भूमिका : पृ० २८ (द्वितीय संस्करण)

२ वही, पृ० २६

जीवन के समग्र अवरुद्ध कपाट खुलते है। यह अन्तश्चेतना ब्रह्म की वह शक्ति है जो जीव और जगत् को ब्रह्म से सूत्र-बद्ध किए हुए है। जब जिस मात्रा मे इसकी अनुभूति का अभाव हो जाता है जीवन उसी अ श मे विशृंखलित हो जाता है। इस चेतना अथवा अन्तश्चेतना को अनेक प्रकार से रूपायित करने की कवि ने चेष्टा की है। 'उत्तरा' की 'उत्तरा' शीर्षक कविता की निम्न पक्तियो मे कवि ने चेतना के उस ऊर्ध्व-स्तर का वर्णन किया है, जिस पर स्थित कवि का मन जगत् को निम्न प्रकार से देखता है :—

"बदल रहा स्थूल धरातल,
परिणत होता सूक्ष्म मनस्तल
विस्तृत होता बहिर्जगत अब
विकसित अन्तर्जीवन अभिमत"[1]

चेतना के ऊर्ध्व स्तर से कवि ने उपर्युक्त पक्तियो मे 'अन्तर्जीवन' के अभिमत-विकास को देखा है। अन्तर्जीवन के उस अभीष्ट विकास मे जड-चेतन आस्तिकता-नास्तिकता, वाह्य और आभ्यन्तर का समन्वय हो जायगा। आज बुद्धि और तर्क के अनुसार इनकी एकांगी स्वीकृति से मानवता का अधूरा ही विकास हो सका है। द्रष्टा कवि ने इसीलिए मानवता के रथ को एक नूतन दृष्टि से देखा है .—

"जड़ चेतन के चक्र निरतर
घूम रहे चिर प्रलय सृजन कर,
जय ध्वनि हा हा रव मे बढता
युग पथ पर मानवता का रथ।"

* * *

"कहाँ बढाते भीत जन चरण ?
हुआ समापन बाहर का रण[2]
स्वर्ग चेतना के शोणित से
लथ पथ आज मर्त्य भू का मन
मरते जड, जग नव चेतन मे।"[3]

कवि ने ऊपर उद्धृत निम्न पक्तियो मे श्री अरविन्द द्वारा प्रतिष्ठित उस सिद्धान्त को स्वीकार किया है जिसमे उन्होने वाह्य से आन्तर जगत अथवा अन्नमय-प्राणमय-मनोमय कोश से ऊपर उठ कर अधिमानस अथवा अतिमानस की स्थिति का वर्णन किया है। इन पक्तियो मे कवि ने मानव-जीवन की उसी स्थिति की ओर सकेत किया है।

---

१ उत्तरा, पृ० १ (द्वितीय संस्करण)

२ वही,

३ वही, पृ० २८

ऊर्ध्व-स्तरो से चेतना के निम्न-स्तरों पर अवरोहण करने से जो परिवर्तन निम्न-स्तरो मे होते है, उनका वर्णन कवि ने 'उत्तरा' की अनेक रचनाओ मे किया है। एतद्विषयक कुछ पक्तिया उद्धृत की जा रही है :—

(१) "नाचेगा जब शोणित चेतन,
बदलेगा तब युग निरुद्ध मन,
कट मर जाए गे युग दानव,
सुर नर होगे भाई।

(२) जलता मन मेघो का सा घर
स्वप्नो की ज्वाला लिपटा कर,
दूर क्षितिज के पार दीखती
रेख क्षितिज की नूतन।"[1]

इन के अतिरिक्त 'उत्तरा' मे अन्य अनेक रचनाए है, जिनमे कवि ने 'चेतना' के अवरोहण को चित्रित किया है। 'चेतना' को कवि ने अनेक प्रतीक-विग्रहो के रूप मे देखा है। उपर्युक्त पक्तियो मे उसे 'शोणित-चेतन' और 'स्वप्नो' की ज्वाला के प्रतीको के रूप मे स्वीकार किया है। अन्य स्थलो मे उसे 'ज्वाल गर्म शोणित' 'ज्योति', 'विद्युत-ज्वाला' शोभा की लपट' के प्रतीक के रूप मे स्वीकार किया है। 'मेघ' अथवा 'घन' के प्रतीक को जगत और चेतना के निम्न स्तरो के लिए प्रयुक्त किया है और इसके द्वारा यह दर्शाया है कि अन्तर्वाह्य के समन्वय द्वारा ही जगत् और जीवन मे पूर्ण शान्ति सभव है। यही जीवन की पूर्ण उपलब्धि है।

ऊर्ध्व चेतना के अवतरित होने पर मानस पर जो प्रभाव होता है, उसका भी विस्तृत वर्णन'उत्तरा' की रचनाओ मे प्राप्त होता है। इस स्थिति मे मानव-मन तटस्थ होकर मन में होने वाले परिवर्तनो को देखता है.—

"उमड रही लहरे पर लहरें
घिरते घन पर फिर घन
रजत स्वर्ण बालुका पुलिन से
टूट रहे मन के प्रण
टकराते शत स्वप्न निरतर
रहस ध्वनित कर आकुल अन्तर
संशय भय के कूलो पर भर,
नव प्रतीति का प्लावन।"[2]

---

१ उत्तरा पृ० ५ (द्वितीय संस्करण)
२ वही पृ० २५

आवरण-विक्षेप के कारण जो दैवी वृत्तियाँ आसुरी वृत्तियो मे परिवर्तित हो गई है, वे फिर अपने स्वरूप को पाने लगती है इसका वर्णन कवि ने निम्न पक्तियो मे किया है —

"आज आ रही लहर पर लहर
डूब रहे युग के अन्तर,
यह अन्तर्मन का आन्दोलन
असुर जूझते, जीतते अमर,
धरा चेतना के प्राँगण मे ।"[1]

'उत्तरा' की 'गीत विहग' शीर्षक रचना मे कवि ने श्री अरविन्द की मानवता की उस मान्यता की ओर सकेत किया है जो चेतना के विकसित होने पर संभव होगी ।

श्री अरविन्द का मत है कि मानवता का विकास अन्न से प्राण, प्राण से मन तक हो चुका है । अब उसका अग्रिम कदम अतिमानस की स्थिति की ओर है, जिस स्थिति पर पहुँच कर मानवता मे प्रेम आदि गुण आ जाए गे वह भौतिकता और आध्यात्मिकता का अद्भुत समन्वय होगी.—

मै स्वदूतो को बाध मनोभावो मे
जग जीवन का नित अग बनता,
मै मानव प्रेमी, नव भू स्वर्ग बसा कर,
जन धरणी पर देवो का विभव लुटाता ।

* * *

मैं जन्म मरण के द्वारों से बाहर कर
मानव को उसका अमरासन दे जाता,
मैं दिव्य चेतना का सदेश सुनाता,
स्वाधीन भूमि का नव्य जागरण गाता ।"[2]

कवि ने उत्तरा की 'परिणति' शीर्षक रचना मे व्यक्ति-चेतना और महाचेतना अथवा जीव-चेतना और ब्रह्म चेतना–जो तत्वत: एक ही है, किन्तु मत-विक्षेप के आवरण के कारण दो दृष्टिगोचर होती है—की एकाकारिता की स्थिति चित्रित की है —

"धरती की वेदना
कामनाओ की छाया,
स्वर्ग चेतना
मृत्यु भीत स्वप्नो की माया,

---

१ उत्तरा पृ० २७ (द्वितीय संस्करण)
२ वही पृ० १३

दोनो तुम मे पूर्ण हुए अब,
जन मन काया !
बाहर भीतर ऊपर नीचे
पात्र तुम्ही अभिनय मे ।"[1]

'रूपान्तर' शीर्षक रचना मे कवि ने चेतना के द्वारा रूपान्तरित जग की उस झाकी को प्रस्तुत किया है, जो कि भविष्य मे प्रतिष्ठित होगा:—

"आज शिखर सब उच्च उच्च तर,
ज्योति द्रवित ढह रहे धरा पर,
रक्तोज्ज्वल चेतना ज्वार मे
नव स्वप्नस्थ दिशा क्षण !
उतर तुम्हारी आभा चेतन
नव-मानव मन करती धारण,
भावी की स्वर्णिम छायाए,
भू पर करती विचरण !
नव प्रकाश रेखाओ से भर
मन स्वर्ग नव उठा अब निखर,
अन्तर्वैभव से तुम निर्मित
करते नव मानव पन ।"

इस प्रकार कवि ने 'उत्तरा' की रचनाओं मे श्री अरविन्द दर्शन के मूलभूत सिद्धान्तो की मनोहर तथा विशद व्याख्या की है ।

'युगान्तर' की रचनाए आदर्शवादी होने के कारण अन्तर्मुखी हो गई है । कवि के मन के अन्तर्मुखी क्षितिजो का उद्घाटन इसकी रचनाओ से विशेष रूप से स्पष्ट हुआ है । कवि ने रवीन्द्र, अवनीन्द्रनाथ, मर्यादा पुरुषोत्तम तथा अरविन्द की इसमे प्रशस्ति की है । अरविन्द के ऊपर लिखी गई रचना से प्रतीत होता है कि वे अरविन्द के सिद्धान्तो से अतिशय रूप से प्रभावित हुए है.—

"हे अतिचेतन, नव मानस वसनो मे हो नव भूषित,
नव आदर्श बनो तुम, जिसमे नव जीवन को बिबित ।
जीवन मन से ऊपर, तुम नव जीवन मे नव मन मे
मानवता को बांधो अभिनव मुक्ति बधन मे ।"

इसके अतिरिक्त 'अवतरण' शीर्षक रचना मे भी श्री अरविन्द के प्रति जो प्रणति स्वीकार की है, उससे भी उनकी अतुल निष्ठा प्रकट होती है । 'स्वप्न-पूजन', 'जिज्ञासा',

---

१ उत्तरा पृ० १२८ (द्वितीय संस्करण)
२ वही पृ० ४९

'प्रकाश-क्षण', 'करुण धारा', 'शोभा जागरण', 'मानसी' आदि रचनाओ मे 'चेतना' के असीम तथा अमोघ प्रभाव का वर्णन हुआ है और 'वह मानव क्या ?' 'शीर्षक युगान्तर की रचना मे आदर्श मानव का चित्रण हुआ है, जो श्री अरविन्द द्वारा प्रतिष्ठित भावी मानव से साम्य रखता हुआ प्रतीत होता है ।

काव्य-रूपक

पन्त जी ने काव्य-रूपको की सृष्टि 'रेडियो' को दृष्टि-पथ मे रखते हुए की है । इन्हे 'ध्वनि-रूपक' कहना चाहिए । क्योकि ध्वनि-विस्तारण मे ही इनकी नाट्य कला निर्भर है । श्री पन्त के इन रूपको की समीक्षा यहा पर नाट्य कला के सिद्धातो की दृष्टि से अभीष्ट नही है, इस स्थल पर तो यही अभिप्रेत है कि उनके इन रूपको पर श्री अरविन्द के विचारो का किस सीमा तक प्रभाव पडा है। उनके 'रजत शिखर' शीर्षक रूपक-सग्रह मे विभिन्न समयो मे लिखे गये ६ रूपक सग्रहीत है, जिनका प्रकाशन पुस्तक के रूप मे सन् १९५१ मे हुआ था। इन रूपको के नाम इस प्रकार है—

१–रजत शिखर,
२–फूलो का देश,
३–उत्तरशती,
४–शुभ्र पुरुष,
५–विद्युतवसना
६–शरद-चेतन ।

पन्त जी के उपर्युक्त समग्र रूपक प्रतीकात्मक है । स्पष्ट है कि जो लोग प्रतीक-पद्धति को नही समझते और काव्य को अभिधा द्वारा ही समझते है, उनके लिए इन रूपको की कविता दुरूह प्रतीत होगी ।

रजत-शिखर

'रजत शिखर' मे कवि ने यह दर्शाने का प्रयत्न किया है कि दार्शनिक तथा साधना पर अधूरे ज्ञान का प्रचार स्वय को तो भ्रान्ति मे डालता ही है, समाज का भी बडा अहित करता है । इस नाटक का एक पात्र जो मनोवैज्ञानिक है अपने विश्लेषण के अनुसार आध्यात्मिक अनुभूतियो को अतृप्त कामनाओ की पूर्ति के रूप मे स्वीकार करता है । किन्तु अन्त मे नाटक के एक पात्र, जो अरविन्दवादी है, के अकाट्य तर्को के प्रभाव से उसका अनुयायी हो जाता है । श्री अरविन्द के विचारो को वहन करते हुए इस रूपक के दो उदाहरण नीचे उद्धृत किए जा रहे है, जिनमे कवि ने आज के युग मे नैतिक मूल्यो के 'प्रकाश' का अभाव देखा है और अन्त मे कामना की है कि निष्काम कर्म' को ही धर्म बनाना चाहिए; क्योकि उसी से सुख-समृद्धि प्राप्त हो सकते है.—

' बहुत सुन चुका अद्य. प्राण सदेश तुम्हारा,
निश्चय ही अब नाटक द्वार है खुलने वाला
निश्चेतन के अन्धकार मे युग का ए मन
भटक रहा है, नैतिक मूल्यो का प्रकाश खो ।
अध पतन मे मुक्ति नही है ! ऊर्ध्व गमन ही
मुक्ति द्वार है ! मोह मुक्त हो गया आज मन !''

और इसीलिए कवि बडे प्रकर्ष के साथ यह कहता है कि 'निष्काम' कर्म से ही मन शान्ति उपलब्ध हो सकती है । आत्मा के प्रति अमर अनुराग ही स्वर्ग और पृथ्वी के जीवन को पूर्णता प्रदान कर सकता है:—

'आओ हम अत: प्रतीक को धर्म बनाए
आओ, हम निष्काम कर्म को धर्म बनाये ,
हम आत्मा की अमर प्रीति के धरा स्वर्ग मे
सब मिलकर जीवन स्वप्नों का नीड सजाये
आओ, हम सब मानव का घर द्वार बसाए ।"

फूलों का देश

'फूलो के देश' के विषय मे कवि बच्चन जी ने लिखा है—'फूलो का देश' सास्कृतिक क्षेत्र का प्रतीक है । इस रूपक मे कवि ने यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि संसार मे फैले विभिन्न वादो मे समन्वय अध्यात्मवाद, भौतिकवाद, आदर्शवाद, वस्तुवाद मे कराने का काम केवल कलाकार या कवि का है ।' इससे सिद्ध होता है कि कवि ने श्री अरविन्द के समन्वयवादी दृष्टिकोण की ही इस रूपक मे प्रतिष्ठा की है । इस नाटक का एक पात्र 'कवि' है, जो पत जी का ही प्रतिरूप, प्रतीत होता है । वाह्य-जीवन को अतिशय रूप मे ग्रहण करने के कारण आज का जीवन प्रभूत रूप से असन्तुलित हो गया है । श्री अरविन्द द्वारा प्रतिष्ठित आत्मा के अधिष्ठान को बिना स्वीकार किये यह असन्तुलन बराबर बढता जायगा; क्योकि सच्चा ससार तो 'भीतर' ही है .—

''भीतर भी है सूक्ष्म परिस्थितियाँ जीवन की,
भीतर ही रे मानव, भीतर ही सच्चा जग ।"

'रजत-शिखर' के अन्तर्गत कवि ने मानव की आधुनिक प्रगति को सयमित करने के लिये ऊर्ध्व आरोहण और समतल आरोहण की महती आवश्यकता बतलाई है । इस रूपक मे समतल सचरण का प्रतिनिधि सुख-व्रत है जो मनोविश्लेषक है । युवक साधक ही युग का प्रतिनिधि कवि है जो निम्न सचरण-मार्ग को अवरुद्ध करके शेष दो मे समन्वय करता है ।

श्री अरविन्द ऊर्ध्व-चेतना के अवरोहण और निम्न-चेतना के आरोहण के समर्थक है। आज का मनोविज्ञान निम्न चेतना को निर्बन्ध करने का पक्षधर है। कवि ने सुखव्रत के मुख से कहलवाया है, 'हमे मुक्त करती है पहिले काम-चेतना।' किन्तु, इससे तो जीवन मे विशृ खलता ही आएगी। इसीलिये 'पत' जी श्री अरविन्द के अनुसार, देवत्व को उभारने और पशुत्व को निम्न स्तरो से मुक्त करने के पक्षपाती हैं, क्योकि वासनाओ का दमन नही, सयम ही श्रेयस्कर होता है --

"··निचले मन के
आवेगो को हमे सगठित करना होगा
ऊर्ध्वज्योति मे। सयम ही वास्तविक मुक्ति है।"

उत्तर शती

"उत्तर-शती" काव्य-रूपक मे पत' जी ने यह भविष्यवाणी की है कि बीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे नूनन युग का प्रारम्भ होगा। अस्तु, उस युग के प्रारम्भ होने से पूर्व जो सघर्ष दृष्टिगोचर होता है, वह उसी की तैयारी के लिए है:—

"टकराती है नव्य-चेतना की हिल्लोलें
युग मन की निश्चेष्ट बधिर पाषाण शिला पर
हाहाकारो से, जयघोषो से समुच्छ्वसित,
विश्व क्रान्ति की ओर आरोहण करती है।"

शुभ्र-पुरुष

"शुभ्र-पुरुष" रूपक मे महात्मा गाधी की प्रशस्ति की गई है। इसमे इसके अतिरिक्त कि सद्वृत्तियो का उदात्तीकरण हो और कोई भी प्रभाव श्री अरविन्द की विचार धारा का नही प्रतीत होता।

विद्युत-वसना

"विद्युत वसना" रूपक स्वाधीनता के विषय मे लिखा गया है। 'विद्युत' की सज्ञा कवि ने स्वतन्त्रता-चेतना से दी है। किन्तु, इस स्वतन्त्रता-चेतना को कवि ने अरविन्द-दर्शन की उर्ध्व-चेतना के साथ सयुक्त कर दिया है।

"दुर्निवार कामना! कौन सी महाशक्ति यह
जन समुद्र को है ढकेलती युग तोरण से
नव प्रभात के सद्य प्रज्वलित नव प्रदेश मे
जीवन का सौन्दर्य धरा का स्वर्णिम वैभव
जहा हँस रहा दिग्, दिगन्त मे जन-जन के हित।"

कवि ने वैदिक ऋषियो के समान रूपको की रचनाओ को मत्रपूत करना चाहा है। इससे कवि को अरविन्द विषयक यह मान्यता स्वीकृत प्रतीत होतो है कि 'मंत्र' ही सर्वश्रेष्ठ कविता है।

शरद-चेतना

"शरद-चेतना" रूपक मे कवि ने ऊर्ध्व-चेतना के अवरोहण को दर्शाया है। हमारे दर्शनो ने ब्रह्म की दो चेतनाए स्वीकार की है। प्रथम को उन्होने 'मार्जारी न्याय' के अन्तर्गत अभिव्यक्ति दी है। और दूसरे को 'मर्कट न्याय' के अन्तर्गत। वास्तव मे जीव का प्रयास प्राकृतिक रूप से ब्रह्म से मिलने अथवा ऊर्ध्व-चेतना से मिलने का है। जीव उस ब्राह्मी स्थिति को पाने के लिए सतत उछल-कूद कर रहा है। किन्तु ऐसा नही है कि ब्रह्म की चेतना निष्क्रिय रहती हो। वह भी उसके ऊपर पूर्ण ललक के साथ अनुग्रह करके उससे मिलने के लिए नीचे आती है। इस प्रकार ब्रह्म के साथ जीव मिल जाता है, ऊर्ध्व चेतना से निम्न-चेतना मिल जाती है। इसी को श्री अरविन्द ने डबल लेडर की सज्ञा दी है। कवि ने 'चाँदनी' के रूपक के माध्यम से इसका बड़ा सटीक वर्णन किया है:—

"भौतिकज्योति नही है केवल शरद चांदनी,
आत्मलीन वह अमर चेतना स्वर्गलोक की,
अतिक्रम कर सब दिशा काल, तन-मन के बन्धन,
आत्मोल्लास प्रदीप्त हुई परिव्याप्त चतुर्दिक।"

इसी कारण पृथ्वी पर की अन्य ऋतुओ जो जीव की लघु-चेतना अथवा निम्न चेतना की प्रतीक है उससे (चाँदनी से) मिलने को आतुर रहती हैं, अभिवादन के लिए सतत प्रस्तुत है—

"भूवासिनि ऋतुओ अन्य सभी,
तुम नभ वासिनि चिर निर्मल री,
वे धरती की रज मे लिपटी,
तुम स्वर्गगा-सी उज्वल री।"

'रजत-शिखर' काव्य-रूपक-सग्रह मे भी कवि ने यथाशक्य श्री अरविन्द के विचारो को अभिव्यक्ति दी है। और इस दृष्टिकोण से उनका यह कार्य सर्वथा स्तुत्य रहा है।

शिल्पी

"रजत-शिखर"-के समान'शिल्पी' भी कवि पत का एक सिद्धान्तवादी काव्य-रूपक-सग्रह है। इस सग्रह मे तीन काव्य-रूपक सग्रहीत है-'शिल्पी', 'ध्वस शेष', और 'अप्सरा'। 'शिल्पी' के सक्षिप्त 'विज्ञापन' मे कवि ने लिखा है.—"इन रूपको मे वर्तमान विश्व सघर्ष को वाणी देने के साथ ही नवीन जीवन निर्माण की ओर इगित करने का प्रयत्न किया गया है।"[1]

---

१ शिल्पी—'विज्ञापन' (प्रथम संस्करण)

पंत जी के उपर्युक्त विज्ञापन से यह सिद्ध होता है कि उनकी यह मान्यता है कि भौतिकवाद से प्रसूत तथा बुद्धिवाद पर प्रतिष्ठित एकागी विचारणा के कारण ही आज विश्व मे चतुर्दिक सघर्ष है । इस सघर्ष से तभी मुक्ति मिल सकती है । जब विचार अथवा सिद्धान्त को समग्र बनाया जाय । श्री अरविन्द ने अन्तर्वाह्य के समन्वय को ही जीवन की समग्र दृष्टि कहा है । अस्तु इसी की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए । 'शिल्पी' मे सग्रहीत रूपको का यही मूल विषय है ।

"शिल्पी" शीर्षक रूपक मे कवि ने आस्था को प्रधानता दी है । आस्था ही पाषाण मे प्राण-प्रतिष्ठा करती है, उसे जीवन्त बनाती है, नही तो वह पत्थर तो है ही । कवि ने इसीलिए 'युगवाणी' के अन्तर्गत 'शिल्पी' को अपनी फटकार भरी सीख दी थी—

"हे शिल्पकार वर ! कठिन धातु,
जड प्रस्तर मे भर अमर प्राण
दे सके नही मानव जग को
तुम मानवता का अमर मान ।"

'शिल्पी' मे कवि के शिल्पी ने एकबन्त, मुरलीधर, गौतम बुद्ध आदि की प्रतिमाएं बनाई, साथ ही उसने 'चन्द्र कौमुदी', 'मेघ दामिनी' और 'पूर्ण चन्द्र सागर बेला' की प्रतिमाएं भी निर्मित की है । इससे यह प्रतीत होता है कि कवि ने द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मकता और पश्चात् पद गृहीत नूतन भाववादी दृष्टिकोण को मूर्त करने की चेष्टा की है । साथ ही यह भी व्यग्य से ध्वनित करना चाहा है कि अन्तर्वाह्य के समन्वय मे ही कला की पूर्णता है । किन्तु, इन दो दृष्टिकोणो के चित्रो के निर्माण मे जो वस्तुत: समन्वित न होकर पृथक्-पृथक् थे, शिल्पी को सन्तोष नहीं हुआ और उसने एक और चित्र बनाया जिससे उसे पूर्ण सन्तोष मिलता जान पडा । वह था क्रान्ति अथवा विप्लव का चित्र जो प्रगतिवादो तत्वो के आधार पर निर्मित था :—

"ईश्वर ! अब आकर पाषाण सजीव हुआ कुछ,
युग- विप्लव की पृष्ठभूमि साकार हो गई,
प्रस्तर के युग मे युग जीवन का समुद्र ही,
हिल्लोलित हो उठा, क्षुब्ध जन आवेशो में ।"

किन्तु युग-विप्लव को मूर्त करने के पश्चात् भी उसे सन्तोष नही हो सका, क्योकि वास्तव मे युग-विप्लव को नही, युग-आत्मा को जो युग-जीवन की प्रतीक है, प्रतिष्ठित करना ही प्रतिमा का अभीष्ट रूप है । यह अभीष्ट मूर्ति वहिरतर की समन्वय-चेष्टा में ही संभव है:—

"यही प्रश्न है आज कला के सम्मुख निश्चय,
जो दु:साध्य प्रतीत हो रहा कलाकार को,

वहिरतर की जटिल विषमताओ मे उसको,
नव समत्व भरना होगा, सौन्दर्य सतुलित ।"

अन्त मे कवि ने वहिरतर-सयोजित तथा 'सौन्दर्य' सतुलित अभीष्ट प्रतिमा का निर्माण 'शिल्पी' द्वारा करा ही डाला:—

"आह अन्त मे दृष्टि शून्य पाहन पलको पर
मूर्त हो उठा स्वर्ण स्वप्न मानव का अन्तर ।"

* * *

कवि ने इस प्रतिमा के विषय मे लिखा है.—

"निश्चय, यह जन के मन मन्दिर की प्रतिमा है,
जन आकाक्षा की प्रतीक, जन जीवनमय है ।
सामूहिक चेतना हो उठी मूर्तित इसमे,
शक्ति, स्फूर्ति-विश्वास भरेगी यह जन-मन मे ।"[1]

'शिल्पी' रूपक के माध्यम से कवि ने व्यग्यरूप मे अपनी अभिनव कविता की ओर भी सकेत किया है । वाह्य और आभ्यतर के समन्वय मे ही जीवन का समग्र चित्र है, यही इस रूपक का मुख्य विषय है । श्री पत का वाह्य और आभ्यतर का सयोजन श्री अरविन्द के भौतिकता और आध्यात्मिकता के समन्वयवादी विचार से ही प्रभावित है, इसमे कोई सन्देह नही ।

ध्वंस-शेष

'ध्वंस-शेष' काव्य रूपक मे श्री पत जी ने तीसरे महायुद्ध की आशका प्रकट की है । आज के युग के विध्वसकारी वैज्ञानिक अविष्कारो ने मानवता को अतिशयरूप से आतकित कर दिया है । विश्व-युद्ध की उस विध्वसकारी कल्पना से ही कवि काप उठा है और उसी कल्पना को इस रूपक मे चित्रित किया है । विज्ञान के आधार पर प्रतिष्ठित ध्वसावशेष मे यान्त्रिक सभ्यता का अरविन्द के सिद्धान्तो के अनुसार पुनर्निर्माण करने की इच्छा प्रकट की है । कवि का यह कहना है कि हमे इस महानाश से विचलित नही होना चाहिए, क्योकि यह वाह्य क्रान्ति नही, वरन आन्तरिक क्रान्ति है और इसके पश्चात् मानवता ऊर्ध्व सचरण करेगी:—

"कातर मत हो प्रकृति, तुम्हे यह मर्त्यो सी,
करुण असीवता नही सुहाती, शान्त करो मन ।'

---

१ शिल्पी, पृ० ४४

भूत-प्रलय यह नही, मात्र यह मन· क्रान्ति है,
आरोहण कर रही सभ्यता, नव शिखरो पर।"[1]

इस रूपक को कवि ने स्थूलरूप से 'लोकतन्त्र' और 'आश्रम जीवन' के युगल स्तंभो मे विभक्त किया है। 'लोकतंत्र' से उसका अभिप्राय वाह्य तथा 'आश्रम जीवन' से आभ्यंतर जीवन से है। वास्तव मे 'लोक-तत्र' का जीवन कवि के मत से 'छाया की छाया' है।

"लोकतत्र का जीवन वैभव इस जीवन की
छाया की छाया है, क्षर भू रज मे लुठित।"[2]

और इसीलिए आध्यात्मिक जीवन (जो वास्तव मे अन्तर्जीवन है) को ही वह जीवन का लक्ष्य मानता है।

"भगवत जीवन ही भू जीवन का भविष्य है।"[3]

इस रूपक के माध्यम से भी 'ज्योत्सना' की भाति एक आदर्श जीवन का अधिस्वप्न उपस्थित किया गया है, जिसमे अन्तर के आधार पर वहिर्गठन की चेष्टा है।

'शिल्पी' मे सग्रहीत तीसरा काव्य-रूपक 'अप्सरा' है। जिसके विषय में कवि पत ने स्वय ही कहा है कि.—

'सौन्दर्य चेतना का रूपक है।"

यह रूपक 'गु जन' की 'अप्सरा' शीर्षक रचना से पूर्ण सबद्ध है। 'गु जन' मे कवि ने 'अप्सरा' के प्रतीक के माध्यम से परम चैतन्य शक्ति अथवा पराशक्ति का वर्णन किया है—

"प्रति युग मे आती हो रगिनि!
रच-रच रूप नवीन
तुम सुर-नर-मुनि-ईप्सित-अप्सरि।
त्रिभुवन भर मे लीन।"[4]

किन्तु यह परम चेतना मात्र सत्-चित् ही नही है, वरन् वह आनन्द से भी समन्वित है। वह सत्य भी है, शिव भी है और सुन्दर भी है। रूपक मे भी सौन्दर्य के परिवेश मे सत्य और शिव अथवा चेतना शक्ति को स्वीकार किया गया है। वास्तव मे काव्य की अभिव्यक्ति सुन्दर के ही माध्यम से होती है। कदाचित् कवि ने इसी कारण

---

१ शिल्पी, पृ० ६२
२ वही, पृ० ८६
३ वही, पृ० ८४
४ वही, पृष्ठ ८४

'अप्सरा' के समान सुन्दर प्रतीक उसने अभिव्यंजन के लिए चुना है। कवि की सौन्दर्य-चेतना परम चेतना ही है:–

"केवल न प्रकृति ही का प्रांगण
मै रग वृष्टि मे नहलाती
मैं अन्तर जग को भी अपनी
स्वप्निल सुषमा मे लिपटाती।[1]"

इस काव्य रूपक को चार दृश्यो मे विभाजित किया गया है। प्रत्येक दृश्य के लिए कवि ने एक साभिप्राय शीर्षक भी दिया है—

यथा:–

प्रथम दृश्य को 'भावोद्वेतन'
द्वितीय को 'मानसिक' सघर्ष,
तृतीय को 'उन्मेष' और
चतुर्थ को 'रूपान्तर'

इससे प्रतीत होता है कि कवि को इस प्रतीक-रूपक के माध्यम से अपने विचारो को जनता तक पहुचाना भी अभीष्ट रहा है। कवि इस शक्ति को अपने हृदय मे पूर्णतया प्रविष्ट कर लेना चाहता है और इसीलिए वह उसके प्रति अपनी समग्र श्रद्धा और विश्वास समर्पित करने को सन्नद्ध है —

"तुमको प्रतीति करता अर्पित,
उर की श्रद्धा से अभिनन्दित।"[2]

इन पक्तियो मे भारतीय-दर्शन का सार रूपायित हो उठा है। बिना समग्र समर्पण के अहता का पूर्ण नाश नही होता और बिना अहता के निरसन के परमात्म-तत्व अथवा अभीष्ट की प्राप्ति असम्भव है। गीता मे भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है.—

"सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेक शरणं व्रज,
अह त्वां सर्व पापेभ्योमोक्षमिष्यामि मा शुच."[3]

श्री अरविन्द-दर्शन की भी यही मान्यता है कि बिना समग्र प्रणति के तत्व की प्राप्ति असम्भव है। किन्तु, यह समग्र प्रणति-दान बिना प्रेम के असम्भव है। इसलिए अप्सरा कहती है:–

---

१ शिल्पी, पृष्ठ ५-९६
२ वही
३ गीता

"मैं आत्म-समर्पण के क्षण मे
निर्झर प्रकाश के बरसाती"[1]

वास्तव मे 'प्रकाश निर्झर' प्रेम के ही प्रतीक है। आत्म समर्पण के पश्चात् प्रेम की प्राप्ति होती है, अर्थात् प्रेम साध्य और महान् वस्तु है तथा 'आत्म-समर्पण' साधन और उससे निम्न वस्तु है।

'मानसिक सघर्ष' (द्वितीय दृश्य) शीर्षक मे कवि ने अवचेतन की विकृतियो का भयावह वर्णन किया है। अवचेतन की ये विकृतियाँ इतनी अशोभन और कुरूप है कि वे नव्य-सौन्दर्य-चेतना के मार्ग को बडी तत्परता के साथ अवरुद्ध किये हुए हैं और वह नीचे उतरने मे अपने को पूर्णतया अक्षम पाती है। कवि ने अनेक प्रतीको के माध्यम से इन विकृतियो को मूर्तित किया है:—

"युग जीवन कर्दम के दादुर,
समवेत कठ गाते बेसुर,
जनता, जनता रटते, उसका
मानवता से कर वहिष्कार ।
ये जन धरणी के बुद्धि-प्राण
आहत जिनका मिथ्याभिमान,
ये धरा चेतना के प्रतिनिधि
रोके मानव का मुक्ति द्वार ।"[2]

नव्य-चेतना के अवरोधक अवचेतन मे स्थित कुरूप तत्वो को 'लुंठित-कुंठित' काया, 'लुंजित-पुंजित' छाया, सिद्धान्तो की 'मृग-तृष्णा', 'गिरगिट', 'जीवन-कर्दम के दादुर' आदि प्रतीको के द्वारा अभिव्यक्त किया है। नव्य सौन्दर्य-चेतना का इन्ही से सघर्ष है। अन्त मे ये सभी विकृतियाँ ध्वस्त हो जाती है और कवि कलाकार के माध्यम से नव-चेतना को विजयी होती देखता है और उसे अब मानवता को नव्य-चेतना से अनुप्राणित करने मे योग देना शेष रह गया है:—

"आज नया दायित्व भार है मध्यवर्ग के
सृजन प्राण युग जीवन-शिल्पी के कधे पर,
धरती की सौन्दर्य-चेतना का प्रतिनिधि जो।
युग मन के बिखरे अनगढ उपकरणो को ले
मनुष्यत्व की नव प्रतिभा कल्पित कर उसको,
प्राण प्रतिष्ठित करना है जन मदिर मे।"[3]

१ शिल्पी, पृ० ९७
२ वही पृ० १००
३ वही पृष्ठ १०१

तृतीय दृश्य 'उन्मेष' मे कवि ने 'धेनु-धरा' वाले पौराणिक रूपक के अनुसार 'धरा-चेतना' की कल्पना की है। पौराणिक रूपक मे धेनु रूपी पृथ्वी भगवान के समक्ष अपनी मुक्ति की विनय करती है और ठीक उसी प्रकार 'धरा-चेतना' भी करती है--

"युग के कर्दम मे लिपटा तन
अवचेतन तम मे भटका मन,
जीवन स्वर्ग बसाने को
कब से आकुल घटवासी।

* * *

"मेरे मूक हृदय मे प्रतिक्षण
जगता रहता स्वर्गिक स्पन्दन,
अमर चेतना से कब मण्डित,
होगे, मृत्यु विलासी।"[1]

भगवान के समान ही कलाकार ने धरा-चेतना को आश्वस्त करते हुए कहा:--

"जगत् भागवत् जीवन भिन्न पदार्थ नही हैं,
ईश्वर का ही अश जगत्, आरोहण पथ पर,
जिसका पूर्ण प्रकारान्तर होना निश्चित है।"[2]

कवि ने उपर्युक्त पक्तियो द्वारा श्री अरविन्द-दर्शन के इस तथ्य को कि मूलत: जगत् और ब्रह्म मे पार्थक्य नही है, वे एक ही है, सिद्ध किया है। सृष्टि का अब तक का विकास यह सिद्ध करता है कि जगत् जो ईश्वर का ही अश है, ऊर्ध्व सचरण करता हुआ, जड से अर्द्ध चेतन और फिर चेतन स्थिति को प्राप्त हुआ है और इस स्थिति मे भी वह अधिक नही ठहरेगा, वरन् उसका रूपान्तर होना अवश्यम्भावी है। उसकी स्थिति अधिमानस पर अवश्य होगी।

अन्तिम दृश्य 'रूपान्तर' मे कवि ने सौन्दर्य-चेतना के स्वरूप की परिभाषा दी है। अत्यन्त प्रकृष्ट एवं सारगभित रूप से उसने कलाकार के माध्यम से अपने विचार प्रकट किये है:—

"क्या है यह सौन्दर्य चेतना? जग जीवन की
अन्तरतम स्वर सगीत जो अब अन्तर्नभ के

---

१ शिल्पी, पृ० १०४-१०५
२ वही, १०५

शिखरो से है उतर रही स्वर्णिम प्रवाह सी
स्वप्नो से शोभा उर्वर करने वसुधा को।"[1]

कवि ने उस सौन्दर्य-चेतना के स्वरूप को अन्तर्बाह्य अथवा भौतिक-आध्यात्मिक-समन्वय मे देखा है। श्री अरविन्द-दर्शन की भी यही दृढ मान्यता है। श्री अरविन्द भी निषेध मे नही, वरन् समन्वय मे समग्र जीवन-सौन्दर्य को स्वीकार करते है। श्री पन्त के उत्तरवर्ती काव्य की विचार-पीठिका यही दार्शनिक मान्यता रही है। कवि ने इस रूपक मे कलाकार के माध्यम से चेतना का जो ऊर्ध्व-सचरण प्रदर्शित किया है, उससे श्री अरविन्द दर्शन का पूर्ण प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर होता है:—

"उच्च उच्चतर सोपानो पर चढ अधिमन के,
अति मानस के दिव्य विभव से अभिप्रेरित हो,
मनुज चेतना उपचेतन की अंध गुहा को
अवगाहित कर रही निखिल कल्मष कर्दम से।
विगत अहता का विधान विकसित वर्धित हो,
मुक्त हो रहा राग द्वेष, कुत्सा स्पर्धा से
भेद भाव मिट रहे, छँट रहा सशय का तम,
उदय हो रही अन्तर्मुख भावना साम्य की।

* * *

संयोजित हो रहा मनुज मन नव प्रकाश मे
जन्म ले रही नव मनुष्यता हृदय क्षितिज में।"[2]

कवि ने इस रूपक के द्वारा श्री अरविन्द द्वारा प्रतिष्ठित मानवता की विकास-सारिणी को उपस्थित किया है।

स्वप्न और सत्य

"स्वप्न और सत्य" रूपक मे भी पत जी ने अन्तर्बाह्य के समन्वय द्वारा विश्व-शान्ति की प्रतिष्ठा की है। "रजत शिखर" मे युवक कवि के द्वारा "शिल्पी" मे मूर्तिकार के द्वारा और "स्वप्न और सत्य" में यह कार्य भार कवि ने चित्रकार के ऊपर डाला है। कदाचित् कवि ने इस प्रकार की योजना प्रेषणीयता को दृष्टि में रख कर बनाई है।

इस रूपक मे तीन दृश्य हैं, पहला जाग्रतावस्था का तथा शेष दो स्वप्नावस्था के। इसमें दो मित्रों के विरोधी विचारो, जिसमे एक समष्टिवादी है तथा दूसरा

---

१ शिल्पी, पृ० १०७
२ वही, पृष्ठ १०८-१०९

अन्तचेश्तनावादी। इन दोनो के तर्कों द्वारा अरविन्द के समन्वयवादी दर्शन की प्रतिष्ठा की गई है।

यह समन्वय चेतना शक्ति के द्वारा ही सम्भव है, इसलिए कवि ने उसकी महत्ता स्वीकार करते हुए कहा है —

"एक ओर चेतना शक्ति है, जो मानव के
अन्तर्तम मे अन्तर्हित है, ज्योति प्रीतिमय,
जो विकास पथ मे सम्भवत. जिसके धूमिल
चरण चिन्ह भू पथ पर छोड गए प्रबुद्धजन।
तर्क बुद्धि, मतवादो से जो कही पूर्ण है।"[1]

इन्ही विचारो मे डूबा हुआ चित्रकार निद्रित होता है और स्वप्न मे उसके अन्तर्मन मे सूक्ष्म जगत् जागृत हो उठता है:—

"स्वर्ग लोक है यह क्या अन्तर्मन का दर्पण ?"[२]

यहाँ पर उसे श्री अरविन्द द्वारा निरूपित दोहरे सोपान वाले सिद्धान्त का ज्ञान होता है। वह स्पष्ट देखता है कि निम्न चेतना ऊपर चढ रही है और ऊर्ध्व चेतना नीचे उतर रही है। वास्तव मे मुक्त ऊर्ध्वत्व प्राप्त करके शून्य मे नही खो जाता, वरन् नीचे उतर कर निम्न को ऊर्ध्वगति प्रदान करता है। इस रूपक मे चेतना के सचरण के द्वारा अन्तर्वाह्य के समन्वय को आदर्श जीवन के रूप मे देखा गया है:—

"अध. ऊर्ध्व सोपान श्रेणियो मे बहु छहरा,
एक दूसरे पर निर्भर है जिनकी सत्ता
एकागी अभिव्यक्ति नही श्रेयस्कर इनकी।
*   *   *
मुक्ति रिक्त कल्पना नही, वास्तविक सत्य
उमे प्रतिष्ठित करना होगा जन समाज मे।"[3]

"स्वप्न और सत्य" काव्य रूपक मे कवि पन्त ने उन गत रूढियो को स्थापित करने की चेष्टा की है, जो ऊर्ध्व-चेतना के मार्ग मे सतत् बाधक हो रही है। वे रूढ़ियाँ जन-मानस के अवचेतन और अचेतन मे प्रविष्ट होकर मानवता के अग्रिम विकास मे अत्यन्त हानिप्रद सिद्ध हो रही हैं। किन्तु, कवि को पूर्ण निश्चय है कि चेतना की उस सतत् प्रवहमान गति को वे रोक नही सकती और चेतन की नूतन ऊषा का आगमन असदिग्ध है। मानवता का नया सबेरा अवश्य होगा:—

१ सौवर्ण, पृ० ८४-८५
२ वही, पृ० ८७
३ वही, पृ० ८८

"बाहर जीवन का संघर्षण
भीतर आवेशो का गर्जन,
भरा मौन प्राणो का क्रन्दन
उर मे दुःसह व्यथा भार है।

बदल रहा जन भू का जीवन,
बिखर तटो पर रहा विश्व मन
घुमड़ रहा उन्मद अवचेतन,
मनुज विजय बन रही हार है।

युग परिवर्तन का दुर्वह क्षण
डाल अचेतन का अवगुंठन,
आरोहण करता नव चेतन
प्रलय सृजन क्रम दुर्निवार है।"[1]

* *

"हँसता नव जीवन अरुणोदय,
तम प्रकाश मे होता तन्मय
सिन्धु क्षितिज पर दूर स्वप्न स्मित,
उठता स्वर्णिम ज्योति ज्वार है।"[2]

कवि ने इस प्रकार श्री अरविन्द द्वारा प्रतिपादित चेतना के नए स्वर का 'स्वप्न और सत्य' काव्य रूपक मे हार्दिक स्वागत किया है।

सौवर्ण

"सौवर्ण" इस रूपक का प्रतीक 'शीर्षक' है। वेदो से लेकर आधुनिक काल तक कवियो ने इसका प्रयोग किया है। कवि श्री हरवशराय 'बच्चन' ने इस प्रतीक की महत्ता इन शब्दो मे स्वीकार की है:—

"सौवर्ण का अर्थ हुआ सोने का–कचन का। पन्त जी की कविता मे उत्कृष्ट, निर्मल, ज्योतिर्मय, पवित्र, शुभ्र, तेजोमय के अर्थ मे स्वर्ण के प्रयोग के लिए हमे 'स्वर्ण-किरण' और 'स्वर्णधूलि' से बहुत पीछे जाना होगा। इन रचनाओ के बाद से उन्होने सुवर्ण के विशेषण मे बहुत अर्थ भरा है और इसका बहुतायत से प्रयोग किया है। .. .'हिरण्यगर्भ' से इसने वेदो मे ब्रह्म की ज्योति के दर्शन कराए तो उपनिषदो मे 'हिरण्यमय' पात्र बन कर इसने सत्य को छिपा दिया। मध्यकालीन युग मे सन्तो

१ सौवर्ण, पृ० ११७-११८
२ वही, ११८

ने इसे कामिनी के समान त्याज्य ठहराया।....... .... भारत मे दर्शन के क्षेत्र मे श्री अरविन्द की विचार-प्रक्रिया सक्षेप मे यों हुई--मनुष्य केवल शरीर ही नही, मनस् आत्मा भी है। विकास होगा तो सबको लेकर होगा। अगर मनुष्य बानर से नर हुआ है तो नर से नारायण भी होगा। मानस के चरम विकास पर वह अतिमानस और अधिमानस मे प्रविष्ट होगा। प्राणवान से महाप्राण बनेगा, हाड-मास-शरीरी से दिव्य शरीरी (आफ डिवाइन ओडी) बनेगा। मानव सृष्टि की अन्तिम परिणति यदि यह होनी है तो इससे अनेक तर्क सम्मत सिद्धान्त, स्थापनाए, विचार शृ खलाए बनती है जिनका प्रतिपादन श्री अरविन्द ने अपने लगभग हजार पृष्ठो के महाग्रन्थ 'डिवाइन लाइफ' मे किया है। पन्त जी का 'सौवर्ण' श्री अरविन्द का 'डिवाइन मैन'—मानव ईश्वर है।"[1]

श्री 'बच्चन' जी के उपर्युक्त उद्धरण से यह सिद्ध होता है कि कवि ने 'सौवर्ण' की सृष्टि एक निश्चित योजना के अन्तर्गत की है। इसमे मानवता के अग्रिम विकास 'मानव ईश्वर' की रूप-रेखा को स्पष्ट करने की कवि की अभीप्सा रही है।

इस रूपक का साराश इस प्रकार है·—

विश्व सस्कृति के मूल हिमाद्रि पर समग्र देवी-देवता एकत्र होते है। वे विश्व का निरीक्षण कर इस निष्कर्ष पर पहुचते है कि अवचेतन और अन्तश्चेतन समान रूप से सक्रिय है। उन्हे अनुभव होता है कि यह सक्रमण काल है और सृष्टि विकास का एक अध्याय और समाप्त हो गया है तथा अब उसके अन्तर्बाह्य मे नव्य सयोजन होने वाला है।

स्वर्दूत और स्वर्दूती धरातल पर उतर कर विकास की दो प्रणालियों को देखते है। प्रथम मे मानव के केवल अन्तर्विकास पर प्रकर्ष देते है और द्वितीय मे समप्रसार को महत्व देते है। ये दोनो प्रक्रियाये एकागी है, इसलिए अवाछनीय है, क्योकि वास्तव मे समन्वय मे ही विकास की समग्रता है। इसलिए 'सौवर्ण' का शुभागमन होता है, जो महत् समन्वय करने मे पूर्ण समर्थ है। वह क्रान्तिदृष्टा महा-मानव कदाचित् श्री अरविन्द ही है। कवि ने बडे ही आकर्षक ढग से इस कथानक को छन्द-बद्ध किया है। उदाहरण के लिए कुछ उद्धरण नीचे दिये जाते है। कवि ने नयी सस्कृति के जन्म को निम्न पंक्तियो मे देखा है—

"नया सास्कृतिक वृत्त उदित हो रहा क्षितिज मे
मानव जीवन मन का नव रूपान्तर करने मे,
नव सगति मे सजो परिस्थितियो की भू को।
नवल सन्तुलन भर बहिरतर के यथार्थ मे।"[2]

---

१ कवियों मे सौम्य सन्त, पृष्ठ १४६-१४७
२ 'सौवर्ण', पृ० १९

एकांगी विकास की जो ऊर्ध्वोन्मुखी है, उपलब्धि को कवि ने स्वागत नहीं किया,[1] वरन् उसकी निम्न शब्दों मे भर्त्सना की है :—

बौने सा अंगुष्ठ मात्र ? यह विडबना है
मानव मन की निश्चय, जो अति भाव प्रवण हो,
घर को सागर मे मज्जित करने के बदले
सागर को बाधना चाहता सीमित घट मे ।

* * *

"हाय, असम्भव को सम्भव करने को निष्फल,
चेष्टा मे वह इन्द्रजाल रचता जाता नव ।"[2]

इसी प्रकार कवि ने 'विज्ञान के समदिक्' प्रसार को भी एकागी मान कर उसका स्वागत नही किया :—

"वह देखो, समतल प्रसार फैला दृग सम्मुख
जहाँ क्षुब्ध जन-ग्राम, नगर, गृह, हर्म्य राजपथ,
मृण्मय प्रतिमानो-से बिखरे विगत युगो के,
उपचेतन के मानचित्र से अस्तव्यस्त जो ।

* * *

बहु देशो मे खडित एद्ध धरा का मानस
आज घृणित स्पर्धाओ, स्वार्थों से आतकित,
घनीभूत होती विनाश की भीषण छाया
जन भू के मुख पर विषाद नैराश्य से भरी ।"

और इसीलिए 'उद्वेलित' तथा 'उद्भ्रान्त' नागरिक'

"नव्य युगान्तर का आवाहन करते भू पर ।"[3]

इस एकागी सस्कृति-विकास के प्रतिकूल कवि ने श्री अरविन्द का जो मानव-ईश्वर हैं और समन्वयवादी सस्कृति के प्रसार के लिए अवतरित हुए है, इस प्रकार वर्णन किया है ।

"देखो, कौन खडा हिम अंचल मे वह तापस
आरोहण करता मन के दुर्गम शिखरो पर,

१ ऊर्ध्वोन्मुखी विकास-चेष्टा को 'सौवर्ण' पृष्ठ २१, २२ में देखिए ।

२ वही, पृ० २२

३ वही पृ० २२-२३

जीवन की मधु भूमि छोड़ कर कैसे मानव
यहा पहुंच पाया ? देवों के हित जो रक्षित ।

*   *   *

अन्न प्राण मन के प्रिय भुवनों को अतिक्रम कर
अधिमन के शिखरो पर जो अटका त्रिशंकु सा,
हाय, असंभव इच्छाओ की बलि का अज बन ।

*   *   *

कुंचित अलको पर उलझी सौन्दर्य रश्मिया
सौम्य कान्त मुख, भाव प्रतनु, कल्पना विहग वह
सप्रति भू जीवन मन से सूक्ष्म . , अतिचेतन ।
सृजन प्राण वह, निखिल असम्भव सम्भव उसको ।"[1]

कवि ने उस क्रान्तद्रष्टा ईश्वर मानव से श्री अरविन्द के समन्वयवादी सिद्धान्त की प्रतिष्ठा इस प्रकार करवाई है :—

"सत्य एक है—व्यक्ति समाज, अनेक एक, जड
चेतन, बाहर भीतर सब जिस पर अवलबित,
आवर्तन गति से विरोध जग के अनुप्राणित,
विश्व सचरण जीवन का वैषम्य सतुलित ।"[2]

*   *   *

मै हू वह सौवर्ण, लोक जीवन का प्रतिनिधि ।
नव मानव मे, नव जीवन गरिमा मे मडित ।
युग मानस का पद्म, खिला जो धरा पंक मे,
जड चेतन जिसमे सौन्दर्य सतुलित । . .
प्रथम एक, अविभक्त सत्य मे, फिर जड चेतन —
मे ही मूर्त प्रकाश, सूक्ष्म औ, स्थूल जगत् के
सतरण छायातप मे विकसित ! मर्त्य अमर मे,
जिसके अन्तर मे भविष्य के शत स्वर्णिम युग ।

*   *

---

१ सौवर्ण, पृ० ४८-४९

२ वही, ४९

विश्व समन्वय से मैं महत् समष्टि प्रेरणा,
सृजन प्रेरणा मूर्तिमान जीवन स्पन्दन मे।"[1]

इस प्रकार कवि ने श्री अरविन्द-दर्शन को 'सौवर्ण' मे बडी सफलता के साथ सगुफित किया है।

अतिमा

'अतिमा' के विज्ञापन मे कवि ने स्वीकार किया है कि इसमे प्रकृति सबधी रचनाओ के अतिरिक्त अधिकाशरूप मे ऐसी रचनाएं हैं जो 'ट्रान्सेन्डेन्टल' है। इन महिमा-सबधी रचनाओ की भूमिका निस्सदेह अरविन्द-दर्शन से सबध रखती है। कवि ने स्वय ही कहा है कि इसमे ऐसी रचनाए सग्रहीत है, जिनकी प्रेरणा युग जीवन के अनेक स्तरो को स्पर्श करती हुई सृजन चेतना के नवीन रूपको तथा प्रतीको मे मूर्त हुई है।[2]

कवि के 'अतिमा' के विज्ञापन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इसमे दो प्रकार की रचनाए संग्रहीत हैं:—

१—प्रकृति-सम्बन्धी,
२—सृजन-चेतना के नवीन रूपकों तथा प्रतीको मे मूर्त।

कवि के 'अधिकतर' शब्द-प्रयोग से यह प्रतीत होता है कि इसमे विषय को लेकर कुछ ऐसी भी कविताए है, जो उपर्युक्त विभाजन के अन्तर्गत नही आती, वे रचनाएं है 'नेहरू युग', 'अभिवादन', 'लोक गीत', 'सहस्थिति', 'पंचशील' आदि। किन्तु, इस स्थल पर एतद्विषयक और प्रकृति-सम्बन्धी रचनाओ का विवेचन अभीष्ट नही है। अस्तु, केवल अरविन्द-दर्शन से प्रभावित रचनाओ की ही चर्चा की जा रही है।

इस संग्रह के ४४ वें पृष्ठ पर संग्रहीत रचना का शीर्षक 'अतिमा' है। कवि ने अतिमा की व्याख्या अपने विज्ञापन मे इस प्रकार की है.—

"वह मन.स्थिति जो आज के भौतिक मानसिक, सांस्कृतिक परिवेश को अतिक्रम कर चेतना की नवीन क्षमता से अनुप्राणित हो।"

'अतिमा' शीर्षक रचना से इस व्याख्या को और स्पष्टता प्राप्त हुई है:—

"यह अतिमा
तन से जा बाहर

१ सौवर्ण, पृ० ५८-५९-६०
२ अतिमा, विज्ञापन

जग जीवन की रज लिपटा कर
उपचेतन के कर्दम मे धस,
घायल खोहो मे घुस हँस, हँस,
अधकार को छेड जगाती ।"[1]

'अतिमा' वह प्रकाश किरण है जो अधकार को छेड़ती है, वह शक्ति है जो भू जीवन को विकसित करती है। इससे सिद्ध होता है कि कवि ने 'अतिमा' को चेतना की ज्योति के रूप मे ग्रहण किया है। कवि ने इस रचना मे श्री अरविन्द के इस सिद्धान्त को स्पष्ट करने की चेष्टा की है कि चेतना की यह किरण, जड, 'अधकार' और अचेतन से चल कर अचेतन—अतिचेतन से परे ऊर्ध्वतम मे विकसित होने जा रही है। उसके चतुर्मुखी विकास के कितने रूप और स्थितिया हो सकती है, कहना असम्भव है। कवि ने उन विकास रूपो मे से कुछ को प्रतीको और रूपको के माध्यम से मूर्त करना चाहा है। 'अतिमा' मे सग्रहीत उन प्रतीक-रचनाओ के शीर्षक इस प्रकार है.—

१—कौए, बतखें, मेढक, प्रकाश, पतिंगे, छिपकलिया, केचुल, स्वर्णमृग, दीपक जलाना।

'कौए', 'बतखें' और 'मेढक' शीर्षक रचना मे कवि ने इन प्रतीको के माध्यम से चेतना के विभिन्न स्तरो को स्पष्ट करना चाहा है। कवि ने इस रचना की प्रतीकात्मकता को इस प्रकार स्वीकार किया है:—

"भू का उपचेतन आवाहन
उत्कठित करता रह रह मन,
कौन साध, किन श्रवणो के हित,
करती क्या गोपन सभाषण।"[2]

कवि का अभिमत है कि 'भू' की अर्थात् निम्न वृत्तियाँ ऊर्ध्वोन्मुखी चेष्टाओ मे सतत संलग्न है और एक दिन ऐसा आएगा जब वे विकास की अन्तिम सरणि को प्राप्त कर लेगी। 'कौए', 'बतखें' और 'मेढक' निम्न वृत्तियो के ही प्रतीक है जो ऊर्ध्व-चेतना का सस्पर्श पाकर रूपातरित हो गए है। प्रतीक-विधान का 'अतिमा' मे संग्रहीत रचनाओ मे यह सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। 'प्रकाश', 'पतिंगे', 'छिपकलिया' शीर्षक रचना की प्रतीकात्मकता के विषय मे कवि ने स्वय स्वीकार किया है:—

"पर प्रकाश प्रेमी पतंग या
छिपकलिया केवल प्रतीक भर,

---

१ अतिमा, पृ० ४४
२ अतिमा, पृ० ६०

ये प्रवृत्तिया भू मानव की,
इन्हे समझ लेना श्रेयस्कर।"[1]

और अग्रिम पक्तियों मे प्रतीक को इस प्रकार खोला है:—

"ये आत्मा, मन, देह रूप है,
साथ साथ जो जग मे रहते

* * *

तुच्छ से उच्च ज्योति तक
एक सृष्टि सोपान निरन्तर,
जटिल जगत, गति गूढ, मुक्ति चिति
तीनों सत्य व्याप्त जगदीश्वर।"[2]

इन पंक्तियों में श्री अरविन्द के इस मत को कि जगत्, जीव और ब्रह्म एक ही चेतना से सम्बद्ध है, अनुस्यूत कर दिया गया है। प्रकाश आत्मा का, पतिंगे मन का और छिपकलियाँ देह का प्रतीक है। प्रतीक-स्पष्टता के कारण कविता व्यग्यहीन होकर सतही स्तर की हो गई है। 'सोनजुही' शीर्षक रचना मे भी निम्न चेतना के रूपान्तर की व्याख्या की गई है। 'भुजगी' (जो निम्न-चेतना है) सोनजुही (ऊर्ध्व चेतना) में रूपान्तरित हो गई है —

"मूल स्थल धरती के भीतर,
खीच अचेतन का तम बाहर,
यह अपने अन्तर का प्रिय धन
शान्ति ध्वजा सा शुभ्र मणि सुमन
कपित मृदुल हथेली पर धर,
उठा क्षीण भुज वृत्त उच्चतर,
अर्पित करती, लो, प्रकाश को
निज अधरो के अमृत हास को,
प्राणों के स्वर्णिम हुलास को।"[3]

वाणी

'अतिमा' के पश्चात 'वाणी' का प्रकाशन हुआ। इस संग्रह का मूल स्वर सामाजिक है, कवि ने स्वय इसके विषय में लिखा है:—

---

१ अतिमा, पृष्ठ ६२
२ वही पृ० ६२
३ वही ५३

"व्यर्थ व्यक्ति मन का निशि पीडित
उन्मन गु जन,
व्यर्थ आत्म दीक्षित, युग कु ठित
जीवन दर्शन !
आज चाहिए सामाजिक चिंतन
जग को, सामूहिक जीवन
भू स्तर पर उन्नयन !"[1]

पर दर्शन-सम्बन्धी 'अतिमा' की ध्वनि 'वाणी' मे भी यत्र-तत्र प्राप्त होती है। 'विकास-क्रम' शीर्षक रचना (मत रोको, निर्मम मत रोको, जड की फिर चेतन बनने की गहन पिपासा), 'रूपान्तर' शीर्षक रचना मे (मानवता का होना भीतर से संयोजित), 'रूप देहि' शीर्षक कविता मे (शिक्षित न हो, लेना हो, सस्कृत), 'जय देहि' शीर्षक रचना मे (आत्मज भी भोगें जीवन सुख) तथा 'अग्नि-सन्देश' शीर्षक रचना की निम्न पक्तियो मे अरविन्द-दर्शन का आभास मिलता है:—

"भू जीवन को सयोजित कर
जगत धुरी को स्वस्थ कध दो
भूत क्रान्ति को बदल
श्रेयमय शान्ति गान मे—
महानाश को अभय दान मे
जीवन रति को प्रगति पथ दो,
यांत्रिक मति को हृदय-स्पद दो ।"[2]

इसके अतिरिक्त 'ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या' शीर्षक रचना मे भी शाकर मायावाद का खण्डन कर अरविन्द-दर्शन की प्रतिष्ठा की चेष्टा दृष्टिगोचर होती है:—

"जड से चेतन, जीवन से मन
जग से ईश्वर को वियुक्त कर,
जिस चिन्तक ने भी युग-दर्शन
दिया भ्रान्तिवश जन-मन दुस्तर,
किया अमगल उसने भू का
ऊर्ध्व सत्य का कर प्रतिपादन,
जड चेतन, जीवन मन आत्मा
एक अखड,अभेद संचरण "[3]

---

१ वाणी, प्रथम सस्करण
२ वही
३ वही

"अन्त: स्वर्णिम नवचेतन मे
आज प्रवृत्ति निवृत्ति समन्वित,
वही शुद्ध अंत: स्थित निश्चय
जो जन भू जीवन मे स्थित।"[1]

'आत्मिका' शीर्षक रचना मे जिसका उप शीर्षक है 'संस्मरण और जीवन-दर्शन' कवि ने अपने जीवन-दर्शन की व्याख्या की है। इसमे भी श्री अरविन्द-दर्शन को प्रधानता दी गई है।

कला और बूढ़ा चाँद

पत जी का अधुनातन प्रकाशित काव्य-सग्रह 'कला और बूढा चाँद' है। इसका प्रकाशन दिसम्बर सन् १९५९ ई० मे हुआ है। इसमे पत जी की सन् १९५८ ई० तक की कविताएं सग्रहीत है। 'कला और बूढ़ा चाँद' की रचनाये सहज स्फुरण से प्राप्त सत्यों पर आधारित है। इन स्फुरणो की अभिव्यंजना कवि ने प्रतीकों के माध्यम से की है, क्योकि भाषा भावाभिव्यक्ति मे अक्षम रही है। पत जी ने अपनी इस प्रकार की कविता के छन्दों के अभाव को नवीन विम्बो और प्रतीको की योजना से पूरा किया है। श्री अरविन्द के अनुसार 'सहज-स्फुरण' का वह धरातल जहाँ कवि भाषा के माध्यम से भावो को वाणी नही दे सकता, विज्ञानमय कोश का होता है। मन की साधना-यात्रा का यह स्तर अन्न, प्राण एवं मन के ऊपर होता है। अन्न, प्राण तथा मन के ऊपर अधिष्ठित भाव स्पंद को सासारिक अथवा प्रचलित भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त किया जा सकता है, क्योकि मन के इन स्तरो का क्षेत्र संसार से ही सम्बद्ध है। विज्ञानमय कोश की स्फुरणा को श्री अरविन्द ने सर्वश्रेष्ठ कविता के रूप मे स्वीकार किया है। वह उसे मन्त्र मानते है और मन्त्र को सर्वश्रेष्ठ कविता। उस अनुभूति को भाषा अभिव्यक्त नही कर सकती। इसलिए प्रतीकों और बिम्बों की भाषा का प्रयोग किया जाता है। अतः पन्त जी ने लिखा है:—

"बोध के
सर्वोच्च शिखर से
बोल रहा हूँ।"[2]
* * *
भाषा नही
भाव नही—
ओ अव्यक्त
तुम मे समा न जाऊं

---

१ वाणी, प्रथम संस्करण
२ कला और बूढ़ा चांद, पृ० १७९

आगे मौन ही,
अतल मौन
केवल
निश्चय मौन।"[1]

कवि ने उस 'निश्चल मौन' की अभिव्यक्ति के लिए इसीलिए शब्द और छन्द-बन्ध को स्वीकार नही किया, क्योकि वे अधिक बोलते है, बडे मुखर है:–

"शब्दो के कधो पर
छन्दो के बन्धो पर
नही आना चाहता !
वे बहुत बोलते हैं ।"[2]

कवि ने इसीलिए उस अनिर्वचनीय स्थिति की अभिव्यजना के लिए 'कला और बूढा चाँद' मे प्रतीको की भाषा अपनाई है। जैसा कि ऊपर कहा गया है, कवि का मानस उच्च धरातल पर स्थित होकर भी अरविन्द-दर्शन की गहरी अनुभूति मे डूब गया है। उस अनुभूति के कुछ उदाहरण नीचे दिये जा रहे है। सत्य की सबसे ऊची अनुभूति कैसी होती है, कवि की निम्न पक्तियो मे देखिये:—

"इन रजत नील ऊचाइयो पर
सब मूल्य सब विचार
खो गए।"[3]

* * *

यहाँ रूप रस गध-स्पर्श से परे
अवाक् ऊंचाइयों
असीम प्रसारो
अतल गहराइयों में
केवल
अगम शान्ति है !
अरूप लावण्य,
अकूल आनन्द,
प्रेम का
अभेद्य रहस्य।"[4]

---

१ कला और बूढ़ा चाँद, पृ० १५२
२ वही,
३ वही, पृ० १३१
४ वही, १३२

कवि के कहने का तात्पर्य यह है कि सत्य का यह शिखर इन्द्रियातीत है । उस 'अरूप लावण्य', का 'अकूल आनन्द' प्रेम के 'अभेद्य रहस्य' को किसी प्रकार अभिव्यक्त नही किया जा सकता । वह गू गे का गुड़ है ।

सृष्टि-विकास-क्रम मे 'नये मानव' का अरविन्द के अनुसार एक विलक्षण ही स्वरूप होगा । श्री अरविन्द ने उस मानव की स्थिति अतिमानव मे मानी है । पत जी ने 'कला और बूढा चाँद' की देन शीर्षक रचना मे उसके स्वरूप का वर्णन इस प्रकार किया है:—

"काल नाल पर खिला
नया मानव
देश धूलि मे सना नही !
* * *
एक है वह
अन्त· स्थित
वाह्य संतुलित
भविष्य मुखी
रश्मि पख
प्राण विहग
सूर्य कमल
* * *
अत. प्रबुद्ध,
वहि: शुद्ध,
पूर्व पश्चिम का नही,
काल की देन
अत्याधुनिक
अन्तर्विकसित
चैतन्य पुरुष,
ज्योति पद्म ।"[1]

श्री अरविन्द चेतना के अवरोहण पर विश्वास करते हैं । उनका कहना है कि ब्रह्म की शक्ति नीचे से ऊपर को जाती है जिसे उसका आरोहण कहते हैं तथा ऊपर से अवतरित भी होती है जिसे अवरोहण कहते है । उन्होने इस क्रिया को दोहरा सोपान कहा है । श्री पंत ने 'अवरोहण' शीर्षक रचना के अन्तर्गत उस 'शक्तिपात' के प्रभाव का वर्णन किया है:—

---

१ कला और बूढ़ा चाँद, पृ० १६४-१६५ ।

"मन के समस्त दुर्ग
यम नियम की दीवारें
टूट कर
छिन्न-भिन्न हो गईं !
तुम्हारे उन्मत्त शक्तिपात की
रति क्रीडा के लिए
मेरी कोमल तृणो की देह
लोट-पोट हो
बिछ बिछ जाती है
* * *
सौ-सौ अग्नि लपटों मे उठ
मेरी चेतना
सजग हो उठती है !
तुम्हारा विद्युत आनन्द
भाव प्रलय मचा कर
नयी सृष्टि करता है।"[1]

इस प्रकार 'कला और बूढा चांद' मे सग्रहीत अधिकाश कविताओ का स्वर 'अरविन्द-दर्शन' से विशेषतया प्रभावित है । इस संग्रह की अन्तिम रचना 'सिन्धु,-मथन' की कुछ पक्तिया उद्धृत करके इस प्रसग को समाप्त किया जा रहा है । इस कविता मे कवि ने श्री अरविन्द द्वारा समर्थित नूतन सृष्टि का आह्वान किया है और प्राचीन सभ्यता के नाश की कामना की है। इसकी महती आवश्यकता इसलिए है, क्योकि देश स्वतन्त्र हो गया है:—

"मथन कर,
आत्म मथन कर
ओ सागर,
ओ मानस
ओ स्वाधीन देश
अतर मथर कर
* *
ओ आत्म पराजित,
एक बार क्रुद्ध होकर

१ कला और बूढ़ा चाँद, पृ० १२४-१२५

अपनी आरीदार पूछ
समस्त बल से
धरती पर मार—
फटकार —
पुरानी केंचुल झाड ।
नया यौवन
तेरी प्रतीक्षा में खडा है ।
ओ गुप्त द्रोही,
रीढ के बल रेंगना छोड,
ऊर्ध्व मेरु बन !
नयी भूमिया निखर आई है,
अपनी झूठी मणि फेंक कर,
मुक्त नील तले,
स्वच्छ वायु मे विहार कर !"[1]

पत जी के उत्तरवर्ती काव्य के विवेचन से हम जिस निष्कर्ष पर पहुँचते है, उसकी तालिका निम्न प्रकार है —

(१) पत जी के काव्य मे चेतना के अवरोहण की झलक तो प्राप्त होती है, किन्तु उसके समग्र दर्शन उनके काव्य मे नहीं होते । इसका प्रमुख कारण कदाचित् साधना का अभाव रहा है ।

(२) श्री पत जी ने अतस्सगठन और वहिस्सगठन की बात अपनी रचनाओं के माध्मम से केवल बौद्धिक धरातल पर की है । मानसिक और आध्यात्मिक धरातल पर उनकी रचनाए अधिष्ठित नही हो सकी है। श्री अरविन्द की रचनाए उनकी आध्यात्मिक उपलब्धियो के कारण सब के मन-प्राणों का सस्पर्श करती है । श्री पंत की रचनाए अभी बौद्धिक धरातल से ऊपर अरविन्द के समान मानस के आध्यात्मिक स्तरो का संस्पर्श नही करती ।

---

१ कला और बूढ़ा चाँद, पृ० २०७-२०८

६

उत्तर छायावादी काव्य पर अरविन्द-दर्शन का प्रभाव

छायावाद युग मे ही हिन्दी कविता दो भागो मे विभक्त होती हुई दृष्टिगोचर होने लगी थी। ये दोनो प्रवृत्तियाँ छायावाद की मल प्रवृत्ति से सर्वथा भिन्न मौलिक रूप मे प्रल्लवित होती हुई दृष्टिगोचर हुई। छायावाद की मूल आध्यात्मिक तथा रहस्य-वादी प्रवृत्ति का इन काव्यधाराओ मे लेश मात्र भी परिलक्षित नही होता था। छायावाद से पृथक् इन काव्य-प्रवृत्तियो का प्रथम उन्मेष हमे सन् ३६ के पश्चात् दृष्टिगोचर होता है। इनमे से एक प्रवृत्ति मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से प्रभावित छायावाद की घोर अन्तर्मुखी प्रवृत्ति के प्रतिक्रिया स्वरूप अस्तित्व मे आयी। समीक्षको ने इस प्रवृत्ति का नामकरण 'प्रगतिवाद' किया। दूसरी काव्य प्रवृत्ति जो छायावाद के स्वस्थ सौन्दर्य और प्रेम की व्यजनाओ की स्थूल ध्वनि को पकड़ कर निराशा और यौन-विकृतियो के चित्रणो मे प्रवृत्त हुई, 'प्रयोगवाद' के नाम से हिन्दी काव्य मे अभिहित हुई। काव्य की इस प्रवृत्ति पर फ्रायड के यौनवाद और युग के मनोविश्लेषणवाद का विशेष प्रभाव परिलक्षित होता है। किन्तु, इन दोनो काव्य-प्रवृत्तियो से पृथक् एक अन्य काव्य-प्रवृत्ति भी छायावाद की मूल दार्शनिक और आध्यात्मिक प्रवृत्ति के भीतर से प्रस्फुटित हो रही थी, जिसका प्रभाव हमे विशेष रूप से सुमित्रानन्दन पत, विद्यावती 'कोकिल', आरसी प्रसाद सिंह और गोपाल दास 'नीरज' पर दृष्टिगोचर होता है। काव्य की यह प्रवृत्ति श्री अरविन्द-दर्शन से प्रभावित थी और उसमे मानव के अतीन्द्रिय मानस-स्तरो के सस्पर्श का उक्त कवियों के काव्य मे विशेष प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इस प्रवृत्ति के मूल विषय मानव के आभ्यतर और वाह्य पक्षो का संगठन तथा प्रभु को पूर्ण आत्म समर्पण के माध्यम से अपने लक्ष्य की प्राप्ति, एक ही चेतनतत्व को जड-चेतन से व्याप्त सिद्ध करने का प्रयास कर रहे हैं। कुछ रचनाओं मे कवियो ने श्री अरविन्द का स्तवन किया है। कुछ कवियो ने श्री अरविन्द की काव्य-प्रतिभा से प्रभावित होकर उनकी रचनाओं का अनुवाद भी किया, जिनमे 'नीरज' और 'कोकिल' जी प्रमुख हैं। इस अध्याय मे हम हिन्दी की इस अरविन्दवादी

प्रवृत्ति के विश्लेषण का प्रयास कर रहे है। श्री सुमित्रानन्दन पन्त पर पृथक् अध्याय मे ही विस्तार से प्रकाश डाला जा चुका है। अतएव इस अध्याय मे श्रीमती विद्यावती 'कोकिल', श्री आरसी प्रसाद सिंह, गोपालदास 'नीरज', श्री व्यौहार राजेन्द्र सिंह की मौलिक तथा अनूदित रचनाओ का ही विस्तृत आकलन प्रस्तुत किया जा रहा है।

(१) विद्यावती 'कोकिल' की रचनाएं और अरविन्द-दर्शन

सुहागिन (सन् १९५२)

'कोकिल' जी की जिस रचना मे सर्व प्रथम अरविन्द का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है, वह है उनका काव्य-सग्रह 'सुहागिन' जिसका प्रकाशन सन् १९५२ ई० मे हुआ था। उसके परिचय मे डा० धीरेन्द्र वर्मा ने लिखा है "वे न केवल भूमि पर चलती है और न केवल आकाश मे ही उडती हैं, बल्कि दोनो का सुखद सामजस्य उनकी काव्य-शली मे पाया जाता है।" 'सुहागिन' के आमुख मे एक स्थान पर डा० धीरेन्द्र वर्मा के उपर्युक्त अभिमत की स्वीकृति कोकिल जी ने इन शब्दों मे दी है— "इसी कर्दम मे और इन्ही काँटो मे फूल भी खिलते हैं।"[1] इसमे प्रकट होता है कि कवयित्री श्री अरविन्द के विकास-सिद्धान्त को स्वीकार करती है जिसका एक चरण जडतत्व पर रखा हुआ है और दूसरा अधिमानस की दिव्यता को उपलब्ध कर चुका है। श्री अरविन्द ने ईश्वरत्व की प्राप्ति के लिए पूर्ण समर्पण को सर्वाधिक प्रतिष्ठा प्रदान की है। 'कोकिल' जी के इन गीतो मे निःस्व समर्पण का जो अन्यतम स्वरूप प्राप्त होता है, वह प्रायः अन्यत्र दुर्लभ ही है। कदाचित इसी कारण अपने गीतों की प्रकृति समझकर उन्होने 'समर्पण के गीत' की सज्ञा दी है। 'सुहागिन' शीर्षक भी प्रतीकात्मक ही है। जिस प्रकार एक सौभाग्यवती नारी अपने पति को पूर्णतया समर्पित होकर उसे प्राप्त कर लेती है, ठीक उसी प्रकार आत्मा, परमात्मा के प्रति पूर्ण निवेदित होकर उसमे तन्मय हो जाता है, उसे प्राप्त कर लेता है। श्री अरविन्द के विवर्तन (इवोल्यूशन) का भी यही रहस्य है। जडता जिस सीमा तक अपने अहं को त्यागती हुई परम चेतन को निवेदित होती जाती है, उसी सीमा तक वह चैतन्यमय होती जाती है और पूर्ण अहं निरसन के पश्चात् उसे परम चेतन होना है।

'कोकिल' जी के प्रस्तुत सग्रह के गीतो मे इसी तथ्य का भावमय परिचय प्राप्त होता है। कवयित्री ने 'सुहागिन' के प्रथम गीत मे ही 'दीपक ज्योति को तन मे खोजने के माध्यम से' तथा 'नास्तिकता को भक्ति मे रूपान्तरित हो जाने के माध्यम से' चेतन के उसी विकास-क्रम की ओर ही सकेत किया है।[2] 'कोकिल' जी

---

१ सुहागिन, 'आमुख,' पृ० ५

२ तम मे दीपक ज्योति खो गई, नास्तिकता भी भक्ति हो गई। सुहागिन पृ० २

'वासना' को 'भक्ति' मे रूपान्तरित होना स्वीकार करती हैं। इससे सिद्ध होता है कि वे वासना के परिष्कार मे ही भक्ति की अवस्थिति मानती हैं। वास्तव मे वासना और भक्ति मे आस्था के रूप में एक ही चेतना परिव्याप्त है। वासना से जब स्वार्थमय अहं नष्ट हो जाता है तो वह शुद्ध चैतन्य रूप मे भक्ति के अतिरिक्त और कुछ नही है। अस्तु 'वासना' की पूर्ण आहुति अथवा समर्पण मे ही 'भक्ति' अथवा प्रेम का पुष्प खिलता है। कवयित्री ने विकास के इस तथ्य को इस प्रकार स्वीकार किया है –

"जडता भी गतिवान हुई जब
मिटने का वरदान मिल गया,
बनते-बनते प्रकृति करो से
उस दिन मेरा इष्ट बन गया,
क्या बतलाऊं नश्वरता मे
अब मेरी आसक्ति हो गई।"[1]

इस प्रकार 'कोकिल' जी श्री अरविन्द के समान इस दार्शनिक तथ्य को स्वीकार करती प्रतीत होती है कि जड-चेतन मे एक ही चैतन्य-तत्व अनुस्यूत है और जड तत्व क्रमश चेतन को निवेदित होता हुआ उसी का रूप ग्रहण करता चला जा रहा है।

श्री अरविन्द का मत है कि मानव क्रमशः आध्यात्मिक स्तरों को पार करता हुआ अपने लक्ष्य की ओर गतिवान है। अपनी सतत साधना के माध्यम से उसके जीवन मे इतिहास का नूतन पृष्ठ खुल गया है। उसकी जड़ता को चैतन्य मे रूपान्तरित होने मे देश काल की भी दूरी अपेक्षित नही रह गयी है। चेतना के जडता मे अवतरण को 'कोकिल' जी ने बडे ही भावमय रूप मे अनुभव किया है:—

"आज पाप को मानव की नव
करुणा का वरदान मिल गया,
आज पतन को जैसे अपना
सच्चा अभ्युत्थान मिल गया,
माँसल कर से स्वर्ग उतर कर
जीवन का अभ्यास बन गया।"[2]

'कोकिल' जी की उपर्युक्त पक्तियो मे भाव की गरिमा तो है, साधना की गहरायी नही। इन पक्तियो मे कवयित्री जैसे लौकिक जीवन को दिव्य बनाने का आयास कर

---

१ सुहागिन, पृ० ४
२ वही पृ० ७

रही हो, अभी लोक मे स्वर्ग सहज न हो पाया हो। किन्तु, उसके आध्यात्मिक जीवन का परिचय तथा चेतना-स्तरो पर उसके मानस का आरोहण शुद्ध साधना के माध्यम से निम्न पक्तियो मे रूपायित हुआ है, जहाँ उसका मन समग्र रूप से उस परम चेतन, चिर सौन्दर्य पर सहज रूप से निवेदित होता जा रहा है।

"जीव हीन आदर्शों की उस
प्रतिमा मे फिर जीवन आया,
इन मिटने वाले भावो ने
फिर मरु मे अमरत्व बहाया,
अब मिटना सौन्दर्य-उपासक
मेरे मन की प्यास बन गया।"[1]

साधना के माध्यम से जब मानव मन चेतना के स्तरो को पार करता हुआ आगे बढ़ता है तो उसे जड़ता-चेतना का पार्थक्य नष्ट होता हुआ सहज-चेतन का अधिष्ठान प्राप्त हो जाता है। चेतना जड़त्व को प्रोद्भासित करती हुई उसे अपना रूप प्रदान करती जाती है। उस स्थिति मे जो ससार अभी भार प्रतीत होता था, जैसे दिव्य जीवन की परिभाषा बन जाता है। साधना मय अनुभूति की इसी गहराई मे डूब-कर कवयित्री ने 'मुझको तेरी अस्ति छू गयी है' शीर्षक गीत लिखा है। उपर्युक्त भाव को अभिव्यक्त करने वाली इस रचना की निम्न पक्तियाँ दृष्टव्य है.—

"मुझको तेरी अस्ति छू गयी है
अब न भार से विथकित होती हूं,
अब न ताप से विगलित होती हू,
अब न शाप से विचलित होती हूं
जैसे सब स्वीकार बन गया है।"[2]

जिन कविताओ को पढ कर पाठक का मन मानस के उदात्त-स्तरो पर आरोहण करता सा प्रतीत हो, जिन्हें पढ कर कुछ देर तक के लिए ससार का सघर्षमय जीवन विस्मृत हो जाय, निश्चित रूप से वे रचनाएँ आध्यात्मिक है। साधना के ऊपरी सोपानो पर चढ़ कर कवि ने उन्हे लिखा है। कवयित्री कोकिल जी की निम्न पंक्तियों मे वही आध्यात्मिक अनुभूति अभिव्यक्त होती सी जान पडती है:—

"वह गंध मेरे मन मे बस गई रे।
इक बन जूही, इक बन बेला

---

१ सुहागिन, पृ० ८
२ वही, पृ० १०

अगणित गंधों का यह मेला
पाकर मुझको निपट अकेला
इन प्राणो को कस गई रे ।"[1]

वह गन्ध (चेतना) जब मानव-मन को सुगन्धित करती है, उसके जीवन मे नूतन वातायन उद्घाटित होते है । जीवन दिव्य हो जाता है ।

साधना के द्वारा जब मानव के अन्तस् मे चेतना उद्बुद्ध होती है तो उसे ऐसा प्रतीत होता है कि तम की जडिमा की ग्रन्थि खुल रही हो और उसका ससीम व्यक्तित्व असीमता मे रूपान्तरित होता जाता हो । 'कोकिल' जी ने आध्यात्मिक अनुभूति की इसी गहराई से निम्न पक्तिया लिखी है । इन पक्तियो मे कवयित्री 'मत्र की गरिमा तक पहुंचती हुई दृष्टिगोचर होती है:—

"बोल से तम ग्रन्थि जैसे खुल रही हो
स्पर्श से जैसे कि जड़िमा घुल रही हो
झनझनाए परिधि-तारों मे विमुक्त असीम ।"[2]

साधना के मध्य में साधक के समक्ष ऐसे क्षण आते हैं जब उसे सत्य का आलोक दृष्टि-गोचर होता है और फिर दिनो उसको वह आध्यात्मिक अनुभूति नही होती । इस लुका-छिपी मे भी एक विशेष प्रकार का आनन्द मिलता है । विरह के उन क्षणो की अनुभूति को 'कोकिल' जी ने निम्न पक्तियो मे बाधा है, जहा उनका असीम भी निस्सीम हो उठा है:—

"तनिक मिल कर बिछुड़ जाओ पास रह कर दूर
दिशि विदिश तब ढूंढ़ने को प्राण हों मजबूर
हो उठे निस्सीम मेरा भी अरे लघु-सीम ।"[3]

श्री अरविन्द का मत है कि जब जीव सर्वतोभावेन प्रभु को समर्पित हो जाता है तो वह उसे ग्रहण करने के लिए ऊपर से नीचे उतरता है । चेतना का यह अव-रोहण-आरोहण अनादि काल से चल रहा है और जीव की जडता चैतन्य का स्पर्श पाकर चैतन्य मे रूपान्तरित होती जा रही है । कवयित्री ने अपनी एतद्विषयक अनुभूति को निम्न पक्तियों मे अभिव्यक्त किया है:—

"जो न लघु-लघु बन निहुरते तुम्ही आज महान
तो मुझे मिलते कहा मेरे भला भगवान

---

१ सुहागिन, पृ० १२
२ वही, पृष्ठ १४
३ वही, पृष्ठ १५

अरे मेरे लघु ! तुम्हारा नही है कुछ पार
तुममे सब हुए साकार ।"[1]

साधना के द्वारा जब साधक अपने अन्तर मे प्रसुप्त चेतना को प्रबुद्ध करता है तो वह बाहर आकर विश्व को अपने आलिगन मे आबद्ध करने के लिए तडप उठती है। सान्त को अपनी अनन्तता का परिचय मिल जाने से फिर वह कैसे देशकाल की सीमाओ मे बन्द रह सकता है। कवयित्री ने अपनी इसी अनुभूति को अपनी "मै तीरथ करने आई" शीर्षक रचना मे रूपायित करने की चेष्टा की है:—

"मेरा सब कुछ छीन तपो ने
किया नही वैरागिन
मुझको मेरे तप साधन ने
दिन-दिन किया सुहागिन,
मेरे भीतर इक मूरत है
पड़ती नही दिखाई,
बाहर आने को जो प्रतिपल
रहती है अकुलाई,
उसको अवतारित करने को
मन्दिर-मन्दिर धाई ।"[2]

इन पक्तियो मे कवयित्री ने एक अन्य सत्य की ओर भी सकेत किया है, जो अरविन्द-दर्शन की प्रमुख स्थापनाओ मे से एक है। श्री अरविन्द शकराचार्य की भाति जगत् के निषेध पर विश्वास नही करते। शंकराचार्य ने तो जगत् को माया कह कर उसे मिथ्या कहा है।[3] किन्तु श्री अरविन्द उपनिषदो की इस स्थापना के अनुसार कि सभी कुछ ब्रह्म ही है,[4] जड-चेतन मे एक ही चेतना को अनुस्यूत मानते है। इसलिए यहाँ निषेध का प्रश्न ही नही उठता, इसीलिए 'कोकिल' जी ने 'सब कुछ' के माध्यम से 'अह' की ओर सकेत किया है जो चैतन्य को जड बनाए हुए है। साधना के द्वारा 'अह' के निरसन के पश्चात् ही साधक वास्तव मे धनी होता है। इसलिए कवयित्री 'वैरागिन' अर्थात् ससार मे मिथ्यात्व का आरोपण करने वाली न बनकर 'सुहागिन' अर्थात् सौभाग्यवती बनी है। सौभाग्यवती होने का अर्थ है चेतना-सम्पन्न बनना,

---

१ सुहागिन, पृष्ठ २१
२ वही, पृष्ठ २२
३ ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या
४ सर्वम् खल्विदं ब्रह्म

आध्यात्मिक बनना। यहाँ पर कवयित्री ने 'सुहागिन' का प्रयोग प्रतीक रूप मे किया है। अर्थात् जिस प्रकार नारी पति को अपना पूर्ण समर्पण कर पतिमय हो जाती है, उसका समग्र सुख-दुख अपना न होकर पति का बन जाता है, ठीक उसी प्रकार साधक भी अपने सारे 'अह' को प्रभु को निवेदित कर उसका हो जाता है, वही हो जाता है। कवयित्री की इन पक्तियो मे काव्य का वह रूप मूर्त हुआ है, जिसे श्री अरविन्द बुद्धि के ऊपर का काव्य (ओवर हेड पोयट्री) कहते है। आध्यात्मिक कविता का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण 'कोकिल' जी की 'अब घर नही रहा मन्दिर है' शीर्षक रचना कही जा सकती है। आध्यात्मिक अनुभूति का इतना अनुपम उदाहरण हिन्दी के आधुनिक काव्य मे सर्वथा विरल है। इस रचना मे कवयित्री ने जडता का चैतन्य मे रूपान्तर तथा चैतन्य की अनुभूति के साथ किस प्रकार द्वन्द्वो का नाश होता है, दर्शाया है। उस अनुभूति के दो चित्र इस प्रकार है जिनमे आध्यात्मिक (ओवर हेड पोयट्री) कविता का सुन्दर रूप निखरा है :

'अब घर नही रहा मन्दिर है।
ऐसा चढा सुहाग, सुहागिन
अब जोगिन बन आई,
आँखो मे रहती है प्रति पल
मूरत एक समाई,
तम प्रकाश दोनो मे एकसी
पडती मुझे दिखाई,
मै दोनो गगा यमुना मे
रहती सदा नहाई।"[1]

× × ×

"महायज्ञ रच कर अब मेरी
अग्नि-खगी चहकी है
स्वारथ-परमारथ स्वाहा कर
देने को बहकी है,
शान्त-स्निग्ध जीवन की ज्वाला
लहर-लहर लहकी है।"[2]

इस रचना में यह विशेष दृष्टव्य है कि श्री अरविन्द की भाँति कवयित्री भी जड़ चेतन में एक ही चैतन्य, तत्व को व्याप्त मानती है। कविता मे 'तमप्रकाश' के प्रतीक के माध्यम से 'जड़-चेतन' को अभिव्यक्त किया गया है। कवयित्री का मानस-धरातल अध्यात्म की उस ऊंचाई पर पहुँच गया है, जहा वह 'तम-प्रकाश', 'यमुना-गगा'

---

१ सुहागिन, पृष्ठ २४।
२ ,, ,, २५।

(जड-चेतन) को सहज रूप मे स्वीकार करने मे समर्थ है, जैसे उसके सामने द्वैत का परदा ही न रह गया हो।

"और मेरे पास क्या है"[1] शीर्षक रचना मे कवयित्री ने अह के पूर्ण निरसन और आत्म समर्पण की आध्यात्मिक अनुभूति की है। उसका मन निर्मल हो गया है और 'कल्पना का सपना', 'सौन्दर्य के रूप मे परिणत हो गया है और वह बराबर उसी सौन्दर्य को अभिनव ढग से 'सवारने' मे सतत व्यापृत है। कवयित्री अपना समग्र समर्पण उस विभु को करके आश्वस्त हो गयी है और वह इतनी दृढ सकल्प है कि किसी भी आतक और कठिनाई से होड लेने के लिये कटिबद्ध है।

जीव अनादि काल से नित्यानन्द की टोह मे अनेक प्रकार के प्रयास कर रहा है। किन्तु, उसका यह प्रयास बहिर्मुखी होने के कारण वह उस आनन्द से वंचित रहा है। वास्तव मे आनन्द की उपलब्धि प्रयास से नही वरन् प्रभु के अनुग्रह द्वारा होती है। उसका यह भटकना तभी बन्द होगा, जब प्रभु उसे अनुग्रहपूर्वक स्वीकार कर लेगे। उनकी यह स्वीकृति ही आनन्द की प्राप्ति भी होगी, क्योकि प्रभु ही तो वह शाश्वतानन्द है। इसी भाव की अभिव्यक्ति 'कोकिल' जी ने 'जो न मुझे तुम ही अपनाते' तथा 'जो तेरी छवि मे न अटकते'[2] शीर्षक रचनाओ के अन्तर्गत की है। प्रभु के अनुग्रह का बडा सुन्दर चित्रण कवयित्री ने 'उसी समय पावन तुम आए'[3] 'शीर्षक गीत के माध्यम से भी किया है। किन्तु इन सभी रचनाओ के अन्तर्गत कवयित्री का मानस अभी अपने 'अह' और प्रोद्भासित मानस की देहलीपर ही अधिष्ठित प्रतीत होता है। उसे उस उषा कालीन झुटपुटे मे चेतना की किरणे तो दृष्टिगोचर होती है, किन्तु फिर वह बौद्धिकता के स्तर पर वापस लौट आती है। फिर भी इन रचनाओ मे आध्यात्मिकता का प्रकाश प्रस्फुटित होता हुआ दृष्टिगोचर होता है। इससे यह प्रतीत होता है कि कवयित्री हिन्दी काव्य के अन्तर्गत एक ऐसी प्रवृत्ति को जन्म देने मे सलग्न है जो प्राय. छायावादी कवियो के अन्तर्गत भी दृष्टिगोचर नही होती।

'एक ही आधार मेरे एक ही आधार है'[4] रचना के अन्तर्गत कवयित्री ने उस अनन्य भावना की अवतारणा की है, जिसकी निष्ठा से द्वैत नष्ट हो जाता है और 'एक ही चेतना की 'ज्योति' सकल विश्व मे फैली हुई दृष्टिगोचर होती है। यद्यपि हम इस रचना को भी आध्यात्मिक धरातल की नही कह सकते, फिर भी कवयित्री का मानस लौकिक धरातल से पर्याप्त उठा हुआ है। उदाहरणार्थ निम्न पक्तियाँ दृष्टव्य है, जिनमे कवयित्री ने सुर, नर, पशु सभी मे एकरूपता देखी है :

---

१ सुहागिन, पृष्ठ, २६, २७, २८।

२ ,, ,, २९-३१।

३ ,, ,, ३४।

४ ,, ,, ४०।

"स्वर्ण-मन जिसमे समाने
को गगन उडता रहा,
मोहने को धूलि तन नव—
रग जिसे भरता रहा,
और अनजाने जडत्व
घृणा जिसे करता रहा,
मेरे सुर, नर, पशु का
एक ही प्रकार है।"[1]

मानव को जब चेतना तत्व की अनुभूति होती है तो उसे सारा जड चेतन चेतना की ज्वाला से प्रोद्भासित दृष्टिगत होने लगता है। एतद्विषयक 'सुहागिन' की अन्य रचनाओ से 'सखि अब रस बरसै मे भीजू'[2] मे आध्यात्मिक अनुभूति की मात्रा सर्वाधिक दृष्टिगोचर होती है। चेतना की सतत सरसता से मानो कवयित्री नहा उठी हो। इस रचना की भाव-तन्मयता पाठक के मन को भी चेतना के उस स्तर पर प्रतिष्ठित करती सी प्रतीत होती है जो 'अय पर.' के विभेद से सर्वथा पृथक् है। एकात्म भाव की अनुभूति की कुछ पक्तियाँ उद्धृत की जा रही है, जिनमे कवयित्री की तन्मयता और भाव विभोरता का सुन्दर परिचय प्राप्त होता है :

"उस वैरागी के विराग पर
ही मन आज ठगाया,
अनछूये स्पर्शो से तन
रहता सदा नहाया,
उस नटवर ने आज दीठि पर
क्या टोना करवाया,
जग लगता है बढी घटी सी
बस अपनी ही छाया,
अपने पर तो मोह बहुत है
अब किस पर मै खीझू।[3]"

उद्धृत पक्तियो मे तीसरी-चौथी पक्ति 'अनछूये स्पर्शो से तन, रहता सदा नहाया' मे कवयित्री का मानस ऐसे उच्च-स्तर पर पहुच गया है जिसे हम अतीन्द्रिय (मिस्टिक) कह सकते है। कवयित्री की ये पक्तियाँ श्री अरविन्द की इन पक्तियो की आध्यात्मिक अनुभूति की ऊँचाई को स्पर्श करती-सी प्रतीत होती है—

१ सुहागिन पृष्ठ, ४१।
२ ,, ,, ५७।
३ ,, ,, ५९।

"My breath runs in a subtle rhythmic stream.
It fills my members with a night divine;
I have drunk the infinite like a giant's wine."[1]

जब साधक प्रभु को पूर्णतया समर्पित हो जाता है तो उसका योग-क्षेम प्रभु स्वयं ही वहन करते है, उसके अन्तर्गत चैतन्य की धारा इस प्रकार व्याप्त हो जाती है कि जड-चेतन दोनो उसके सगे प्रतीत होते है। सृष्टि के अन्तर्गत कही भी विरोधी तत्व नही दृष्टिगोचर होता। मानस की इस अनुभूति का वर्णन कवयित्री ने इस प्रकार किया है:—

"मुझे चेत इतना था कहा
कि किसने मुझे पुकारा,
कोई शब्द कान मे पड़ कर
वही नाद झकारा
बेसुध सी अनन्त तारो की
बीन बनी इकतारा,
जड-चेतन के साथ हो
चला सग-सम्बन्ध हमारा,
एक पुलक मे पगी खडी थी
सारी सृष्टि पसीजी।"[2]

इसमे कोई सन्देह नही कि सारी उद्धृत पक्तियां आध्यात्मिक अनुभूति से सराबोर है, किन्तु अध्यात्म का सर्वोच्च-स्तर 'जड-चेतन के साथ हो चला सग-सम्बन्ध हमारा' पक्तियो के अन्तर्गत परिलक्षित होता है, क्योकि इन्ही पक्तियो मे अध्यात्म की वह चरम अनुभूति अकित हो सकी है, जिसमे जीव के समक्ष जड-चेतन का विभेद नही रह गया है। जड-चेतन की विभेद दृष्टि ही मानव-जीवन की सबसे बड़ी असन्तुलित दृष्टि है। इसी के द्वारा सभी विग्रहो को जन्म मिलता है। अन्य पंक्तियो मे केवल भावानन्द की ही अनुभूति दृष्टिगोचर होती है जिसे हम आध्यात्मिक कविता (ओवर हेड पोयट्री) तो कह सकते है; किन्तु उसमे ज्ञान की सतह छूने की सामर्थ्य न होने के कारण अध्यात्म की ऊंची स्थिति नही कह सकते।

"सखि यह कैसी छांह जुडावन"[3] तथा "सखि मैं जब से हुई विरानी"[4]

---

१ ट्रान्सफारमेशन पेज २९७, कलेक्टेड पोयेम्स एन्ड प्लेज-बाई श्री अरविन्दो, वाल्यूम, पबलिश्ड इन १९४२।

२ सुहागिन, पृष्ठ ६१

३ वही, पृष्ठ ६२

४ वही, पृष्ठ ६४

शीर्षक गीतो मे भी कवयित्री की आत्म-समर्पण की चेष्टा है। इनके अन्तर्गत भी आत्म-समर्पण के द्वारा चेतना-लाभ का अभिव्यजन हुआ है।

प्रभु के प्रति अनन्य हो जाने की मानसिक स्थिति का चित्रण कवयित्री ने 'सुहागिन तुझे अकेला क्या' शीर्षक रचना मे किया है। इसमे उसने यह दर्शाया है कि प्रभु के साथ अनन्य भाव होने पर साधक का हृदय विशाल हो जाता है और वह सर्वत्र अपने प्रभु का ही स्वरूप देखता है.—

"संध्या सा जिस प्रिय का चुम्बन
मन्द पवन सी जिसकी बाहे,
लाख-लाख मोती बिलगायें
किस दिन किस क्षण पास न आए
तू डूबी प्रिय मे तुझको यह
प्रतिबन्धो का मेला क्या ?"[1]

इस प्रकार 'सुहागिन' के काव्य-सग्रह से ही हमे 'कोकिल' जी की रचनाओ मे भी अरविन्द-दर्शन का प्रभाव दृष्टिगोचर होने लगता है। यद्यपि इस सग्रह की रचनाओ से उनकी आध्यात्मिक अनुभूति के 'झुट-पुटे' का ही पता चलता है, किन्तु जैसा कि ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है, उनकी कुछ ऐसी भी रचनाए इस सग्रह मे उपलब्ध है, जिनमे आध्यात्म का स्वर पर्याप्त उच्च धरातल पर है।

पुनर्मिलन (सन् १९५६ में प्रकाशित)

'कोकिल' जी की दूसरी कृति 'पुनर्मिलन' सन् १९५६ मे प्रकाशित हुई थी। इस कृति के नामकरण मे ही दर्शन की छाप दृष्टिगोचर होती है। 'काश्मीरी शैव-दर्शन' को प्रत्यभिज्ञा-दर्शन भी कहते हैं, जिसका अर्थ होता है पुन: अपने को पहिचानना। दूसरे शब्दो मे हम अपने को पुन: प्राप्त करते है, अपने को आत्मारूप मे अनुभव करते है। प्रत्यभिज्ञा का अर्थ वैयक्तिक (सबजेक्टिव) धरातल पर है, किन्तु 'पुनर्मिलन' की ध्वनि वस्तु-परक (आबजेक्टिव) है। अर्थात् पुन: (प्रभु से) मिलना। प्रथम मे केवली भाव अथवा अद्वैत-स्थिति अभिप्रेत है दूसरे मे जीव को परमात्मा की समीपता इष्ट प्रतीत होती है। इतना अर्थ वैषम्य होने पर भी प्रयास और आनन्द-भावना दोनो मे ऐक्य ही कहा जायगा। अत: 'कोकिल' जी के 'पुनर्मिलन' के द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि इसमे जीवात्मा की विरह-स्थिति के पश्चात् परमात्मा से पुनर्मिलन विषयक् रचनाए संग्रहीत है। 'कोकिल' जी ने इस काव्य-सग्रह के 'आमुख' मे मेरे उपर्युक्त विचारो को इस प्रकार स्वीकार किया है:—

"इस पुस्तिका के गीतों की चेतना उस परम तत्व के साथ मिलन के इतिहास

1 सुहागिन, पृष्ठ ८७

की ही एक अनहोनी घटना की पहली कहानी है। उससे कभी इस आत्मा का विलगाव हुआ होगा और तब से तो विलगाव की अनन्त परम्परा जुड़ती ही चली आई है। इन गीतों की अभीप्सा हमारे पीछे लौटने की या प्राणी के अपने घर पहुचने की एक क्रिया है।"[1] कोकिल जी के उपर्युक्त आमुखीय वक्तव्य की पक्तियो से यह प्रतीत होता है कि वे जीवात्मा को परमात्मा का अश मानती हैं और उस अश का समग्र मे मिल जाना ही वे जीवन की चरम उपलब्धि स्वीकार करती है। कोकिल जी के इस मन्तव्य मे तो 'पुनर्मिलन' मे प्रत्यभिज्ञा से अधिक नैकट्य हो जाता है। अन्तर केवल इतना है कि 'पुनर्मिलन' एक रस-भीनी काव्य-साधना की प्रक्रिया द्वारा अनुप्रेरित दृष्टिगोचर होता है और 'प्रत्यभिज्ञा' मे यौगिक-साधना की ध्वनि आती है। इस वैषम्य के बावजूद अनुभूति और उपलब्धि मे कोई अन्तर परिलक्षित नही होता। इसी दृष्टिकोण से 'पुनर्मिलन' की रचनाओ की नीचे विवेचना की जा रही है।

अनन्त काल से जीव उस शाश्वत अनन्द की खोज मे है, जिसकी उपलब्धि के पश्चात् कोई ईहा अवशिष्ट नही रह जाती। वह स्वय आनन्द स्वरूप हो जाता है। ससार की सासारिकता जीव की आनन्द विषयक चतुर्मुखी खोज का परिणाम है। किन्तु, जब तक उसकी दृष्टि बहिर्मुखी होकर उस आनन्द की खोज करती है, वह नही प्राप्त होता। क्योकि वाह्यानन्द तो आभ्यन्तर आनन्द का उच्छलन-मात्र है। इसी कारण उसे सासारिक सुखो मे आनन्द की वह उपलब्धि नही होती, यद्यपि आनन्द की ध्वनि प्रत्येक सांसारिक विग्रह मे आती है। 'कोकिल' जी ने इसी भाव की अभिव्यक्ति 'सही है मिला न तेरा द्वार' शीर्षक गीत के अन्तर्गत की है। सांसारिक सुखो की अतृप्ति की परिचारिका कवयित्री की निम्न पक्तिया दृष्टव्य है.—

"देखे छुये, सुने, सब सुख
पर किये न अंगीकार,
भोगे भोग बिताने को दिन
तिथि का था एतबार
मेरा समपूरन जीवन है शांत, स्निग्ध इनकार।"[2]

किन्तु, पथ के समग्र आवरणो (प्रलोभनो) के हट जाने पर उस परमानन्द, परम चेतना का उन्हे साक्षात्कार हो गया और उनके सभी 'इनकार', 'स्वीकार' बन गए। चेतना की उस लोकोत्तर ज्योति का सामना वह न कर सकी। अतएव, उन्होने उस

१ पुनर्मिलन, 'आमुख' पृष्ठ ५
२ वही, पृष्ठ २१, २२

परम ज्योति के समक्ष आत्म-समर्पण कर दिया। इस भाव की पक्तियों मे कवयित्री की चरम आध्यात्मिक अनुभूति चित्रित हुई है:—

"सजग चेतना हुई आज सब
तुम्हे देख साकार,
किन्तु दृष्टि मे नही समाता
यह विराट आकार,
मै न पकड पाऊ गी तुमको तुम्ही करो अब प्यार।"[1]

जब साधक को प्रभु अपनाते है तो उसकी मानसिक वृत्ति मे बिल्कुल परिवर्तन हो जाता है। ससार के समग्र सुख फीके पड जाते हैं। उसके समक्ष जैसे नये लोक का वातायन खुल जाता है। उसे एक दूरागत ध्वनि अपनी ओर आने का निमत्रण देती हुई प्रतीत होती है। साधक की यह मानसिक स्थिति इस बात की द्योतिका है कि अभी उसके समक्ष 'आनन्द' का 'चेतना' का धूमिल रूप ही है जिसमे अभी आकार स्पष्ट नही है। इस भाव को कवयित्री ने 'जैसे दूर कही जाना है' शीर्षक गीत मे स्पष्ट किया है.—

"जैसे दूर कही जाना है।
मुझे सुहाते नही वस्त्र ये
सुन्दर रत्नाभूषण,
फीके लगते पूर्ण चन्द्रमा
फीके लगते पूषण
कहिं उस पार मेरा मन-मानिक,
जैसे कि हेराना है।
जैसे दूर कही जाना है।"[2]

कवयित्री की निम्नलिखित पक्तियों में अतीन्द्रिय जगत् के वे पट उद्घाटित हुए है जहा उसे चेतना से साक्षात्कार हुआ है। पक्तियो के शब्द-शब्द से आध्यात्मिक गहराई प्रकट होती है:—

"रोम-रोम में जिह्वा डोली
तुम्हे देख अज्ञात्,
कोष-कोष में जगी कथाए
युगों-युगो की बात
कैसे उसके घाव दिखाऊ, पूछ रहे क्या हाल?"[3]

---

१ पुर्नमिलन, पृष्ठ २३
२ वही, पृ० २४
३ वही, पृ० ३०

इन पक्तियों की आध्यात्मिक अनुभूति श्री अरविन्द की इन पक्तियों की आध्यात्मिक अनुभूति के प्राय. समकक्ष पहुच गयी है:—

"My mind, my soul grow larger than all space;
Time founders in that vsetness glad and nude,
The body fabes, an outline, a dim trace,
A memory in the spirits solitude." [1]

श्री अरविन्द की पक्तियो मे यौगिक साधना से उपलब्ध सिद्धि की अभिव्यक्ति है, इस लिए उद्धृत पक्तियो मे एक दृष्टा की दृष्टि व्याप्त है और 'कोकिल' जी की पक्तियो मे उनका कवि प्रमुख है, साधक गौण। इसलिए उनकी अभिव्यक्ति मे भावना परक समर्पण व्याप गया है । साधक अथवा योगी की तन्मयता नही प्राप्त होती, एक भक्त की तीव्र अनुभूति ही मुखर हो सकी है, जिसमे वह अपने प्रभु से आप-बीती कह देने को आतुर है।

श्री अरविन्द-दर्शन जड़-चेतन में एक ही चैतन्य-तत्व को व्याप्त मानता है। श्रीमती 'कोकिल' जी ने भी उस प्रभाव को स्वीकार किया है। उनका कहना है कि संसार की यह स्थापना है कि तन जो जड़ता-पूर्ण है उसमे वह ज्योतिर्मय चैतन्य तत्व कैसे निवास कर सकता है ? किन्तु, मैं तो जड़-चेतन मे एक ही ज्योति को व्याप्त अनुभव करती हू । इस भाव की द्योतिका इन पक्तियो को देखिए:—

जग कहता है तन नश्वर है, तुम
कैसे इसके वासी ?
ये रहस्य अब तुम बिन हमसे !
कैसे जाय उघारे।
तन मे व्याकुल ज्योति फुहारे।
मोहन होहु न छिन इक न्यारे [2]

वही विराट् चित् हमारे चित्त मे भी निवास करता है। साधना धर्मी होने के कारण उसमे 'चुम्बकता' है और इसी कारण जैसे चित्त की ललक चित्त को प्राप्त करने की है, उसी प्रकार चित् भी चित्त का सस्पर्श करना चाहता है, करता भी है । श्री अरविन्द की इस दार्शनिक स्थापना का प्रभाव 'कोकिल' जी की इन पक्तियों मे दृष्टव्य है:—

चित ने चित को स्पर्श करि लियो
चुम्बकता के भाव,

---

१ अरविन्दो, लास्ट पोयेम्स, पेज २०

२ पुर्नमिलन, पृ० ३२

आदि-जननि की परम कोख को
कैसे मिटै प्रभाऊ ।"[1]

कि‍न्तु इन पक्तियो मे आध्यात्मिक अनुभूति की गहराई नही है । ऐसा लगता है कि बात ऊपर-ऊपर से कही गयी हो । इसका केवल बौद्धिक उपनयन ही है, इसलिये ये पक्तियाँ मानस के बौद्धिक धरातल का ही स्पर्श करती है ।

चैतन्य तत्व की अनुभूति के साथ मानस-मन के समग्र संस्कार नष्ट हो जाते है । उसको एक नूतन दृष्टि के साथ नवजीवन प्राप्त होता है । इस आध्यात्मिक अनुभूति की अवतारणा कवयित्री ने 'जलो अब मेरे कण कण जलो !' शीर्षक गीत के अन्तर्गत की है । इस अनुभूति की गहराई सर्वाधिक इन पक्तियो मे दृष्टिगोचर होती है.–

"मेरे तन के कोष-कोष मे,
नन्हे, सीमित तोष-तोष में,
गलो अब सब कुण्ठाओ गलो ।"[2]

अतीन्द्रिय जगत् की उस अनुभूति को जिसको प्राप्त करके द्वैत नष्ट हो जाता है और साधक अपने स्वरूप का परिचय प्राप्त करता है, कवयित्री ने बडी सतर्कता के साथ उस आध्यात्मिक भूमिका के दर्शन इन पक्तियो मे कराने की चेष्टा की है·—

"वहाँ नही कोई पूज्य, पुजारी
एक रंग इक रूप,
एकहि तन, इक प्राण बने सब
वहाँ कहाँ यह भीर ।"[3]

नि:सदेह इन पक्तियो का अनुभूति-धरातल आध्यात्मिकता के उस स्तर पर है जहाँ उसकी अतीन्द्रियता पर सन्देह नही किया जा सकता। इन्हे अतीन्द्रिय काव्य के प्रकृष्ट उदाहरण के रूप मे ग्रहण किया जा सकता है । इन पक्तियो की प्रतिध्वनि श्री अरविन्द की निम्न पक्तियो मे भी सुनी जा सकती है:—

"He is in me, round me, facing everywhere;
Self walled in ego to exclude His right,
I stand upon its boundaries and stare,
In to the frontiers of the Infinite."[4]

श्री अरविन्द की इन पक्तियो की आध्यात्मिक भूमि एक ऋषि (दृष्टा) की है, जहाँ पर खड़े होकर वे अपने चतुर्दिक अनन्त-सत्ता को देख रहे है । 'कोकिल' जी का

१ पुनर्मिलन, पृ० २५
२ वही, ,, ३६
३ वही, ,, ३८
४ अरविन्दो, लास्ट पोयेम्स,पेज नं० ३५

मानस-धरातल उस साधक का है जो अपनी सिद्धि को प्राप्त करके विभेद दृष्टि से मुक्त हो गया है। अध्यात्म की एक ही भूमि न होने पर भी दोनो मे आध्यात्मिक कविता का उत्कृष्ट रूप प्राप्त होता है।

जीवात्मा अनादि काल से परमानन्द (नित्यानन्द) की खोज मे है। आनन्दान्वेषण की इस यात्रा मे उसने ऐसा कुछ नही है जो न किया हो। किन्तु अभी तक उसे अपना चिर अभीष्ट आनन्द नही प्राप्त हो सका है। फिर भी वह अभी निराश नही है। अनेक प्रलोभनो प्रतिबन्धो को पार करता हुआ वह आगे बढता ही जाता है। क्योकि बिना उसकी उपलब्धि के उसे शान्ति नही मिल सकती। उसके बिना वह रह नही सकता। जीव अथवा साधक की इस मन: स्थिति का वर्णन कवयित्री ने 'तुमहि बिन रह न सको गोपाल'[1] शीर्षक गीत के अन्तर्गत किया है। इस गीत का मानस-धरातल बहुत उच्च नही है। क्योकि इसमे सघर्ष और प्रभु-समीप्य के प्रयास का ही विशेष रूप से उल्लेख किया गया है। कवयित्री के गीत का स्वर अभी एक यती (यत्न करने वाले, साधक) का ही है। अभी वह दृष्टा नही बन सका। इसलिए यद्यपि इस गीत मे ससार के मिथ्यात्व के माध्यम से प्रभु की अनन्त आनन्दमयी सत्ता (ज्योति-किरण) का धूमिल आभास कवयित्री को उपलब्ध होता हुआ प्रतीत होता है, किन्तु अभी उसका समग्र दर्शन नही कर पायी है। केवल उसकी उपलब्धि के लिए कृत-सकल्प ही हो सकी है। कवयित्री के 'मेरा प्यार हार क्या जाने'[2] 'मैं तुम्हे ही जानती हू'[3] शीर्षक गीतो मे अनन्त सत्ता की चरम अनुभूति का प्रयास दृष्टिगोचर होता है। "मैं तुम्हे ही जानती हू" शीर्षक गीत के अन्तर्गत कवयित्री ने इस सत्य का उद्‌घाटन किया है कि यदि कोई व्यक्ति दृढ सकल्प होकर अध्यात्म मार्ग पर चल देता है तो ईश्वर उसके ऊपर कृपालु होता है तथा उसे अन्तर्दृष्टि प्रदान करता है जिसके द्वारा उसे सहज ही परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान हो जाता है। एतद्विषयक आध्यात्मिक अनुभूति को कवयित्री ने निम्न पक्तियो मे अभिव्यक्त किया है—

"ज्ञानियो की दीठि जिस
पर पहुच कर अंध होती,
मानियों की राह जब निज
भीतियो से बन्द होती,
सहज अन्तर ज्ञान से मैं निज दिशा परिणामती हू।"[4]

---

१ पुनर्मिलन, पृ० ३९
२ ,, पृ० ४०
३ ,, ,, ४२
४ ,, ,, ४३

इन पक्तियो मे कवयित्री के उस मानस धरातल का अभिव्यजन हुआ है जिसे श्री अरविन्द 'इन्ट्यूशन' कहते है। मानस के इस धरातल को दिव्य-दृष्टि अथवा अन्तर्दृष्टि भी कहा जा सकता है। श्री अरविन्द ने अपने मानस-धरातल के वर्गीकरण मे इसे (इन्ट्यूशन को) तीसरा स्थान प्रदान किया है। श्री अरविन्द के आध्यात्मिक स्तर के अनुसार इस गीत का आध्यात्मिक स्तर बहुत ही ऊचा है।

'ऐसे परम विनोदी ख्याल'[1] शीर्षक गीत के विषय मे कवयित्री ने 'पुनर्मिलन' में एक पाद टिप्पणी दी है, "यह गीत सृष्टि के स्रष्टा पुरुष और प्रकृति की लीलात्मकता को उपस्थित करता है। 'लीला' शब्द का अर्थ बडा विचित्र है। 'शब्द कल्पद्रुम' मे इस शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ इस प्रकार दिया हुआ है—लीला, स्त्री (लयनमिति) ली+सम्पदादित्वात् विवम्। लिय लातीति (ला+कः।) केलि विलासः। श्रृङ्गार भाव चेष्टा। इति मेदनी। ले ४७।। खेला। इति विश्वः अर्थात् शब्द कल्पद्रुम के अनुसार लीला शब्द का अर्थ है, केलि, विलास, श्रृङ्गार, भाव, चेष्टा तथा खेला, जिसे क्रीडा भी कहा जा सकता है। किन्तु, लीला को साधारण जन की श्रृगार भावना, केलि-विलास अथवा क्रीडा के लिए ग्रहण नही किया जा सकता। प्रकृति-पुरुष की केलि, क्रीडा और श्रृङ्गारिक चेष्टाओ के लिए ही इस शब्द का प्रयोग किया गया है।[2] 'कोकिल' जी ने भी इसी अर्थ मे इसका प्रयोग किया है। प्रकृति-पुरुष के विलास का स्तर सासंरिक नही है वरन् इसका प्रयोग सर्वथा आध्यात्मिक स्तरों के लिए किया जाता है। लीला शब्द के साथ सहज ही रहस्य-भावना जुड जाती है जो स्वय ही अलौकिक होती है। कवयित्री के इस गीत का परिवेश अत्युच्च आध्यात्मिक भूमिका मे प्रतिष्ठित है। जड-चेतन मे सर्वत्र एक ही अभेद दृष्टि की प्रतिष्ठापिका निम्न पक्तियो को देखिए —

"युग युग रह कर साथ काज तो
सगे बने परजात,
जड़-चेतन, ये धरा गगन औ।
पावक पानी, वात,
तरह तरह के रागन मे भरि
फिर फिर कठ भेंटात।"[3]

चेतना के द्वारा उद्घाटित होने पर इन्द्रिया-भूति की प्रकृत वहिर्मुखी वृत्ति अन्तर्मुखी हो गयी है और जड-चेतन, पावक, पवन आदि कुछ नयी ही रागिनी अलापते से

---

१ पुनर्मिलन, पृष्ठ ४५
२ 'शब्द कल्पद्रुम' प्राचीन संस्करण, पृष्ठ २२४
३ पुनर्मिलन, पृष्ठ ४८

प्रतीत होते है। कवयित्री का यहा पर आध्यात्मिक अथवा दैवी जीवन की ओर संकेत है।

'जाना है उस पार हमे जाना है उस पार'[1] शीर्षक गीत मे कवयित्री ने अतीन्द्रिय-स्तरो की अनुभूति की चर्चा की है। इस रचना मे मानस-स्तरो की उस अनुभूति का वर्णन है जिसमे भौतिक और दैवी भूमिकाओ को एक ही ब्रह्म का स्वरूप स्वीकार किया गया है। एतद्‌विषयक निम्नलिखित पक्तियाँ दृष्टव्य है:—

"हरना है स्वर्ग का एकाकी अहकार,
हरना है भयाकुल धरा का भार,
जोड़ना है स्वर्ग से धरा का हमे तार।"[2]

किन्तु, यद्यपि इन पक्तियो मे अरविन्द-दर्शन के विकास-सिद्धान्त का चरम रूप वर्णित है, फिर भी इनमे आध्यात्मिक अनुभूति का रचमात्र भी प्राप्त नही होता। कवयित्री ने श्री अरविन्द-दर्शन को बौद्धिकता के आधार पर ही छन्द-बद्ध करने का प्रयास किया है, इसलिए इनमे बुद्धि के ऊपर अन्य आध्यात्मिक स्तरो को स्पर्श करने की क्षमता नही है। इस समग्र रचना का स्वर बौद्धिक ही है।

'अँखियाँ जनम सफल करि डारहु' तथा 'मैया अब मैं काह निहारौ'[3] शीर्षक गीतो के अन्तर्गत 'कोकिल' जी ने पूर्ण समर्पण तथा अनन्य भाव का द्योतन किया है। इन रचनाओं मे यह दिखाने का प्रयास है कि बिना-पूर्ण-समर्पण और अनन्यता के प्रभु की प्राप्ति नही हो सकती। जैसा कि ऊपर कहा गया है श्री अरविन्द का कहना है कि चेतनानुभूति के उच्च शिखरों पर पहुच कर साधक को नव्य जीवन की प्राप्ति होती है। शरीर वही रहता है किन्तु मानस-स्तर मे परिवर्तन अथवा रूपान्तर हो जाता है। इस अनुभूति का चित्र कवयित्री ने निम्न पक्तियो मे उपस्थित किया है:—

"मैया फिर से जीवन पायो।
नवल-प्राण सचरित भये औ,
तनहू नाहिं गवायो,
ओही तन मे सर्जित, ज्योतित,
रक्त मास दोहरायो।"[4]

---

१ पुनर्मिलन, पृ० ५१
२ वही, पृष्ठ ५२
३ वही, पृ० ५३-५५
४ वही,

"कुछ अनछूयो स्पर्श कियो,
कुछ अनदेखो दिखरायो,
आज धरा पर अनचेतो सो
लगत स्वर्ग नियरायो।"[1]

इस समग्र रचना मे कवयित्री ने मानस की अनुभूति के उस स्तर का वर्णन किया है, जिसे श्री अरविन्द ने अतिमानस (ओवर माइण्ड) की सज्ञा दी है। श्री अरविन्द के अनुसार मानस के उपर्युक्त स्तर पर जब मानव-मन अधिष्ठित हो जायेगा तो अभी तक की जागतिक अनुभूति मे पूर्ण रूपान्तर उपस्थित हो जायगा। तब मानव सारे द्वन्दों के अन्तर्गत एक ही चेतना-व्यापार को देख कर भ्रमित न होगा और न उसे सासारिक सुख-दुखो की ही अनुभूति होगी। वह सन्तत नित्यानन्द मे डूबा रहेगा। अब तक के ऐन्द्रिक व्यापार मे समूल परिवर्तन उपस्थित हो जायगा। उपर्युक्त पक्तियो मे कवयित्री का मानस-धरातल अत्युच्च आध्यात्मिक स्तर पर पहुच गया है।

'मोहन एकै मन अभिलास'[2] गीत का स्वर प्रार्थना का है जिसमे कवयित्री ने प्रभु से यह याचना की है कि वह उसे अपने प्रति अनन्य बने रहने की क्षमता प्रदान करे। 'यहा अब आकर करो निवास'[3] शीर्षक गीत का स्वर भी प्रार्थना का ही है, जिसमे आध्यात्मिक अनुभूति की सर्वोच्च स्थिति का वर्णन भी कवयित्री ने किया है। इसके लिए निम्न पक्तिया दृष्टव्य है:—

"अन्त हुई अब सकल प्रतीक्षा
अन्त हुई सब आस,
कितना स्थिर और अचंचल
है मेरा निश्वास।"[4]

'मोहन ! का टोना करवायो' शीर्षक गीत के अन्तर्गत भी चरम सत्य की उपलब्धि के पश्चात् जीवन मे रूपान्तर होने की बात कही गई है। मानस-स्तर की इस अनुभूति की परिचायिका कुछ पक्तिया इस प्रकार है —

"उलट गए सब नाम रूप
इक नवल जगत प्रकटायो,

---

१ पुनर्मिलन, पृष्ठ ५९
२ वही, पृष्ठ ६६
३ वही, पृष्ठ ६७
४ वही,

कहूं न टिकनहार मेरो मन,
कैसो सुथिर टिकायो ।"[1]

'अब तो यह तन ही मन्दिर है'[2] शीर्षक रचना मे भी कवयित्री ने अतिमानस की अनुभूति का—जिसमे जगत् की अनुभूति एक नूतन ही परिवेश मे होती है—अत्यन्त सुन्दर चित्र उपस्थित किया है। यह रचना भी आध्यात्मिक कविता (ओवर हेड पोयेट्री) का एक उत्कृष्ट उदाहरण है।

अहकार के पूर्ण निरसन का चित्र कवयित्री ने 'सखि ! मुझ मे अब क्या है ?'[3] शीर्षक रचना मे खीचा है। कवयित्री की अनुभूति मे भीगी हुई निम्न पक्तियाँ देखिए :—

"जिन सकेतो पर चलता है
जग का यह गति चक्र निराला,
पाप पुण्य और प्यार ईर्ष्या
उनको ही सब कुछ दे डाला,
भाव उसी के बोल बने अब
मुझे किसी से कहना क्या है ।"[4]

"जैसे मैं ही चली जा रही हू" शीर्षक रचना मे कवयित्री ने मन की अद्वैत-स्थिति का वर्णन उपस्थित किया है। निश्चय ही इस गीत मे कवयित्री का मानस अध्यात्म की अत्युच्च स्थिति पर पहुचा हुआ प्रतीत होता है। कवयित्री जगत् के यावत् पदार्थों मे सर्वत्र अपने स्वरूप को व्याप्त देख रही है। निम्न पक्तियो मे उसकी यह अनुभूति अपनी चरमावस्था मे पहुच गयी है :

तारो और चांद के अनुधावन मे,
और वायु के अच्युत-गति-धारन मे,
जैसे मै ही बढी जा रही हूं ।"[5]

---

१ पुनर्मिलन, पृष्ठ ७१
२ वही, पृष्ठ ७१
३ वही, पृष्ठ ९०
४ वही,
५ वही,९२

कवयित्री का सृष्टि के साथ यह तादात्म्य भाव श्री अरविन्द की इन पक्तियो से कितना प्रभावित प्रतीत होता है :

I have wrapped the wide world in my widerself
And time and space my spirits seeing are.
I am the god and demon, ghost and elf,
I am the wind's speed and the blasing star.
All nature is the nursbing of my care.
I am its struggle and the eternal rest;
The worlds joy thrilling runs through me, I bear
The sorrows of millions in my lonely brea t.
I have learned a close identity with all,
Yet am by nothing bound that I become,
Carrying in me the universe's cell
I mount to my imperishable home.
I pass beyond time and Life on measureless wings,
Yet still am one with born and unborn things.[1]

किन्तु जिस प्रकार श्री अरविन्द की पक्तियों मे उनकी चेतना विश्व के साथ एकता स्थापित करके भी अपनी वैयिक्तकता को अक्षुण्ण बनाए हुए है और विकसित होती हुई नव्य-स्तरो के आरोहण मे सलग्न है, ठीक उसी प्रकार कोकिल जी भी अपने चेतना-अस्तित्व को पृथक् रखते हुये चेतना के नूतन शिखरो पर चढ़ती चली जा रही हैं। आध्यात्मिक-अनुभूति के इस स्तर को विशिष्ट आध्यात्मिक स्तर कहा जा सकता है।

'मै चरणो की अध पुजारी' शीर्षक रचना मे कवयित्री ने साधना के अन्तरायों की चर्चा की है, जो अनेक प्रकार के प्रलोभनो के रूप मे साधक के मन को प्रलुब्ध करने की चेष्टा करते है और उसकी अभीष्ट-प्राप्ति मे बाधा उपस्थित करते है। कवयित्री ने इन बाधाओं का अनुभव इस प्रकार किया है :

''काम कुबेर खड़े है सम्मुख,
पर हिम की कैसी लाचारी,
नयनो ने उठ छवि न निहारी।
मैं चरणो की अंध पुजारी।

.

कीर्ति खड़ी थी भीड लगाकर,
मुझको बेसुध, बेकस पाकर
लौट गये हेती हितकारी।''[2]

---

१ अरविन्दो, लास्ट पोयेम्स, पेज ९।

२ पुनर्मिलन, पृष्ठ ९४।

साधक के साधना-मार्ग में जिन अन्तरायों का सर्वाधिक प्रभाव रहता है वे है काम, कंचन और कीर्ति अथवा यश। ससार से तनिक भी ऊपर होने की चेष्टा कीजिए कि ये प्रलोभन अनेक रूपो मे बाधा उपस्थित करने की चेष्टा करेंगे। कवयित्री ने कंचन को 'कुबेर' से अभिव्यक्त किया है और कामिनी को काम से तथा कीर्ति को उसी रूप मे चित्रित किया है। इस रचना का स्वर अत्युच्च अध्यात्म का नही है, वरन् इसमे साधक की साधना के प्रथम चरण का ही उल्लेख मिलता है, जहाँ उसके समक्ष सिद्धियो के रूप मे अनेक प्रलोभन आते है। 'मैं तो जैसे भूल गई थी नाम तुम्हारा'[1] शीर्षक गीत के अन्तर्गत भी कवयित्री ने साधना के अनेक अवरोधो की चर्चा की है। यहाँ पर भी उसका मानस-धरातल एक साधक का ही है।

'मेरा मन चरणो मे लाग रहा' गीत के अन्तर्गत कवयित्री ने उस आध्यात्मिक अनुभूति को चित्रित करने का प्रयास किया है, जहाँ पर जीवन के वास्तविक आनन्द का स्वरूप प्रकट होता है। सासारिक दु.खो की अनुभूति सुखो मे रूपान्तरित हो जाती है। कवयित्री का कहना है कि ऐसा इसलिए सभव होता है, क्योकि जड़-चेतन सबके पीछे एक ही सत्य है :

"सब के पीछे एक सत्य है
जो इन सबको साधे
जहाँ पूर्ण सब रूप, रग
अब मन उसमे पाग रहा।"[2]

कवयित्री की इन पक्तियो मे वास्तव मे जीवन का समग्र रूप चित्रित हुआ है। 'मुझ को मेरी मुक्ति मिल गई है'[3] शीर्षक गीत मे भी इसी आध्यात्मिक जीवन का चित्रण हुआ है।

'पुनर्मिलन' की रचनाओ का विषय की दृष्टि से निम्न प्रकार से समापन किया जा सकता है .

(१) आत्म-समर्पण के द्वारा अहंकार का नाश तथा अध्यात्म की उपलब्धि।
(२) साधना के द्वारा जड़-चेतन मे एक ही चेतना की अनुभूति।
(३) साधना मार्ग मे चलने पर अनेक अन्तरायों के विघ्न।

आरती

'कोकिल' जी का तीसरा काव्य-संग्रह श्री अरविन्द आश्रम द्वारा सन् १९६० ई० के दिसम्बर मास मे प्रकाशित 'आरती' है। इसकी विषय-वस्तु चार खण्डो में

---

१ पुनर्मिलन, पृष्ठ ६७।
२ ,, ,, ९६।
३ ,, ,, ९९।

विभक्त है। इस विभाजन के विषय मे 'दो शब्द' के अन्तर्गत कवयित्री ने लिखा है:- प्रथम खण्ड मे माता जी की पुस्तक के या तो अनुवाद हैं या भावनाओ की सीधी प्रतिछाया। दूसरे खण्ड में मेरा अन्त:स्फुरण, तीसरे मे उर्ध्वारोहण और चौथे मे एक शिशु जिज्ञासा का रूप ले लिया है।'[1] इन चारो खण्डो को क्रमशः इस प्रकार अभिहित किया गया है :

प्रथम खण्ड—मत्र गीत,
द्वितीय खण्ड—अन्त:स्फुरण,
तृतीय खण्ड—ऊर्ध्वारोहण,
चतुर्थ खण्ड—शिशु मथन

प्रथम खण्ड की रचनाए श्री अरविन्द आश्रम की माता जी की पुस्तक के अनुवाद, श्री अरविन्द की चार कविताओ का अनुवाद और इन्ही दोनो की 'भावनाओ की सीधी प्रति छाया' से प्रेरित कुछ अन्य रचनाए सगृहीत है। इसलिए इस खण्ड की रचनाओ के विषय मे अनूदित रचनाओ के स्तम्भ मे पृथक् रूप से ही विचार करना उचित जान पड़ता है। अस्तु, यहाँ तीन खण्डो की ही विवेचना की जा रही है।

अन्तः स्फुरण

'आरती' के इस खण्ड मे कवयित्री की अनुभूति १४ रचनाओ के माध्यम से साकार हुई है। इन रचनाओ मे कवयित्री के आध्यात्मिक जीवन के विभिन्न स्तर मूर्त हुए है। कही तो इनमे आध्यात्मिक जीवन का स्वरूप, कही दिव्य जीवन की तीव्रानुभूति, कही साधना के पथ पर चलने की उद्दाम भावना और अडिग निष्ठा, कही साधना के सातत्य के लिये मन को प्रबोधन और कही प्रभु के प्रति निस्त्र समर्पण की भावना का चित्रण हुआ है। इन सभी रचनाओ मे आध्यात्मिक आनन्द का महासागर तरगित होता दृष्टिगोचर होता है।

इस खण्ड के प्रथम गीत मे कवयित्री ने अपनी साधना के क्षणो की विशालता और महत्व पर प्रकाश डाला है। कवयित्री ने इस कविता के माध्यम से यह कहना चाहा है कि जब जीवन मे आध्यात्मिकता प्रविष्ट होती है तो एक अपूर्व और अद्भुत आनन्द की अनुभूति होती है। जीवन मे एक अननुभूत स्फूर्ति और साहस भर जाता है। जीवन दुर्वह नही प्रतीत होता है। जीवन के आध्यात्मिक होने पर जो उसमे रूपान्तर होता है, उसका चित्र कवयित्री की इन पक्तियो मे देखिये :

"अब ये नव तन, मन के अकुर सब आँधी पानी सह लेगे।
उनकी इच्छा, अभिलाषा ले मेरे अन्तर से विकसेंगे।
उनके अन्तर का स्पन्दन है।"[2]

---

१ आरती, पृष्ठ १०।
२ ,, पृ० ४९

आध्यात्मिक जीवन के लिए कवयित्री ने 'नव तन मन के अकुर' की सज्ञा दी है, जिसके द्वारा अब सासारिक विपत्तियाँ सहज रूप से सहन की जा सकती हैं। यहाँ पर 'आँधी पानी' जीवन के झझटो पर कठिनाइयो के प्रतीक है। इन पक्तियो से यह प्रतीत होता है कि कवयित्री का मानस-स्तर अध्यात्म की उस भूमिका का सस्पर्श करने लगा है, जिसमे जीवन की अखण्ड अनुभूति होती है। किन्तु अभी इस स्पर्श का धरातल इतना उच्च नही है कि द्वैत को समाप्त कर सका हो। विषयी विषय को अब भी पृथक् मानता है। उसे कठिन और ऋजु जीवन का विवेक है। इसमे आध्यात्मिक जीवन की प्रथम सीढी की ही अनुभूति का दिग्दर्शन प्राप्त होता है। जैसे यह आध्यात्मिक जीवन की भूमिका ही हो।

"मै जीवन के हृदय मे उठी कोई दिव्य पीर हू"[1], 'मै जडता की अंध गुफा मे उडती एक खगी हू'"[2] तथा "अब रुकने की बात नही है मैं बढती ही जाऊंगी"[3] शीर्षक रचनाओं मे कवयित्री ने आध्यात्मिक जीवन के प्रारम्भ की सूचना दी है। उसके समक्ष आध्यात्मिक साधना ने नूतन पट खोल दिए है। इन रचनाओ के अन्तर्गत कवयित्री की उस मन·स्थिति का चित्र अकित हुआ है जिसमें वह अपने 'स्व' के परिचय के साथ नूतन जीवन का आभास प्राप्त करने लगी है। उस जीवन के परिचय के साथ-साथ उसकी पूर्ण उपलब्धि के हेतु उसके मन मे दृढ संकल्प बढता गया है। वह प्रत्येक विघ्न-बाधा से सामना करने के लिए तत्पर है:

"रुक न सकूगा कितना भी अब लक्ष्य सरकता जाये
थक न सकूंगा बाधाओं के पर्वत भी आ जायें,
मैं प्रभु के तरकस से छुटने वाला एक तीर हूं।"[4]

उपर्युक्त पक्तियों मे कवयित्री के हृदय मे आध्यात्मिक जीवन की उपलब्धि के लिए जहा तडपन रूपायित हुई है, वही उसकी प्राप्ति के लिए दृढ सकल्प की भावना भी परिलक्षित होती है.

कवयित्री यो ही साधना मे नही रत हुई है। मन को जब तक कोई सुदृढ अधिष्ठान नही प्राप्त होता, वह विराम नही लेता। कवयित्री को ससार के समग्र विग्रहो के अन्तर्गत किसी 'अनदेखे' सत्य का झिलमिल आभास प्राप्त हुआ है। इसी लिए वह एक खगी की भाति क्षिप्त गति से उड़ती हुई उसकी उपलब्धि के लिए कटिबद्ध है:—

---

१ आरती पृ० ५१
२ ,, ,, ५२
३ ,, ,, ५३
४ ,, ,, ५१

"कोई परछाही है उसके पीछे भाग रही हू,
आकारो से अपनी धरी धरोहर माँग रही हू,
प्रेम मे किसी अनदेखे के मैं भरपूर पगी हू"[1]

और वह उस छायाभास के वास्तविक दर्शन जब तक न कर लेगी, उसकी प्राप्ति के लिए वह सतत साधनारत रहेगी, क्योकि वह उस अनदेखे और 'अपठित रहस्य' को मानव के लिए सुलभ कर देना चाहती है—

"गगा-यमुना का जल जैसे अविरत बढता जाता है,
तारक-दल जल बुझ लिख कोई नया सदेसा कहना है,
उस अपठित रहस्य को मानव के हित पठित बनाऊंगी।"[2]

अध्यात्म की चरम उपलब्धि पूर्ण 'अहं'-निरसन के द्वारा सम्भव होती है। कवयित्री को इसका पूर्ण परिचय है। इसीलिए वह अपने इष्ट से अपने प्रेम के बदले कुछ भी नही चाहती। अपने नि.स्व दान के द्वारा वह अपने 'अहम्' को गलाना चाहती है—

'प्रेम किया है उससे, जिससे बदले की कुछ चाह नही,
इस सर्वस्वदान मे है, कुछ रखने की परवाह नहीं,
निज प्रेमी के अन्तर मे अब सारा 'अहम्' गलाऊंगी।'[3]

उपर्युक्त तीनो रचनाओ के अन्तर्गत यद्यपि कवयित्री का मानस अध्यात्म के अत्युच्च स्तरो पर अधिष्ठित नही प्रतीत होता, फिर भी उसे इस ससार से परे किसी अन्य जगत की अनुभूति अवश्य हुई है, जिसको अधिष्ठान बना कर इस संसार का अस्तित्व है। इन रचनाओ मे कवयित्री की साधना का आभास मिलता है और इसी कारण इन्हे आध्यात्मिक कविता के अन्तर्गत लिया जा सकता है।

भौतिकता के ऊपर अधिक प्रकर्ष होने पर जीवन की एकागी दृष्टि हो गई है। इसी कारण जीवन का सन्तुलन बिगड गया है और मानव बार-बार जन्मता और मृत्यु को प्राप्त होता है। इसलिए स्वर्ग को धरा से पुन सयुक्त करने के लिए हमे फिर साधना के तार मिलाने पड़ेंगे। तभी 'भू' की 'स्वर्ग' मे 'सगाई' हो सकेगी—

'मन रे तार न टूटै भाई,
एक बार टूटा सुरपुर से धरा गई बिलगाई।
घूम रही तब से वह युग-युग भटकी औ भरमाई।"
* * *
गूंगो के मुख वाचा फूटै, पगु चढै ऊचाई,
जड़ मे फूटै गान स्वर्ग की भू में होय सगाई।"[4]

---

१ आरती पृ० ५२
२ ,, पृ० ५३
३ ,, पृ० ५४
४ ,, पृ० ५५

इन पक्तियो मे श्री अरविन्द की, जड-चेतन मे एक ही चैतन्य व्याप्त है, की दार्शनिक स्थापना अनुस्यूत प्रतीत होती है।

'हृदय गुफा से रस अमर झरे' तथा 'छिन वह सूरत होय न न्यारी' शीर्षक रचनाओ मे चरम सत्य की अनुभूति के पश्चात् जीवन रूपान्तर का वर्णन किया गया है। इन दोनो रचनाओ का स्वर बौद्धिकता से बहुत ऊँचा है।

'भीजै तन-मन प्राण और मेरा घर वर भीजै,
घर की भीति, भीति और डेहरी नीव-नीव सीझै
सधि-सधि के दबे मृतक उबरे।''[1]

* * *

''छिन वह सूरत होय न न्यारी
जिसके बिछुडे नीरस हो जाती यह दुनिया सारी,
जिसको पाकर तुच्छ वस्तु भी लगती है अति प्यारी।''[2]

उपर्युक्त दोनो उद्धरणो मे यह दर्शाया गया है कि बिना चैतन्यानुभूति के ससार मे व्याप्त जड़ता से मुक्ति नही प्राप्त हो सकती। चैतन्य से सयुक्त होकर प्रत्येक वस्तु अत्यन्त सुन्दर हो उठती है। चैतन्य की अनुभूति के साथ-साथ सारा जडत्व रूपान्तरित होकर सुन्दर चैतन्य बन जाता है। जीवन की एक सर्वथा नयी परिभाषा बन जाती है।

मन को जब उसका अभीष्ट प्राप्त हो जाता है तो फिर वह उसके प्रति पूर्णतया समर्पित हो जाता है। उससे फिर क्षण भर भी पृथक् नही होना चाहता। मन की इस स्थिति को भक्तो ने अनन्यता की सज्ञा दी है।[3] इस प्रकार की भावाभिव्यक्ति कवयित्री ने 'जाऊ किसके ओर निहोरे?' शीर्षक रचना के अन्तर्गत की है:

''शीश झुकाया जहाँ कही भी अन्त तुम्हे ही पाया,
तुम्ही बनो जब लक्ष्य चाहिए नही तुम्हारी छाया—
जिसे प्रेम कर राग रह गए सब कोरे के कोरे।[4]

उपर्युक्त पक्तियो की आध्यात्मिक तन्मयता अत्यत उच्च स्तर पर अधिष्ठित है। इन्हे पढकर मन स्वत: सासारिकता से बहुत ऊचा उठता हुआ प्रतीत होता है।

---

१ आरती पृ० ५६

२ ,, ,, ५७

३ मो अनन्य जाके, अस मति न टरै हनुमन्त।
मै सेवक सचराचर, रूप राशि भगवन्त॥
(रामचरित मानस)

४ आरती, पृ० ५८

साधक जब अपनी समग्र अहं वृत्ति प्रभु को समर्पित कर देता है तो उसकी सारी 'सुविधाए' नष्ट हो जाती है और उ चिरभिलषित आनन्द की अनुभूति होती है निः स्व त्याग की इस अनुभूति का चित्रण कवयित्री 'करो अब इस अन्तर मे वास' शीर्षक रचना के अतर्गत किया है:—

"बनो तुम ही अब गायक, गीत,
जाय अहमिका अवधि अब बीत,
ताल पर चले दौडती श्वास।"[1]

'मुरली बाज रही मधुवन मे' शीर्षक गीत के अन्तर्गत कवयित्री ने जीवात्मा को आच्छादित करने वाले चार आवरणो का वर्णन किया है। इन आवरणो से जीव को मुक्ति प्रभु की कृपा ही दिला सकती है। ये चार आवरण हैं, कनक, चन्दन, चादी और लौह। कचन के द्वार मे राधा बन्द है। राधा से कवयित्री का तात्पर्य चेतना-शक्ति से है। चन्दन के द्वार से अभिप्राय मानस से है जो कल्पना का अधिष्ठान है चाँदी, के द्वार से कवयित्री का अभिप्राय हृदय से है और लोहे का शरीर से। साधना के द्वारा ये चारो द्वार उद्घाटित होते है और साधक को पुन अपना अभिज्ञान होता है।

मुरली बाज रही मधुबन मे
एक गूंज गूंजी आत्मा मे द्वार खुले कचन के,
नाच रही राधा छबि देखी रूप-रग नन्दन मे।
एक गूज गूजी मानस मे द्वार खुले चन्दन के,
उडी जा रही सबल कल्पना जीवन लिए गगन मे।
एक गूज गूजी अन्तर मे द्वार खुले चाँदी के,
आनन्द बरसा मची खलबली जीवन के कन्दन मे।
एक गूञ्ज गूजी काया मे द्वार खुले लोहे के,
कठिन पर्त टूटी जडता की मधु उमगा जीवन मे।"[2]

इस गीत का आध्यात्मिक धरातल अनुभूति के परमोच्च स्तर पर अधिष्ठित है। कवयित्री ने मानो आत्मोपलब्धि के चारो सोपानो का प्रत्यक्ष अनुभव किया हो।

जब साधक को चेतना का अनुभव होता है तो उसका समग्र जीवन स्वर्गीय हो जाता है। उसका अहं मिट जाने से उसके सारे कर्म प्रभु के द्वारा सम्पादित होते प्रतीत होते हैं। इस अवस्था की अनुभूति का चित्रण कवयित्री ने 'एक इशारे पर अब मेरी गति चलती है' मे किया है। इस अनुभूति का एक उत्कृष्ट एवं भावमय चित्र निम्न पक्तियो मे अत्यन्त स्पष्ट उतरा है:

---

१ आरती, पृ० ६०
२ " " ६१

'शेष कहानी रही न जो थी मबका बनी तमाशा,
मुझमे मेरी बात नही है और न मेरी भाषा,
कोई बोल रहा है जैसे और कलम चलती है ।"[1]

श्री अरविन्द ने भी 'सावित्री' के प्रणयन मे अपनी इसी प्रकार की मनः स्थिति का अपने एक पत्र मे उल्लेख किया है जिसमे उनकी लेखनी बौद्धिकता से परे अनुभूति के धरातल पर स्वतः चालित रही है ।[2] श्री अरविन्द के इसी आध्यात्मिक धरातल का आभास 'कोकिल' जी की उपर्युक्त पक्तियो मे मिलता है। निश्चय ही मानस का यह स्तर एक ऋषि जैसा ही है।

'कब किसका ईश्वर मिल जाये' शीर्षक रचना मे कवयित्री ने सत्य-प्राप्ति के लिए सभी साधना-मार्गों की शक्ति को स्वीकार किया है। किसी भी मार्ग की उसने अवमानना नही की। दृष्टा का यही सदा से दृष्टिकोण रहा है । मार्ग की नही, उपलब्धि की महत्ता है। जिस साधना-मार्ग द्वारा साधक का 'अह' नष्ट हो जाय, वही उसके लिए सर्वोच्च मार्ग है —

'वेद न जाने शास्त्र न जाने
फिर भी प्राणी बढा जा रहा,
अरे मुक्ति का द्वार वही है
जिसका अहम् जहाँ चुक जाये ।"[3]

ऊर्ध्वारोहण

इस खण्ड मे सग्रहीत रचनाओ के शीर्षक से ही यह प्रतीत होता है कि इसमे इन्द्रियातीत मानस-स्तरो के ऊपर कवयित्री ने अनुभूति परक प्रकाश डाला है । 'मातृवन्दना'[4] तथा 'दुर्गारूप'[5] शीर्षक इस खण्ड की दो प्राथमिक रचनाओ में कवयित्री ने उस सर्व शक्तिमयी चेतना-शक्ति का स्तुति-गान किया है, जिसके अभाव मे समस्त चेतन अचेतन जगत् निर्वीर्य है। कवयित्री ने बडी भावमयी वाणी मे उसकी शक्ति का परिचय इस प्रकार दिया है।

"सर्व ज्ञानमयि, सर्व शक्तिमयि,
सर्व सुन्दरी, सर्व काममयि,
सर्व प्रेममयि हे !

---

१ आरती पृ० ६३
२ श्री अरविन्दो, सावित्री, पेज, ८२४ पब्लिश्ड इन १९५४।
३ आरती, पृ० ६५
४ ,, ,, ७१-७२
५ ,, ,, ७२-७३

स्वार्थ क्षुद्रता, अहम् दीनता, पग पग की बाधायें
ले मेरा सब कुछ ले ।"[1]
'सकल तमस अवरोध विदारिणि, दुर्गति वारिणि,
अज्ञता-अधोगति उद्धारिणि,
जड़ता की रूपान्तरकारिणि,
नीव ही बदल दे
विश्व शान्ति का, दिव्य क्रान्ति का, परम शान्ति का,
भारत को वर दे।"[2]

'जड़ता की रूपान्तर कारिणी' पक्ति मे कवयित्री के ऊपर श्री अरविन्द के विकास सिद्धान्त का सीधा प्रभाव परिलक्षित होता है, जिसमे चैतन्य को क्रमश· विवर्तित होते हुये मानस के अनेक ऊर्ध्व-स्तरो पर आरोहण करने का प्रतिपादन करते है ।

'मेरी दो ऊषाएँ' शीर्षक रचना मे कवयित्री ने दो अनुभव चित्र अकित किए है । प्रथम चित्र मे उस मनःस्थिति का वर्णन है जो जीवन की बहिर्मुखी दृष्टि से संभूत अनेक दु.खों-सघर्षों से आच्छन्न है और दूसरे मे उस परमानन्द-स्थिति का चित्रण है जिसकी प्राप्ति के पश्चात् अन्तर्वाह्य एक ही चैतन्य-धारा से आलोकित हो उठता है और जीवन मे किसी विरोध और दुख का लेश भी नही रह जाता । दोनो स्थितियो का एक-एक चित्र दिया जा रहा है :

'ऊपर से खतरो के बम मडराने लगे,
भय से तन मन के सब द्वार रुध जाने लगे,
पाहनवत काया और जडवत चेतना हुई,
मन की ज्यो आँख लगी, इन्द्रिय सब अचल हुई,
बाहर का बन्द हुआ, चित अतरस्थ हुआ ।"[3]

और दूसरा चित्र इस प्रकार है :

'वात हीन संध्या के नभ मे थिर तारक सम मेरा अस्तित्व सकल,
शान्त और निश्चल इक आभा से सजग हुआ
भीतर इक किरण छुटी जैसे इक द्वार खुला,
एक दूसरी ऊषा का आगमन हुआ,
जिसने भीतर बाहर सब कुछ को बदल दिया, सब कुछ मै जैसे
इक लय संगीत एक स्पन्दन और पुलक हुआ,

---

१ आरती, पृष्ठ ७२ ।
२ ,, ,, ७३ ।
३ ,, ,, ७५ ।

वस्तु वस्तु ने मानो अपना रहस्य खोल, अपना मन्तव्य बोल,
जादू सा फेर दिया,
मेरे मुख मे है अब सुषमा तुम्हारी जगी,
मेरे अन्तर मे प्रेम सरसी तुम्हारी बही,
मेरी दृष्टि मे है अब दृष्टि तुम्हारी ही खुली।"[1]

उद्धृत पक्तियो मे द्वितीय उषा-चित्र के द्वारा कवयित्री ने आध्यात्मिक चेतना स्तरो का बडा क्रमिक एव चित्रमय वर्णन उपस्थित किया है। वास्तव मे जब मानसिक वृत्ति अन्तर्मुखी होती है तो सारी भौतिकता मे एक क्रान्ति सी होती हुई दिखाई पडती है। भीतर बाहर एक अननुभूत प्रकाश-तरंग तरगायित हो उठती है और मन, प्राण एक अतीन्द्रिय सगीत की लय से स्पन्दित और पुलकित हो उठते है। उस स्थिति मे अपना अहं मिट जाता है और सभी कुछ सर्वत्र प्रभु के रूप मे ही दृष्टि-गोचर होने लगता है। किन्तु, यह स्थिति बिना बहिर्मुखी दृष्टि के अन्तर्मुखी दृष्टि मे समग्र परिवर्तन के नहीं हो सकती। इस रचना की भावमयी तथा अनुभूति परक पक्तियो मे कवयित्री का मानस-स्तर अध्यात्म की अत्युच्च भूमिका पर अधिष्ठित है। इस रचना को आध्यात्मिक कविता की सरणि मे ऊँचा स्थान दिया जा सकता है।

'और किसी को कहा पुकारा ?'[2] शीर्षक रचना मे कवयित्री ने यह दर्शाने का प्रयास किया है कि सृष्टि के प्रारम्भ से ही जीव 'आनन्द' की खोज मे है। किन्तु, चूंकि उसकी चेतना जागरूक नही है, इसलिये वह जगत् के विविध व्यापारों और विषयो मे उसका अन्वेषण करता हुआ अनेक जन्म व्यतीत करता चला आ रहा है। किन्तु, उस आनन्द की प्राप्ति उसे तभी होगी जब वह अपने भीतर की चेतना प्रबुद्ध करेगा और बाह्य सहायताओ से विमुख होगा इस रचना मे कवयित्री के मानस का धरातल अन्तर्मुखी होकर चेतना के ऊपरी स्तरो पर आरोहण करता हुआ दृष्टि-गोचर होता है। उसे आनन्द का अधिष्ठान मिल गया है।

'कौल निभाना होगा' शीर्षक रचना मे गीता मे भगवान कृष्ण की उस प्रतिज्ञा का प्रतिबिंब प्राप्त होता है, जिसमे उन्होने धर्म की क्षति के पश्चात् उसके सस्थापन के लिये अपने अवतार की बात की है।[3] किन्तु, यहाँ पर कवयित्री ने धर्म की सस्थापना अपने ढग से चाही है। वह केवल सज्जनो अथवा साधुओ की ही रक्षा नही चाहती, वरन् सारी मानवता को चैतन्यालोक से आलोकित करना चाहती है। क्योंकि उसने उस 'प्रतापी महिमा' को उसकी छाया जगत् के अन्तर्गत पहिचान लिया है

१ आरती, पृष्ठ ७५।

२ ,, ,, ७६।

३ यदा यदाहि धर्मस्य, ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानम् धर्मस्य सृजाम्यहं तदात्मनः। गीता।

"आना होगा तुम्हें उतर कर मानव-सस्कारों मे,
औ अन्तर की दरार के इन छिपे अहकारो मे,
तुम्हे स्वर्ग से मर्त्यलोक तक सेतु बनाना होगा।
परछाही का आकर्षण है इसकी एक निशानी,
कि यहाँ कोई बडी प्रतापी महिमा पडी लुकानी,
उस निखिला सुषमा का सब रहस्य प्रकटाना होगा"[1]

और ऐसा करके आप कोई अहसान नही करेंगे, वरन् इसे करने के लिए तो आप प्रतिज्ञाबद्ध ही है। ऐसा करके आप मात्र 'मानवता' के ऋण का 'भुगतान' करेंगे :

'हमे नही करने है तुमसे आगे और तगादे,
अरे, किए हैं युगों-युगो मे तुमने कितने वादे,
मानवता पर चढा हुआ सब ऋण भुगताना होगा।"[2]

इस रचना मे भी समग्र मानवता के ऊर्ध्वं मानस स्तरों पर आरोहण करने के लिए प्रभु से प्रार्थना की गयी है। सृष्टि के रूपान्तर अथवा विवर्तन श्री अरविन्द-दर्शन के ही अनुसार है।

'एक प्रश्न' शीर्षक रचना मे भी प्रभु की प्रतिज्ञा को पुन· स्मरण दिलाया गया है। इस रचना मे कवयित्री ने आदर्शो के सिद्धान्तो, कलाप्रसूत सौन्दर्य, ज्ञान-विज्ञान के निष्कर्षों, धार्मिक आस्थाओ को सत्यानुभूति के लिए बिल्कुल व्यर्थ सिद्ध किया है। उसका दृढमत है कि वह सत्यालोक जगत मे तभी उतरेगा, जब प्रभु स्वयं सिंहासन से उतर कर जगत् मे पदार्पण करेगे :

'कीचड भरी हरेक गली के कोने मे आँतर मे,
और पाप के वृक्षो की कोटर कोटर मे,
ऊँचे सिंहासन से उतर तुम्हे खुद आना होगा।
स्वय तुम्ही जब चरण धरोगे तब यह जगत् हिलेगा,
उत्तर दक्खिन पूरब पच्छिम तब सब साथ चलेगा,
पुण्य पाप का बेडा सग सग पार लगाना होगा।"[3]

इस रचना के माध्यम से कवयित्री को यह कहना अभीष्ट है कि चेतनालोक से समग्र जग तभी प्रोद्भासित हो सकता है, जब प्रभु स्वय उसे अपनावे। आदर्श, कल्पना ज्ञान-विज्ञान तथा धार्मिक मान्यताए किसी से यह कार्य नही सध सकेगा। इस कविता मे भी आत्म-समर्पण की ही भावना का सकेत प्राप्त होता है।

---

१ आरती, पृष्ठ ७९।
२ ,, ,, ७९।
३ ,, ,, ८१।

'अरी तमिस्रे' शीर्षक कविता मे कवयित्री ने जडता के अन्तर्गत चैतन्य को अन्तर्भूत देख लिया है। कवयित्री श्री अरविन्द के इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करती प्रतीत होती है कि जड-चेतन को पृथक् अनुभव करना चेतनानुभव की खण्ड दृष्टि है और इसी कारण जगत् मे द्वैत के आधार पर सुख-दुःख आदि द्वन्द्वो का अस्तित्व है। इन द्वन्द्वो के फलस्वरूप मानव-जीवन अत्यधिक सकटापन्न हो गया है। जगत् का वास्तविक ज्ञान हो जाने से वह अत्यन्त सुखमय हो जाता है।

'मन ने मेरे नीद से चिहुक कोई भेद पा लिया,
औ अन्तर के आकारो मे कोई रूप लख लिया,
मेरे जड तक से पिछला अलगाव मिट गया है।'[1]

सारी रचना मे इसी प्रकार चेतना की जागरूकता व्याप्त है।

'नव दम्पत्ति से' शीर्षक गीत के अन्तर्गत कवयित्री ने जीवात्मा को परमात्मा से परिणीत कर दिया है। वास्तव मे 'अस्मिता' के कारण जीव अपने स्वरूप का अभिज्ञान नही कर पाता। प्रभु जब इसे अपनाते है तभी वह इस कार्य मे सफल हो पाता है, तभी उसके जीवन का एक नया अध्याय प्रारम्भ होता है, उसके अन्तर्गत एक नयी जिन्दगी उभरती है। इसी भाव का द्योतन करना कवयित्री को अभीष्ट रहा है

"बाहो मे बाहे डाले तुम अपनी
निज विधि गति पर कदम बढाते जाओ
अमृत जात, हे अमृत पुत्र, प्रति विधि को
फिर अपनी अपने ढँग से पलटाओ
जीवन से नश्वरता का प्राचीन कलक मिटाओ।
जुग जुग दोनो जियो अमर हो जाओ।"[2]

इन पक्तियो के अन्तर्गत अरविन्द-दर्शन का यह भाव अभिव्यक्त हुआ है कि जड-चेतन के अन्तर्गत चेतना एक सी अनुस्यूत है। जड के अन्तर्गत वह चेतना तत्व बडी गहराई मे है और चेतन के अन्तर्गत वह ऊपरी स्तर पर है। जगत् का स्वरूप वृत्ताकार है। चेतन जड से मिलने को उत्सुक है। जब वृत्त पूरा हो जायगा तो जड भी चैतन्य-तत्व से परिव्याप्त हो जायगा और तभी नयी जिन्दगी का प्रारम्भ होगा जो अविनश्वर होगी। नव-दम्पत्ति, के प्रतीक द्वारा इसी नव-जीवन की बात कही गयी है, जो अति-मानसिक स्तर पर अधिष्ठित होगी।[3]

---

१ भारती, पृष्ठ ८४
२ ,, ,, ८७।
३ देखिए, भारती, फरवरी ६२—'श्री माँ के प्रवचन'

शिशु-मंथन

शिशु-मथन शीर्षक खण्ड की रचनाओ के लिए कवयित्री ने आरती के 'दो शब्द' मे लिखा है "चौथे खण्ड की कविताएं यथार्थ मे विद्यार्थियो के लिए लिखी गई थी . . । इनमे रस लेने के लिये पाठको की सरल हृदयता अपेक्षित है; क्योकि यह सब मा के विशाल प्रागण की शिशु क्रीड़ा ही है । इनमे रस लेने के लिए पाठक को भी शिशु बनना पडेगा ।"[1] किन्तु, इस खण्ड के अध्ययन के पश्चात् इस निष्कर्ष पर बड़ी सरलता से पहुचा जा सकता है कि उस परम पिता के हम सब शिशु ही है और हमारी उसके प्रति जिज्ञासा एक शिशु की ही जिज्ञासा हो सकती है । इन रचनासो मे श्री अरविन्द दर्शन के विकास-सिद्धान्त और आत्म-समर्पण को बडी सरलता के साथ रखा गया है ।

अति मानसिक जीवव में मानव इस सगत् मे ही स्वर्गिक आनन्द की अनुभूति कर सकेगा । इस जिन्दगी मे जड का चेतन के रूप मे रूपान्तर होना अवश्यभावी है। इस विचार-धारा का चित्रण 'प्रभु यह कैमी छाह जुडावन' शीर्षक रचना मे कवयित्री ने किया है:—

"मर्त्य भूमि मे बैठ अमरता की रे श्वासें भरना
जड़ पंछी का प्रकाश नभ मे उडना कितना पावन ?
इस सुख के बिन इक छिन भी नीरस है सारा जीवन
अकथनीय यह सुख मानव के हित कैसा ललचावन ?"

'मै प्रभु की भेजी पाती' रचना के अन्तर्गत 'चेतना' को प्रभु की 'पाती' के रूप मे स्वीकार किया गया है जो अध्यात्म और भौतिकता को एकसूत्रित करने मे समर्थ है ।

'यह ससार अनाथ नही है'[4] शीर्षक रचना मे जगत् मे प्रभु को व्याप्त बताया गया है । जगत के सारे वैविध्य मे उन्ही का रूप विवर्तित हुआ है । इस गीत के अन्तर्गत वेदान्त के 'सर्व खल्विद ब्रह्म' की अनुगूज व्याप्त है, जो श्री अरविन्द-दर्शन की भा प्राण है ।

'कोई ऐसा जतन बताए ?' शीर्षक गीत के अन्तर्गत सन्तुलित जीवन की जिज्ञासा की गयी है । मानव का जीवन सन्तुलित तभी हो सकता है जब वह भौतिक

---

१ आरती, पृष्ठ १०
२ वही, पृष्ठ ९१-९२
३ वही, पृष्ठ ९३
४ वही, पृ० ९४-९५

जीवन को भी अध्यात्मिक बना ले। सारे द्वन्द्वों को समान रूप से मानता हुआ आगे बढ़ता जाय। यह तभी हो सकता है जब मानव को अपना स्वरूप-ज्ञान हो जाय। कवयित्री ने बडी सरलता और भावमयता से इस सत्य का उद्घाटन इस प्रकार किया है :

'लग जाए सब प्रश्न जगत् के प्रश्न मनुज का जो लग जाये,
कोई आए आकर असली हमे हमारा रूप दिखाए।''[1]

'मुझको तेरी गोद चाहिए'[2] शीर्षक रचना मे प्रभु को जगत् मे व्याप्त देखने की कामना चित्रित की गयी है तथा 'बहुत हो गया, बहुत हो गया' शीर्षक रचना मे जागतिक द्वन्द्वो से मुक्त होने के लिए प्रभु से प्रार्थना और 'भइया राखी तुम्हे बुलाती'[3] इस सग्रह की अन्तिम रचना मे जगत् की अनेकता मे एकात्मक दृष्टि की कामना की गयी है। इन सभी रचनाओ का स्वर बौद्धिकता से बहुत ऊचा है। इसे अतीन्द्रिय कहा जा सकता है। 'कोकिल' जी के काव्य मे श्री अरविन्द के प्रभाव की तालिका निम्न प्रकार हो सकती है :

(१) चेतना का जड (मैटर) मे अवरोहण और जड़ का चैतन्य मे विवर्तन।
(२) आत्मार्पण की भावना।
(३) जड़ता का चैतन्य के पास पहुंचने का प्रयास।
(४) जड़ता और चैतन्य मे एक ही चैतन्य का अनुस्यूत होना।
(५) श्री अरविन्द की भाँति कोकिल जी भी आध्यात्मिक साधिका है, इसलिये उनके काव्य मे उपर्युक्त आध्यात्मिक उपलब्धियाँ मानस को उन ऊपर स्तरों पर चाहे थोड़ी ही देर के लिए सही, अधिष्ठित करने की क्षमता रखती हैं।

(२) श्री आरसी प्रसाद सिंह की रचनाओं में अरविन्द-दर्शन का प्रभाव

श्री आरसी प्रसाद सिंह मुख्यतया सौन्दर्य और उद्दाम यौवन के कवि रहे हैं। किन्तु, उनकी कुछ रचनाओ मे श्री अरविन्द-दर्शन का भी प्रभाव पडा है। इन रचनाओ मे मुख्य हैं उनका प्रबन्ध काव्य 'नन्ददास' और कुछ अन्य रचनाएँ जो समय-

---

१ आरती, पृष्ठ १०१
२ वही, पृष्ठ १०६
३ वही, पृष्ठ १०८

समय पर विभिन्न पत्र एव पत्रिकाओ मे प्रकाशित होती रही है। इन्ही का क्रमिक विवेचन उपस्थित किया जा रहा है।

नन्ददास—(रचनाकाल-प्रारम्भ १९४४—समाप्ति १९५१, प्रथम सस्करण १९५३)

इस काव्य के लिए कवि ने 'एक प्रतीक, काव्य और जीवन-दर्शन'[1] कहा है। इससे सिद्ध होता है कि कवि का एकमात्र उद्देश्य अष्टछाप के कृष्ण भक्त कवि नन्ददास के चरित्र के माध्यम से किसी अन्य सत्य की प्रतिष्ठा करना रहा है। प्रारम्भ मे 'अजलि' शीर्षक से कवि ने श्री अरविन्द का स्तवन किया है, जिसमे उसने उन्हे युग-दृष्टा ऋषि और अवतारी महापुरुष के रूप मे स्मरण किया है और साथ ही श्री अरविन्द-दर्शन की मूल दार्शनिक स्थापनाओ पर प्रकृष्ट प्रकाश डाला है। श्री अरविन्द-दर्शन की प्रतिष्ठापक कुछ पक्तिया इस प्रकार हैं:

"चन्द्रोदय हो गया, ज्वार लहरी सागर मे,
भू पर उतरा स्वर्ग, उठा भूतल अम्बर मे।
तुम हो, जिसमे युगल ध्रुवो के छोर मिले है,
पूर्व और पश्चिम के दोनों पुष्प खिले है।
एक साथ ही तुम मे सागर की गहराई,
और हिमालय की है नभ-चुम्बी ऊचाई।

* * *

आरोहण के साथ चाहते हो अवरोहण।
चाह रहे तुम स्थूल भूत का भी परिवर्तन।

* * *

इस अनेकता और विविधता मे भी छिपकर,
बैठा है जो एक, एक वह केवल, अक्षर।
वह तू ही है, है यहाँ, अभी है। यही बोध है।
यही तत्व द्रष्टाओ का सर्वोच्च शोध है।
जैसे मिट्टी उपादान है सभी घटो का,
और सूत्र है भाँति-भाँति के सुघड पटों का।

* * *

---

1 नन्द दास 'मुखपृष्ठ'

वैसे ही सद् वस्तु एक ही व्याप्त भुवन मे।
वही एक चैतन्य रमा है भू के कण-कण मे।
उसके लिए कौन है छोटा ? कौन बड़ा है ?
चिदानन्द घन अद्वितीय सर्वत्र भरा है।"

* * *

देख रहा हू प्रखर ज्योति जो उतर रही है
दिव्य स्वर्ग से, जो भूतल पर बिखर रही है
राशि-राशि सुमनो के दल पर, किसलय मुख पर।
ताल-ताल पर थिरक रही जो नवल छन्द भर।
वह प्रवेश कर चुकी बुद्धि की गुहा गहन में।
समा चुकी वह चिर प्रकाश की धारा मन मे।
वह कर चुकी प्राण के मण्डल को भी संयत।
अब वह जड़ के अन्तराल मे घुसी अपरिहृत।
वह जड़ जो चिर युग-युगान्त से रहा अचेतन।
रश्मि-स्पर्श से रहित, तिमिर से पूर्ण अपावन।
बरसेगी जड मे भी जीवन-ज्योतिर्धारा।
टूटेगी निश्चित निश्चेतन प्रस्तर-कारा।"[1]

उद्धृत पक्तियों मे कवि श्री आरसी प्रसाद सिह जा ने श्री अरविन्द की मुख्य दार्शनिक स्थापनाओ, जगत् का अतिमानस-स्तर पर संभाव्य रूपान्तर, चेतन-तत्व का आरोहण और अवरोहण,जड़-चेतन मे एक ही चेतन-तत्व की व्यापकता का सरस काव्यमय अभिव्यंजन किया है। इसी से सिद्ध होता है कि वे 'नन्ददास' प्रबन्ध काव्य को श्री अरविन्द-दर्शन के परिवेश मे ही रखना चाहते है। जिस प्रकार श्री अरविन्द ने अपने 'सावित्री' महाकाव्य को 'ए लीजेण्ड ऐण्ड सिम्बल' कहा है, उसी प्रकार श्री आरसी प्रसाद सिंह ने भी 'नन्ददास' को 'प्रतीक और जीवन-दर्शन' कहा है। इसका स्पष्टीकरण करते हुए उन्होने स्वयं प्रस्तावना मे लिखा है :

'नन्ददास' काव्य तो है ही, पर इसके साथ ही वह एक जीवन-दर्शन है और प्रतीक भी।'

ग्रंथ के नाम से सम्भवतः यह भ्रम उत्पन्न हो सकता है कि यह नन्ददास की जीवनी हो। पर वास्तव मे बात ऐसी नही है। इसमे सन्देह नही कि इस काव्य मे जिन नन्ददास का प्रसग आया है, वह वही नन्ददास हैं, जिनकी गणना अष्टछाप के

---

१ अंजलि (नन्ददास) प्रथम संस्करण

सुप्रसिद्ध कवियों में होती है, पर उनका जीवन वृत्तान्त लिखना न तो लेखक का उद्देश्य रहा है और न कर्त्तव्य ही।"[1] इससे सिद्ध होता है कि वे श्री अरविन्द-दर्शन और उनके प्रसिद्ध प्रतीक-महाकाव्य, 'सावित्री' से अतिशय प्रभावित रहे है और इन्ही के फलस्वरूप 'नन्ददास' का प्रणयन संभव हो सका है।

'नन्ददास' काव्य के नायक 'नन्ददास' का चरित्र कवि ने द्विविध चित्रित किया है। उनके चरित्र का अर्द्धभाग कवि की भावुकता, भोलेपन तथा अव्यावहारिकता का सीमान्त स्पर्श करता है, वही उनके अन्तर्गत कामिनी के प्रति आकर्षण की अतिशय दुर्बलता भी है। इसे उनके जीवन का जड-तत्व कहा जा सकता है। किन्तु, भावुकता, भोलेपन और अव्यावहारिकता तथा कामवृत्ति के अधिष्ठान का यदि अन्वेषण किया जाय तो एक ऐसे सत्य का पता चलता है जो शाश्वत आनन्द का वास्तविक रूप है तथा वह जागतिक सुखो से भिन्न अपनी सत्ता का परिचय देता है। 'भोलापन' तथा 'कामवृत्ति' से तो उनके भीतर अनुस्यूत आनन्द की इसी चैतन्य-सत्ता का परिचय मिलता है और अव्यावहारिकता से उनकी लोकातीत मानसिक-स्थिति का पता चलता है कि कवि ने नन्ददास के चरित्र के माध्यम से जड के अन्तर्गत व्याप्त इसी चैतन्य के ऊर्ध्वारोहण की कथा कही है।

'नन्ददास' के प्रथम दो अध्यायो मे कवि ने नन्ददास की पारिवारिक वितृष्णा के फलस्वरूप, गृहत्याग और वैराग्य, कृष्ण के प्रति आकर्षण के कारण वृन्दावन यात्रा, मार्ग मे किसी वणिक बधू के प्रति कामासक्ति, वणिक बधू की शिक्षा और उसके फलस्वरूप नन्ददास का स्वरूप-बोध और उनका पुनः वृन्दावन प्रस्थान वर्णित किया गया है। वास्तव मे यह जडता के भीतर चैतन्य की ऊर्ध्वोन्मुखी यात्रा का वर्णन ही है, जो कभी द्रुत गति से और कभी विविध अन्तरायो के कारण मद्धिम गति से प्रवहमान होती है। इसी अध्याय मे नन्ददास के वृन्दावन पर्यटन के समय उनकी मन. स्थिति का चित्रण उस मानस-स्तर का परिचय कराता है, जिसे श्री अरविन्द उच्चतर मनस् कहते है। तृतीय सर्ग में आचार्य विट्ठलनाथ जी की उपलब्धि को अतीन्द्रिय अथवा सबुद्धि की प्राप्ति कहा जा सकता है, जिसके द्वारा उन्हे आत्मोपलब्धि होती है और उनकी चेतना धीरे-धीरे मानस के ऊपरी स्तरो पर आरोहण करती हुई परात्पर सत्य का उद्घाटन कर लेती है। चेतना की इसी यात्रा का भावमय वर्णन कवि आरसी प्रसाद सिंह ने 'नन्ददास' के अन्तर्गत किया है।

प्रथम दो सर्गो मे 'नददास' के पारिवारिक सकट, कवि की भावुकता, कृष्ण-प्रेम तथा उनकी कामवृत्ति का चित्रण जिसमे उनकी चेतना कभी अत्यन्त जड़ावस्था में मद्धिम और कभी द्रुतगति से प्रभावित होती हुई दृष्टिगोचर होती है। यद्यपि इस स्थान पर ये वर्णन के मुख्य विषय नही बनाए जा रहे हैं, फिर भी उन स्थलों के अध्ययन

---

१ नन्ददास, प्रस्तावना, पृ० (ग)

से यह पता चलता है कि किस प्रकार जड़ता के भीतर अनुस्यूत चैतन्य तत्व ऊपरी स्तरो मे पहुचने के लिए मार्ग खोजने मे आकुल है। किन्तु वणिक बधू की शिक्षा का वह अश उद्धृत किया जा रहा है, जिसके फलस्वरूप उनके समक्ष चेतना के आरोपण के हेतु सदा के लिए उच्च मानस स्तर उन्मुक्त हो गए:—

"प्रेम एक स्वर्गीय सुमन है, जो खिलता है
नन्दन वन मे प्रेम नही जग मे मिलता है।
उस जग मे, जो काम क्रोध का क्रीडा-स्थल है,
सरिता-जल सा प्रेम नही होता चचल है।
दिव्य भाव है, प्रेम हिमाचल सा निश्चल है,
तुलसी-दल सा यह पवित्र है, गगा-जल है।

... ...

भ्रम वश नर ने नाम प्रेम का काम दिया है,
देकर मणि-माणिक्य मोल क्यो काँच लिया है।

.. ..

वह क्या पाता प्रेम, मृत्यु से जो डरता है?
वह क्या पाता प्रेम, स्वार्थ से जो लड़ता है!

.. ... .

प्रेम-मार्ग है उसका, निज शिर काट लिया है,
अपने हाथों से अपना बलिदान किया है।

...

क्षुद्र कीट से लेकर ब्रह्मा तक जो जगम,
रजकण से लेकर सुमेरु तक जो जड़ जगम
सब मे जब सम भाव, एक समता आती है.
आत्मा ही आत्मा जब सब मे दिखलाती है।
तब वह प्रेम उमडता है, जो है जग जीवन,
यही ज्ञान है और यही है ईश्वर-दर्शन।"[1]

इन पक्तियो का स्वर निश्चय ही भौतिकता से ऊपर आध्यात्मिक स्तर का है। मानस के उदात्त स्तरो को ये पक्तियाँ असन्दिग्ध रूप मे स्पर्श करती है। इनके अन्तर्गत निहित अध्यात्म के प्रभाव ने नन्ददास के मानस के समग्र निम्न स्तरो का रूपान्तर कर दिया। कवि ने उनके मानस को आवेष्टित किए हुए जड़-तत्व के चैतन्य मे विवर्तन के चित्र को अत्यन्त भाव पूर्ण ढंग से खीचा है:

१ नन्ददास पृ० ३६, ३७, ३९, प्रथम संस्करण

"नन्ददास के नयनों से बहती जल-धारा
गगा-यमुना की, धुलता है कल्मष सारा
जिसमे अन्तर्तम की, थर-थर कपित वाणी।
हृदय हुआ मानो गल-गल कर पानी-पानी।"[1]

विट्ठलनाथ के उपदेश के द्वारा कवि ने श्री अरविन्द के द्वारा प्रतिष्ठित दार्शनिक तत्व रक्खे है। श्री आरसी प्रसाद सिंह जी ने काम का ही रूपान्तर प्रेम (ईश्वर प्रेम) स्वीकार किया है। वास्तव मे प्रेम मे जब भोग वृत्ति जुड़ जाती है तो उसकी सज्ञा 'काम' हो जाती है। इस भोग-वृत्ति अथवा स्वार्थ के नष्ट हो जाने पर पुन: प्रेम अपने वास्तविक रूप मे प्रतिष्ठित हो जाता है। काम की स्थिति जिस सौन्दर्य को लेकर है उसका समग्र रूप ईश्वर मे ही उपलब्ध होता है। तभी श्री विट्ठलनाथ जी के मुख से कवि ने कहलाया है:

"बोले विट्ठलनाथ विहँस कर 'जीवन पाता
नारी से ही निखिल विश्व, वह महाशक्ति है,
और सिखाती वही पुरुष को ज्ञान-भक्ति है।
क्या थी वणिक बधू अति सुन्दर ?' कवि सकुचाया।
बोले विट्ठलनाथ- 'अरे ! मोहन की माया।
राधा के पदतल की केवल एक छटा थी,
पावस नभ की वह तो केवल एक घटा थी।

... ...

वही देख कर भूल गए जब तुम अपना मन
तो, सोचो तो ! तुम देखोगे हे कवि ! जिस क्षण
सुन्दरता का वह असीम लहराता सागर
क्या होगा तब हाल तुम्हारा ? क्या कामी नर-
उस पवित्र सौन्दर्य शिखा को पा सकता है ?
जिस ज्वाला मे कोटि काम जल जा सकता है,
उसे विषय क्या छू भी सकते, दी है शिक्षा
स्वयं राधिका ने लेकर यो प्रेम परीक्षा।"[2]

अगली पक्तियों में कवि ने श्री विट्ठलनाथ के माध्यम से नन्ददास के जड मन के चेतन मे रूपान्तरित होने का वर्णन किया है। 'काम' के स्थान पर प्रभु के निर्मल प्रेम को स्थापित करने का मन्तव्य कवि ने विट्ठल के इन वाक्यो द्वारा प्रकट किया है:—

---

1 नन्ददास, पृ० ३९
2 ,, ,, ४५-४६

"मुझको भी दो भेंट करा उस अनुपम छवि से।"

और इस प्रश्न पर नन्ददास अत्यन्त लज्जित हो जाता है, फिर भी श्री विट्ठल के आग्रह मे शिथिलता नही आती; क्योकि वे उसकी चित्त-शुद्धि करना चाहते है:—

'किन्तु, उन्हे तो चित्त शुद्ध कवि का करना था।
काम-स्थान पर राम रूप निर्मल धरना था।"[1]

अगली पक्तियो मे कवि ने विट्ठलनाथ द्वारा कवि नन्ददास के क्रमिक मानस-परिवर्तनो का वर्णन किया है। इस वर्णन से श्री अरविन्द के मानस-स्तरो का अनुक्रम समानता सा प्रतीत होता है। श्री विट्ठलनाथ ने किस सहज भाव से नन्ददास के मानस की मलिनता को दूर करके उसे सर्वथा आध्यात्मिक भूमिका के लिए निर्मल बना दिया, कवि ने बड़ी भावमयी आकर्षक शब्दावली के अन्तर्गत रखा है।[2] श्री विट्ठलनाथ ने कवि नन्ददास के अन्तर्गत अपने उपदेश के द्वारा तत्व की जो प्राणाहुति दी, उससे मन क्रमश. मानस के उच्च-स्तरो तक आरोहण करता चला गया। उनके उपदेश की कुछ पक्तिया जिनमे अरविन्द-दर्शन का प्रभाव परिलक्षित होता है, इस प्रकार है:—

'खण्ड-खण्ड मे जो नश्वर जो क्षणिक, विजड़ है।
वही अखण्ड रूप मे शाश्वत है, अक्षर है।
जैसे एक लहर सरिता की उठ-मिट जाती।
पर सरिता तो स्वयं निरन्तर बढ़ती जाती।

जड-चेतन की ग्रथि पड़ी है मूढ़ हृदय मे।
पर, ज्यो ही यह ग्रथि टूटती ज्ञानोदय मे।
पृथक् पृथक् क्या जड या चेतन रह जाते है?
जड भी ज्ञान-ज्योति मे चेतन बन जाते है।

निर्विशेष वह एक तत्व पहचान लिया है,
इस नानापन मे भी जिसने जान लिया है,
एक वही है सब मे, कोई नही अन्य है।
वही कृतार्थ, उसी का मानव-जन्म धन्य है।"[3]

---

१ नन्ददास पृ० ४५-४६
२ " पृ० ४६-५२
३ " " ५५-५६

जड-चेतन मे एक ही चैतन्य-तत्व को व्याप्त बताने वाली श्री अरविन्द की दार्शनिक मान्यता की प्रतिपादक उपर्युक्त पंक्तियो के अतिरिक्त कवि ने आत्म समर्पण द्वारा अहं के निरसन का भी बडा काव्यमय और तर्कपूर्ण वर्णन किया है:—

"पिता, पुत्र, प्रिय, सखा-बन्धु सबका कर तर्पण,
कृष्ण प्रीति के लिए स्वार्थ-परमार्थ समर्पण।"[1]

वास्तव मे बिना प्रभु के प्रति नि: स्व समर्पण के परमार्थ का वास्तविक सुख प्राप्त नही होता। द्वैत मे परमानन्द कहाँ। वस्तुत. बिना अहं के पूर्ण निरसन के जड चेतन मे एक ही आत्म-सत्ता की अनुभूति नही हो सकती। श्री विट्ठलनाथ जी के उपदेश से जब नन्ददास का मन निर्मल हो गया तो उन्होने उन्हे अन्तिम उपदेश इन शब्दो मे दिया:—

"उठो! उठो! अवलोको जीवन मे प्रभात को।
नव मे रगे हुए मधुमलय बात को।
गाओ कवि! वह अमर गीत, जो बिजली भर दे।
जो हताश, गति हीन, मृतक को जीवित कर दे।
स्वर्ग उतार यही ले आवे जो भूतल पर।
जो कर दे भगवत् मे मानव का रूपान्तर।"

..

वही एक आनन्द—सघन रस केवल रमता।
जैसे तिल मे तैल दूध मे घृत है रहता।
जब आत्मा के सिवा किसी का स्फुरण न आया,
तब समझो कुछ हाथ लगा है, कुछ है पाया।"[2]

इस प्रकार कवि आरसी प्रसाद सिंह जी ने 'नन्ददास' प्रतीक-काव्य के माध्यम से जड के चेतन मे रूपान्तरित होने के दार्शनिक सिद्धान्त का काव्यमय वर्णन किया है। किस प्रकार नन्ददास के मानस मे कामादि जड़ता के भाव रूपान्तरित होकर शुद्ध प्रेम बन गए और किस प्रकार उनका भौतिक जीवन दैवी बन गया, इसी का क्रमिक वर्णन 'नन्ददास' का कथानक है। कवि ने इसे प्रतीक माना है। वास्तव मे मानव ही नन्ददास है जिसे श्री अरविन्द के विकास-दर्शन के अनुसार अतिमानस के दैवी-स्तर पर अधिष्ठित होना है। इसी दैवी सृष्टि का निर्देश नन्ददास के प्रतीक-द्वारा किया गया है। श्री अरविन्द के दार्शनिक सिद्धान्तो का प्रतिपादक यह प्रथम खण्ड-काव्य है। अपनी भावमयता और इस दिशा मे प्राथमिक कथानक-काव्य होने के कारण श्री आरसी प्रसाद सिंह का नाम सदा स्मरण किया जायगा।

---

१ नन्ददास, पृ० ५९
२ " " ६२

श्री आरसी प्रसाद सिंह की अन्य रचनाओं पर श्री अरविन्द-दर्शन का प्रभाव

(विभिन्न पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशित)

'नन्ददास' खण्ड काव्य के अतिरिक्त श्री आरसी प्रसाद सिंह का कोई भी ऐसा ग्रन्थ उपलब्ध नही है, जिसमे श्री अरविन्द-दर्शन का प्रभाव हो। किन्तु, उनकी २२ रचनाए विभिन्न पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशित प्राप्त होती है, जिनमे श्री अरविन्द का प्रभाव किसी न किसी रूप मे कवि ने ग्रहण किया है। उन्ही के विश्लेषण द्वारा श्री अरविन्द-दर्शन के अन्वेषण की चेष्टा की जा रही है।

'देवोत्थान'[1] शीर्षक रचना मे कवि ने मानस मे सुषुप्त चेतना को उद्बुद्ध करने के लिए अपने 'स्व' को सम्बोधित किया है। इस रचना के माध्यम से कवि को यह कहना अभीष्ट रहा है कि मानव-तन के नष्ट होने के पूर्व ही आत्म-साक्षात्कार हो जाना चाहिए; क्योकि मानव-शरीर ही ऐसा माध्यम है, जिसमे चेतना मानस के उपरि स्तरो पर आरोहण करने मे सक्षम है। कवि ने इस भाव को कितने आकुल स्वर मे रखा है, दृष्टव्य है .

"तोड पिंजड़ा प्राण-पछी उड न जाए।
श्वास का पछी न पथ मे डगमगाये।
वेदना के अध पारावार-जल मे
प्रीति की नौका न सहसा जा समाये
सात्वना के शब्द भी दो मौन से है,
मोम भी पाषाण बनना चाहता है।

इन पंक्तियो द्वारा यह स्पष्ट होता है कि कवि का मानस स्थूल बौद्धिक जगत् से ऊपर मानस के आध्यात्मिक स्तरो का स्पर्श करता है। किन्तु अभी उसकी आकुलता बिलकुल नही छूटी है, जिससे उसका मानस-स्तर अध्यात्म की बहुत बडी ऊंचाई पर अधिष्ठित नही प्रतीत होता। फिर भी इसे बौद्धिकता से ऊपर आध्यात्मिक रचना कहा जा सकता है।

'महादान'[2] शीर्षक रचना का स्वर भी आध्यात्मिक है। इसमे कवि ने प्रभु की असीम कृपा का वर्णन किया है। 'महादान' से उसका तात्पर्य उस चैतन्य-तत्व से है जो सब मे व्याप्त होने पर भी सबको उसका आभास नही होता। प्रभु की असीम कृपा से जब जीव अपने स्वरूप को पहिचानता है तभी उसे यह प्रतीत होता है कि

---

१ पाटल, पटना, जुलाई, ५४

२ मध्य प्रदेश-सन्देश, १७ दिसम्बर, ६०

वह विभु से पृथक् नही है। कवि ने उस चेतनानुभूति का वर्णन इस प्रकार कियाहै :—

"मैने एक किरण मागी थी,
तूने तो दिन मान दे दिया।
चका चौध से भरी चमक का
जादू तडित समान दे दिया।
मेरे नयन सहेगे कैसे
यह अमिताभा, ऐसी ज्वाला ?
मरु माया की यह मरीचिका,
वह्नि-पर्व की यह बरमाला।"

इस पक्तियो मे सत्यानुभूति का स्तर बहुत ऊंचा है। इस रचना मे कवि का मन श्री अरविन्द द्वारा वर्णित मानस-स्तरो मे से प्रोद्भासित मनस् पर अधिष्ठित प्रतीत होता है, जहा पर वह चेतन के जाज्वल्यमान स्वरूप को देख स्तभित और चकाचौंध हो गया है।

'सुनहली घाटी की पुकार'[1] शीर्षक रचना मे कवि ने श्री अरविन्द के विकास-सिद्धान्त के दर्शन को रूपायित करने की चेष्टा की है, जिसके अनुसार सृष्टि के अन्तर्गत व्याप्त चेतना क्रमश सृष्टि का रूपान्तर करती हुई मानव तक पहुची है। अब मानव ही दिव्य पुरुष बनेगा।

कवि ने अभी तक की समग्र आध्यात्मिक आस्थाओ को 'पुराना' कहा है और 'चेतना' के अवरोहण का इस प्रकार स्वागत किया है :

'देवता नूतन उतरते आ रहे है
स्वर्ग के सोपान से,
अमरावती-प्रासाद से,
नवमानवो के बीच विचरण के लिए
जैसे उदयगिरि-भाल से प्राची-शिखर के
कनक प्रोज्वल रश्मियाँ
नूतन प्रभाती राग के शत-शत स्वरों मे
फूट पडने को विकल है
मौन के कज्जल जलधि का मर्म भेदन कर।

---

१ आजकल, जून, ६०

प्रेम का परिवेश लेकर,
दो उन्हे सहयोग अपना
जो अमरता के निवासी,
ताकि वे इस धूल के लघु पात्र को
नव स्वप्न के अनुरूप जीवन दे सकें।"

'हम तमिस्रा के पथिक'[1] शीर्षक रचना मे कवि ने फिर मानवत्व के ऊपर देवत्व की कल्पना को है, जो श्री अरविन्द के अनुसार सृष्टि-विकास का अग्रिम चरण है। कवि ने अभी तक की सृष्टि को दैवी सृष्टि की भूमिका के रूप मे स्वीकार किया है:—

हम तमिस्रा के पथिक
गुमनाम चोरो, दस्यु,
हत्याकारियो के वन्य बर्बर
क्रूर हिसक सगठित,
नर रक्त जीवो से
भयावह घाटियो मे भेजे गए है,
कि ज्योति के अवतरण की
जो एक पहली भूमिका है,
वह सफल होकर रहे।

जब जीवन मे 'दिव्य-प्रेम की ज्योति' अवतरित होती है तो समग्र जीवन मे एक हलचल मच जाती है। उस प्रेम की ज्योति के द्वारा अभी तक के जीवन मे रूपान्तर उपस्थित होता है। वासना, शुद्ध प्रेम मे परिवर्तित हो जाती है। 'दिव्य-प्रेम-ज्योति' के द्वारा जीवन-रूपान्तर का वर्णन कवि ने 'दिव्य-प्रेम'[2] शीर्षक रचना मे किया है। रूपान्तर का एक चित्र दिया जा रहा है.—

"रूधिर मास का लोभी मानव
अब तक जो अकुलाता था,
क्षुधित सिह-सा गर्जन कर नख—
कठोर चलाता था,
दर्प-सर्पिणी जो अन्तर मे
गरल अशेष उगलती,
और मोह का व्याघ्र भयानक

---

१ आजकल जनवरी, ५९
२ साहित्यकार, नवम्बर-दिसम्बर, ५७

विष का बाण चलाता था,
शान्त हुआ शीतल-हिम-शारद—
ज्योत्स्ना मे अवगाहन कर।
यौवन-की दानानल-ज्वाला
मधु-श्री बन मुस्काती है।
जब जीवन मे दिव्य-प्रेम की
ज्योति उतर कर आती है।"

चेतना-तत्व के हृदय मे जागृत होने पर जीवन के ऊर्ध्वमुखी रूपान्तर का वर्णन कवि ने 'अन्तर्देवता'[1] शीर्षक रचना मे किया है। इस रचना का अनुभूति-धरातल मानस के ऊपरी आध्यात्मिक स्तरों का स्पर्श करता है। कवि ने अपनी अनुभूति के माध्यम से श्री अरविन्द द्वारा प्रतिष्ठित इस सिद्धान्त का समर्थन किया है कि जड-चेतन मे एक ही चेतना-तत्व व्याप्त है, किन्तु, व्यक्ति को इसका आभास इसलिये नही होता क्योकि उसके अन्तर मे छिपा हुआ 'देवता' अभी तक जागा नही है। कवि ने बडी भावमयी वाणी मे उस स्थिति का वर्णन किया है .

"कल तक जो ससार शूल-सा
चुभता था सुकुमार हृदय मे
भ्रम ही भ्रम सर्वत्र दिखाई
पडता था अज्ञात हृदय मे।
अब ज्योही बदला है मानस,
बदल गया भू से अम्बर तक।
नव विश्वास-किरण जब फूटी
धधक उठी ज्वाला सशय मे।
तृष्णा की तृष्णा मिट जाती
हो जाता है पूर्ण मनोरथ।
उत्सव के दिन बन जाते है
हाहाकार और आक्रन्दन
जब अन्तर का देव जागता
जीवन हो जाता है पावन।"

कवि ने 'अकारण'[2] शीर्षक रचना मे भी चेतना के प्रबुद्ध हो जाने पर मानस-परिवर्तन

१ कल्पना, सितम्बर, ५६
२ सप्तसिंधु, अक्टूबर, ६०

का चित्र अकित किया है। इस रचना मे जीवन-रूपान्तर की अनुभूति तो है; किन्तु उसका कारण कवि के लिए सर्वथा अस्पष्ट है। इसलिए इस गीत का आध्यात्मिक धरातल मात्र एक कवि का है—साधक का नही। श्री अरविन्द के अनुसार इस धरातल की सज्ञा प्रोद्भासित मानस होनी चाहिए। कुछ पक्तिया उद्धृत की जा रही है, जिनसे उपर्युक्त मानस-स्तर पर प्रकाश पड़ेगा :

"मन-मधुवन मे आज न जाने,
कोई पिक क्यों बोल रहा है ?
एक एक स्वर मे अनजाना—
उन्मादक रस घोल रहा है ?
झूम उठा है कण-कण जिसका
विन्दु-मात्र अधरो से छूकर।
ऐसी ध्वनि, जिसकी सीमा मे
बाध नही पाता है अम्बर।"

श्री अरविन्द ने चेतना के अवरोहण तथा आरोहण दोनों पद्धतियो को स्वीकार किया है, क्योकि वह चेतन तत्व जड और चेतन दोनो मे समान रूप से व्याप्त है तथा एक ही ब्रह्म का स्वरूप है। चेतना के अवरोहण का एक भव्य-चित्र आरसी प्रसाद सिंह ने 'नव जन्म'[1] शीर्षक रचना मे चित्रित किया है। चेतना के अवरोहण की कुछ पक्तियाँ इस प्रकार है, जिनमे कवि ने उससे अवतरित होने की कामना की है :

"ज्योति के सोपान से
नव चेतना उतरे धरा पर।
और गूजे मेदनी के
ज्वार से सम्पूर्ण अम्बर।
बह चले गगा किरण की
विश्व के अन्त.करण मे।
सर्वथा ले जन्म नूतन
अवतरित तू हो भुवन में।"

चेतना के प्रबुद्ध होने पर सृष्टि के रूपान्तर का चित्र कवि ने 'अरुणोदय'[2] शीर्षक

---

१ नयीधारा, जनवरी, ५४

२ आजकल, अगस्त, ५९

रचना में भी दिया है। इस रचना के अन्तर्गत कवि का मानस साधक के धरातल पर नही है, वरन् वह आस्थावान कल्पनाशील कवि के रूप मे ही दृष्टिगोचर होता है। इसलिए इसमे अरविन्द-दर्शन के सैद्धान्तिक-पक्ष का ही अधिक प्रभाव है, जिसमे तटस्थ बौद्धिकता ही अधिक प्रतिबिम्बित हो सकी है।

'ज्योति हास'[1] शीर्षक रचना मे चेतना-तत्व के विषय मे वर्णन किया गया है। वह चेतना जो प्राय: जड़ को चेतना के विभिन्न-स्तरो मे प्रवर्तित करती चली जा रही है। चेतना का ऐन्द्रजालिक प्रभाव देखिये :

"तोडकर जब बन्ध मिट्टी का
चली वह शक्ति धारा।
टूटता जाता तरल आघात से
तम का किनारा
झांकते है बीज जीवन की
गुहा से फूटने को।
हो रहे नूतन विभा के
बाण व्याकुल छूटने को।"

'पलको की छाया'[2] शीर्षक रचना मे कवि ने प्रभु से प्रार्थना की है, जिसमे उसका आत्म-समर्पण-पूर्ण आस्था का स्वर मुखरित है। आत्म-समर्पण के द्वारा ही पूर्ण अहं का नाश होता है। श्री अरविन्द आत्म-समर्पण को अध्यात्म-लाभ के लिए अत्यन्त आवश्यक मानते है। श्री अरविन्द की आत्म-समर्पण परक कुछ पक्तियां देखिये, जिनमें उन्होने पूर्ण भक्ति भावना के साथ अपने को प्रभु के चरणो मे समर्पित कर दिया है :

"O Thou of whom I am the instrument,
O secret Spirit and Nature housed in me,
Let all my moral being now be blent,
In thy still glory of divinity.[3]"

कवि श्री आरसी प्रसाद सिंह की भी उपर्युक्त रचना की कुछ पंक्तियां देखिये, जिनमे उन्होंने अपने को सर्वथा असमर्थ स्वीकार करके प्रभु की कृपा की कामना की है :

१ अजन्ता, फरवरी, ५४

२ नयी धारा, सितम्बर, ६०।

३ अरविन्दो, लास्ट पोयेम्स, पेज २३।

"हमारी साधना का बस नही, तुम भावना देखो,
हमारे प्रेम का अभिनय नही, उन्मादना देखो।

× × ×

हमारे कर्म मे इतनी भला यदि शक्ति ही होती,
तुम्हारे प्रति अकारण प्रीति क्यो अनुरक्ति ही होती ?
न पूछो पूर्व का परिचय, प्रणय की प्रार्थना देखो।"

इस प्रकार श्री आरसी प्रसाद सिंह ने विद्यावती 'कोकिल' के समान ही श्री अरविन्द-दर्शन से प्रभावित होकर हिन्दी-काव्य को अरविन्दवादी धारा की मौलिक एव अनुभूति परक आध्यात्मिक रचनाओ से समृद्ध किया है। हिन्दी-काव्य मे अरविन्दवादी धारा के प्रमुख प्रवर्तको के रूप मे ये चिरस्मरणीय रहेगे।

श्री आरसी प्रसाद सिंह की रचनाओं मे प्राप्त श्री अरविन्द की दार्शनिक मान्यताओ की सूची इस प्रकार रखी जा सकती है .

(१) चेतना का जगत् मे अवरोहण और उसका आरोहण तथा इस प्रक्रिया से जगत् का चैतन्य मे परिवर्तन होना।

(२) आत्म-निवेदन का 'अह' के समग्र निरसन के साथ चित्रण।

(३) इनके काव्य के अध्ययन से इनके साधक होने के कारण आध्यात्मिक प्रभाव स्पष्ट अनुभूत होता है।

अनुवाद कार्य

उपर्युक्त मौलिक रचनाओ के अतिरिक्त श्री अरविन्द की कविताओं का हिन्दी रूपान्तर भी कुछ कवियो ने किया है। इन कवियो मे श्री गोपालदास 'नीरज' और विद्यावती 'कोकिल' मुख्य है। श्री व्योहार राजेन्द्रसिंह ने भी श्री अरविन्द के 'सावित्री' महाकाव्य का छन्द-बद्ध अनुवाद किया है, ऐसा उन्होने मुझे अपने एक पत्र मे लिखा है। किन्तु, खेद है कि जहाँ उन्होने श्री अरविन्द से प्रभावित अपने लेखो को मेरे पास भेजा है, उस अनुवाद से किसी कारण मुझे वचित ही रखा है। अतएव, इस प्रसग मे केवल दो कवियो 'नीरज' और 'कोकिल' द्वारा किए हुए मूल अग्रेजी कविताओ के हिन्दी रूपान्तर से ही परिचय कराया जा रहा है।

गोपालदास 'नीरज' द्वारा अनूदित श्री अरविन्द की रचनाएँ

'नीरज' जी ने श्री अरविन्द की सात कविताओ का पद्यबद्ध अनुवाद किया है। उनके क्रमश. शीर्षक है, 'दिव्य सुमन', 'वृक्ष और आत्मा', 'जीवन और मरण', 'निमन्त्रण', 'विजय गीत', 'महालक्ष्मी' तथा 'स्वप्न-तरी'। ये सारी अनूदित रचनाएँ

कवि के काव्य-सग्रह 'प्राणगीत'[1] मे सगृहीत है। इन कविताओ मे से कुछ की मूल पक्तियाँ और उनके हिन्दी अनुवाद दिये जा रहे है, जिससे अनुवाद की सटीकता और वरिष्टता का परिचय मिल सके। सबसे प्रथम् श्री 'नीरज' द्वारा किए हुए 'ट्री' शीर्षक श्री अरविन्द की रचना का पद्य-बद्ध रूपान्तर उद्धृत किया जा रहा है। श्री अरविन्द की मूल पक्तियाँ इस प्रकार है :

"A tree beside the sandy river beach
Holds up its topmost boughs
Like fingers towards the skies they cannot reach
Earth bound, heaven-amorous.
This is the sould of man. Body and brain
Hungry for earth our heavenly flight detain."[2]

श्री नीरज द्वारा हिन्दी रूपान्तर

स्वर्गानुरक्त, सैकत तट पर तरु खड़ा एक
नभ ओर भुजाओं-सी शाखाएँ फैलाता।
हो विफल किन्तु जड़ धरती के आकर्षण से
ऊपर न मृत्तिका की माया से उठ पाता।
यह है आत्मा, मानव स्वरूप, जिसकी शाश्वत स्वर्गिक उड़ान
है नीचे रोके हुए खड़े, रजपाश बद्ध मन, देह प्राण।"[3]

अनुवाद की मूल से तुलना करने से प्रतीत होता है कि कवि ने मूल कविता के भावो को अक्षुण्ण रखने की चेष्टा की है, साथ ही अनुवाद मे मात्र भाव को ही मूर्त करने की चेष्टा नही की गयी वरन् मूल शब्दावली और छन्द को भी यथावत् रखने की चेष्टा की गयी है।

कुछ पंक्तियाँ श्री अरविन्द की प्रसिद्ध रचना 'लाइफ एण्ड डेथ' (जीवन और मरण) की उद्धृत की जा रही है। इस रचना के अनुवाद मे कवि ने मूल रचना की मौलिकता को ज्यों का त्यो प्रस्तुत किया है। श्री अरविन्द की इस मूल रचना की पक्तियाँ इस प्रकार हैं :

"Life, death, death, life, the words have led for ages
Our thought an concicusness and firmly seemed
Two opposites, but now long-hidden pages,
Are opened; liberating trathe undreamed.

१ प्राण गीत, द्वितीय सस्करण, १९५७।

२ कलेक्टेड पोयेम्स एण्ड प्लेज, पेज १२८, वाल्यूम। पब्लिश्ड इन १९४२

३ प्राण गीत, द्वितीय सस्करण, पृष्ठ १०६।

Life only is, or death is life disguised,—
Life a short death until by life we are surprised."[1]

'नीरज' जी का अनुवाद

"जीवन-मरण मरण जीवन दो शब्द युगो से
भरमा रहे बुद्धि जग की दीखते विरोधी,
कर उन्मुक्त अचिन्त्य सत्य चिर मानस-सम्मुख
खुले युगो के छिपे हुये सब पृष्ठ प्रबोधी।
जीवन है सक्षिप्त मृत्यु यदि (वि)स्मय न शेष है,
जन्म-मरण का, मरण जन्म का छद्मवेश है।[2]

अन्य उल्लिखित रचनाओ का भी अनुवाद 'नीरज' जी ने मूल भाव और आकार की रक्षा करते हुए बडी कुशलता से किया है। किन्तु, इन सात कविताओं के अनुवादों के अतिरिक्त न तो उन्होने श्री अरविन्द की किसी अन्य रचना का ही अनुवाद किया है और न उनकी मौलिक रचनाओ मे श्री अरविन्द का किसी प्रकार का प्रभाव परिलक्षित होता है।

श्रीमती विद्यावती 'कोकिल' द्वारा श्री अरविन्द की कविताओं का अनुवाद

ऊपर विस्तार से 'कोकिल' जी की अरविन्दवादी मौलिक रचनाओं का विश्लेषण प्रस्तुत किया जा चुका है। इसमे कोई सदेह नही कि 'कोकिल' जी पर श्री अरविन्द-दर्शन और साधना पद्धति का सर्वाधिक प्रभाव पडा है और कदाचित् वही अकेली हिन्दी की कवयित्री है जिन्होने श्री अरविन्द क दर्शन और उनकी योग-पद्धति के मर्म को समझ कर मूल रूप मे अगीकृत किया है। इस स्थल पर उनके द्वारा अनूदित श्री अरविन्द की रचनाओ की कुछ पक्तिया उद्धृत की जा रही है, जिनसे उपर्युक्त धारणा को समर्थन प्राप्त हो सकेगा।

'कोकिल' जी ने श्री अरविन्द की सात रचनाओं का अनुवाद अपनी पुस्तिका 'सप्तक' मे प्रस्तुत किया था। जिसका प्रथम सस्करण, श्री अरविन्द आश्रम के प्रकाशन विभाग से २४ नवम्बर सन् १९५८ ई० मे हुआ था। श्री अरविन्द की उन रचनाओं के शीर्षक इस प्रकार हैं :

(१) Thought the Paraclete (विचार दूत)
(२) The blue bird (नीलम धारा)

१ श्री अरविन्दो, कलेक्टेड पोयेम्स एण्ड प्लेज, वाल्यूम १ पब्लिशड इन १९४२, पेज १४१।

२ प्राणगीत, पृष्ठ १०७ द्वितीय संस्करण।

(३) Jivanmukta (जीवन्मुक्त)
(४) The Dream Boat (स्वप्न-तरी)
(५) Rose of God (भ.गवत गुलाब)
(६) Ascent (आरोहण)
(७) Trance (ध्यान मौन)

उपर्युक्त सात रचनाओ मे से चार का अनुवाद (ब्लू बर्ड, रोज आफ गाड, ट्रान्स और दि ड्रीम बोट) पुन· सन् १९६० मे उपर्युक्त प्रकाशन द्वारा प्रकाशित उनके काव्य-सग्रह 'आरती' मे प्रस्तुत किया गया है। इन रचनाओ के पुन: रूपान्तरित करने का कारण कदाचित् यह रहा है कि प्रथम अनुवाद मूल भाव-भूमि का कवयित्री के मन के अनुरूप स्पर्श नही कर सका है। उनके अनुवाद की कुछ पक्तियाँ दो-एक रचनाओं से उद्धृत की जा रही हैं, जिससे हिन्दी पद्यात्मक रूपान्तर की सटीकता पर प्रकाश पडेगा।

सर्व प्रथम श्री अरविन्द की अत्यन्त प्रसिद्ध रचना 'थाट दि पैराक्लीट' जिसका हिन्दी रूपान्तर कवयित्री ने 'विचारदूत' शीर्षक से किया है, की कुछ पक्तियां उद्धृत की जा रही है, तदनन्तर उनका 'कोकिल' जी द्वारा किया हुआ अनुवाद :

"As some bright are changel in vision flies,
Plunged in dream-Caught spirit immensities,
Past the long green crests of the seas of life,
Past the orange skies of the mystic mind
Flew my thought self-lost in the vasts of God"

कवयित्री द्वारा हिन्दी अनुवाद

मेरा उडा विचार—
जैसे ज्योतिर्मान कि कोई दूत-राज सुरपुर का
स्वप्न-ग्रसित-सा आत्मा की सुअमितताओ मे डूबा
जाता हो उडता अन्तर दर्शन मे—बहुत दूर उस पार
दीरघ जीवन सागर के तिर हरित ऊर्मि शिखरो को
करके पार निगूढ मानसिक नारग-दीप्त नभो को
प्रभु की अपारताओ मे आपनपौ खोवन हार,
इन सबके उस पार
मेरा उड़ा विचार।'[1]

जैसा कि स्पष्ट है, कवयित्री ने मूल रचना के शब्दानुवाद पर विशेष बल दिया है। यद्यपि इससे मूल भी सुरक्षित रह सका है, फिर भी शब्दानुवाद की चेष्ठा मे लय,

१ सप्तक, पृष्ठ, ३०, प्रथम सस्करण।

शब्द-न्यास और प्रवाह अक्षुण्ण नही रह सके है। यदि कवयित्री छन्द का कोई और रूप चुनती और शब्द-योजना और सशक्त होती तो निस्सदेह अनुवाद मे मूल का सा आनन्द आता।

कुछ पक्तियो का अनुवाद 'जीवन्मुक्त' शीर्षक श्री अरविन्द की कविता का भी देखिये। मूल रचना की पक्तियाँ इस प्रकार है :

"There is a silence greater than any known
To earth's dumb spirit, motionless in the soul
That has become Eternity's foothold,
Touched by the infinitudes for ever."

कोकिल जी का हिन्दी अनुवाद

छिपी पड़ी है यहाँ एक नीरवता—
अरे महत्तर उन नीरवताओ से—
अब तक जो अनजानी पहिचानी है
अपनी धरती की गूगी आत्मा से—
(पडी हुई है) ..अविचल जीवन्मुक्त के हृदयतल मे
बना हुआ जो शाश्वत चरणों की है
पाद-पीठिका और सतत रहता है
भार अनन्त शक्तियो के स्पर्शन मे।'[1]

इस अनुवाद मे भी उपर्युक्त अनुवाद के समान मूल के शब्दानुवाद और भाव-सरक्षण का कवयित्री ने विशेष ध्यान रखा है। परन्तु, इससे कदाचित् इनकार नही किया जा सकता कि इस प्रयास मे 'कोकिल' जी हिन्दी-छन्द-प्रवाह को अक्षुण्ण नही रख सकी है। यदि वे किसी अन्य हिन्दी छन्द का प्रयोग कर सकती तो अनुवाद मे लयात्मकता और मनोरमता का सशक्त सगुम्फन हो सकता था। इसमे सन्देह नही कि इन काव्यानुवादों मे कवयित्री ने रचनाओ के मूल भावो को यथावत् रखने का स्तुत्य प्रयास किया है।

'कोकिल' जी ने श्री अरविन्द के 'सावित्री' महाकाव्य का भी छन्द-बद्ध अनुवाद करना प्रारम्भ कर दिया है। श्री अरविन्द का यह महाकाव्य आध्यात्मिक कविता के प्रतीक रूप मे इस युग का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य कहा जा सकता है। इस महाकाव्य के विषय मे यह कहना भी कदाचित् अत्युक्ति न होगी कि प्रतीक-योजना, दर्शन और योग-द्वारा उपलब्ध आध्यात्मिक भूमिकाओ के अनुभूति परक काव्यात्मक चित्र उपस्थित करने मे इस समग्रता को कोई भी पाश्चात्य-प्राच्य महाकाव्य नही पहुँच सके हैं। नीचे कवयित्री द्वारा किये गये 'सावित्री' की कुछ पंक्तियों का अनुवाद मूल-सहित दिया जा रहा है :

१ सप्तक, पृष्ठ ३५, प्रथमावृत्ति, अरविन्द-आश्रम प्रकाशन।

सावित्री का मूल चरण

"Out of the voiceless mystry of the past
In a present ignorant of forgotten bonds.
These spirits met upon the roads of time.
Yet in the heart their secret concious selves.

At once aware grew of each other warned
By the first call of a delightful voice
And a first vision of the bestined face.

As when being cries to being from the depths
Behind the screen of the external sense
And strives to find the heart—disclosing word."[1]

कोकिल जी का अनुवाद

अपने भूतकाल की वाचातीता
अपनी पिछली विस्मृत प्रतिज्ञाओं से
भेंटी आज अचानक ये आत्माएं
फिर भी उनकी गोपित आत्माओं को
रहस्यमयता में अब बढ़कर बाहर
अनजान बने वर्तमान से आकर
धरा काल के परिचित मार्गों पर
पड़ा नहीं कोई संकेत धरावा,
हर्षोन्मत्त गिरा के प्रथम शब्द से
विधि निर्णीत वदन के दर्शन भर से
जैसे बाह्य-इन्द्रियों के इस पट से
क दूसरे का तत्क्षण पहिचाना।
अपनी ही तल रहिता गहराई से
प्राणी बस प्राणी को पुकारता है
मर्म उधार शब्द की और टोह में,
बार बार उकसता अकुलाता है।"[2]

अनूदित पंक्तियों के उद्धरण से यह सिद्ध होता है कि कवयित्री ने मूलकाव्य के भावों को अक्षुण्ण रखने का यथाशक्य प्रयास किया है और इसमें उसे पर्याप्त सफलता मिली है।

---

१ सावित्री, बुक फाइव, कैन्टो थ्री, पेज ४५३, फर्स्ट यूनीवर्सिटी एडीशन।
२ 'कोकिल' जी के 'सावित्री' के अप्रकाशित अनुवाद से उद्धृत।

हिन्दी मे प्रभाव

इन पद्यानुवादो के अतिरिक्त गद्य के क्षेत्र मे भी श्री अरविन्द-दर्शन का प्रभाव पडा है। इस प्रसग मे श्री ब्योहार राजेन्द्रसिंह के विभिन्न पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशित लेख उदाहरणार्थ देखे जा सकते है।[1] श्रीमती विद्यावती कोकिल का 'फ्रेम बिना तसवीर'[2] नाटक भी इस सन्दर्भ मे उल्लेखनीय है। किन्तु उपर्युक्त कवियो के अतिरिक्त हिन्दी मे अभी श्री अरविन्द-दर्शन से प्रभावित रचनाए दृष्टिगोचर नही होती। पर यह सभावना अवश्य की जा सकती है कि यदि कविता का विषय मानव और उसकी समस्यायें रहेगी तो मानव का मानस-स्तरो के उदात्तीकरण और मानवता के क्रमिक विकास के हेतु अन्तत. श्री अरविन्द की दार्शनिक स्थापनाओ का अवलबन लेना ही पडेगा।

---

१ श्री अरविन्द की दृष्टि मे 'मानव का त्रिविध जीवन', 'लोक रुचि और साहित्य', सितम्बर १९६१ मे प्रकाशित 'आत्म-समर्पण', 'व्यक्तित्व का सपूर्ण विकास', तथा 'ईश्वर प्राप्ति के साधन' आदि अन्य अप्रकाशित निबन्ध रखे जा सकते हैं।

२ प्रकाशक, ज्योति प्रकाशन, २ लाउदर रोड इलाहाबाद।

७

हिन्दी की मानववादी काव्य-धारा और अरविन्द-दर्शन

श्री अरविन्द ने सृष्टि-विकास-क्रम मे मानव को सृष्टि का सर्वोत्कृष्ट विकास माना है। फलतः उनके सृष्टि-विकास के अन्तर्गत मानव सम्बन्धी अध्ययन भी सम्मिलित है। इस अध्याय के अन्तर्गत हिंदी कवियो के मानव सम्बन्धी विचारों के सदर्भ मे श्री अरविन्द की एतद्विषयक मान्यताओ ओर उपलब्धियों पर विस्तार से विचार किया जा रहा है।

मानव और प्राचीन काव्य (पृष्ठभूमि के रूप में)

सृष्टि के विकास क्रम मे जब मानव अस्तित्व में आया होगा, तभी से उसके विषय मे विचार विमर्श का भी सूत्रपात हुआ होगा। नानव सम्बन्धी यह चिंतन दो भागो मे विभक्त किया जा सकता है। प्रथम वर्ग को अभ्युदय ओर द्वितीय को निःश्रेयस् कह सकते हैं। वेद ओर उपनिषदो मे जो भारतीय वाङ्मय के ही नही, समग्र विश्व वाङ्मय मे सर्वाधिक प्राचीन सिद्ध हो चुके हैं, मानववादी ये दोनो दृष्टिकोण पूर्णतया स्पष्ट है। अभ्युदय का अर्थ है, इहलौकिक उन्नति और नि.श्रेयस् का अर्थ है, पारलौकिक उन्नति। अभ्युदय के विषय मे तो पशु पक्षी भी सतर्क दृ टिगोचर होते हैं। अपने परिवार के सम्बर्द्धन-उत्कर्ष और अस्ि त्व की रक्षा मे ही उनकी अभ्युदय सम्बन्धी चेष्टा दृष्टिगोचर होती है। इसके परे आध्यात्मिक अथवा चारित्रिक नियमो के पालन की ओर उनकी प्रवृत्ति नही दृष्टिगोचर होती। मानव का निर्माण कुछ इस प्रकार हुआ है कि उसमे कुछ तो पाशव वृत्तियाँ है और कुछ पशु-इतर बौद्धिक और आध्यात्मिक वृत्तियाँ भी प्राप्त होती है, अर्थात् उसका सगठन बाह्य और आन्तर अथवा स्थूल और सूक्ष्म दोनों वृत्तियो के सयोग से संपन्न हुआ है। मानव के बौद्धिक और आध्यात्मिक-विकास को देख कर हम यह भी कह सकते है कि उसका बाह्य-विकास समाप्त हो गया है और वह अपने विकास के ऊपरी स्तरो की ओर क्रमशः गतिवान है। किन्तु चूकि उसके भौतिक शरीर के सरक्षण के लिए भौतिक उपकरणो और बौद्धिक

तथा आध्यात्मिक रूप के विकास के लिए बौद्धिक और आध्यात्मिक उपादानो की आवश्यकता है, इसलिए हमारे आदि आर्ष ग्रथों मे लेकर आज तक के साहित्य मे उपर्युक्त द्विविध विचारणा प्राप्त होती है। अभ्युदय-सम्बन्धी विचारणा का आयाम उदर-पोषण शरीर रक्षण तथा परिधान इत्यादि के सौन्दर्य और उपयोगिता से लेकर धनपति और राजा की उपाधि तक है। किंतु एतद् सबधी प्राचीन मान्यता नैतिक और चारित्रिक मूल्यो से पृथक् दृष्टिगोचर नही होती। इसका प्रमुख कारण कदाचित् अन्तर्मुखी-वृत्ति की प्रधानता रही है। पुराणों और काव्यो के काल तक अभ्युदय और नि श्रेयस् का समन्वित रूप प्राप्त होता है। उस समय तक धर्म के अतर्गत भौतिक और आध्यात्मिक दोनो जीवनो मे पार्थक्य नही दृष्टिगोचर होता। इसमे सिद्ध होता है कि उस समय जीवन के विकास को एक इकाई माना जाता था। किंतु कालान्तर मे जब यह विचार-धारा खण्डित हुई तो अभ्युदय को निरे भौतिक स्तर पर प्रतिष्ठित किया गया और अध्यात्म को बिलकुल पृथक कर दिया गया। सस्कृत-साहित्य और भारतीय दर्शनों मे इस मनोवृत्ति का सुन्दर परिचय मिलता है, किंतु फिर भी मानव अपनी स्थूलता को छोडता हुआ मानस के ऊर्ध्वोन्मुख विभिन्न स्तरो को सतत पार करता हुआ प्रगतिशील रहा है। इस अध्याय मे प्राचीन काव्य की पृष्ठ भूमि मे आधुनिक मानववादी काव्य-धारा और अरविन्द द्वारा प्रतिष्ठित मानव की मानस-उपलब्धियो पर विचार किया जा रहा है।

प्राचीन हिन्दी काव्य और मानस

जैसा कि ऊपर कहा गया है मानववादी दृष्टिकोण सस्कृत काव्य से ही प्रारम्भ हो गया था। युगानुकल मानव का मूल्याकन कालिदास, अश्वघोष, भारवि, भास और भवभूति आदि सस्कृत के कवियो ने किया है। महाभारत और रामायण के महाकवियो ने भी मानव की चतुर्मुखी उन्नति का वर्णन करके अभ्युदय और नि·श्रेयस् के सदर्भ में विस्तार से किया है। किन्तु हिंदी के प्राचीन काव्य मे जिसमें सत कबीरदास और उनके समानवर्ती तथा परवर्ती कवियो का काव्य आता है, और रामचरित मानस मे मानव का प्रमुख मूल्याकन हुआ है।

संत कवियो का काव्य साधना के ऊपर अधिष्ठित था। साधना विशेष रूप से आन्तर वृत्तियो के विकास पर बल देती है। इसलिए सत कवियों द्वारा मानव के आन्तर क्षितिजो का जितना उत्कृष्ट उद्घाटन प्राप्त होता है, उतना कदाचित् ही अन्य किसी स्थल पर सुलभ हो। आन्तर वृत्तियो का विशेष आग्रह मानव के नि:श्रेयस् पर अधिक होता है, किन्तु ऐसा नही है कि सन्तों के द्वारा अभ्युदय का पक्ष बिलकुल ही अछता रह गया हो। सत कबीर ने अपने सुधार परक पदो में मानव के अभ्युदय पर भी विस्तार से प्रकाश डाला है और इस प्रकार उन्होने मानव-विकास के सर्वांगीण रेखाचित्र को उपस्थित करने की चेष्टा की है। अन्य सत कवियो की दृष्टि भी

मानव जीवन की सर्वांगीणता से अपरिचित नही रही है। इन्होने भी परलोक के साथ लोक जीवन को सुव्यवस्थित करने का प्रयास किया है।

सन्त कबीर तथा अन्य कवियों के मानव जीवन के अभ्युदय और निःश्रेयस्

इस स्थल पर कबीरदास और अन्य सत कवियों के काव्य से मानव जीवन के अभ्युदय और नि.श्रेयस् पक्षो का सोदाहरण वर्णन अप्रासगिक न होगा।

सन्त कबीरदास तथा अन्य सन्त कवियो के काव्य मे अधिकाशत. जहाँ अभ्युदय का वर्णन हुआ है, वहाँ भी उनकी अन्तर्मुखी वृत्ति निरपेक्ष नही रही है। इसका प्रमुख कारण कदाचित यह रहा है कि वे नि श्रेयस् की उपलब्धि ही मे जीवन का चरम मानते थे। सन्त कबीर वर्णाश्रम को तथा जाति-भेद को सासारिक व्यवस्था तथा आध्यात्मिक उपलब्धियो का बाधक मानते थे। उन्होने अपने काल मे जाति-पाँति और वर्णाश्रम की निस्सारता का मात्र अनुभव ही नही किया था, वरन् उसके दुष्परिणामो से भी भलीभाँति परिचित थे। इसीलिए उन्होने स्पष्ट शब्दो मे इन अवाछित सामाजिक तत्वो का तिरस्कार करते हुए कहा था :

"अरे, इन दोउन राह न पाई।
हिन्दुन की हिन्दुआई देखी तुरकन की तुरकाई।
कहैं कबीर सुनो भई साधौ कौन राह ह्वै जाई।"

कबीर के काल मे हिन्दू और मुसलमानो के पारस्परिक सम्बन्ध तथा उनकी धार्मिक दाम्भिकता कृत्रिमता ने सामाजिक जीवन को कितना विशृंखल और धार्मिक मान्यताओ को कितना हास्यास्पद बना दिया था, उनके उपर्युक्त पद के सन्दर्भ मे देखा जा सकता है। कबीर ने हिन्दू मुसलमानों को इसलिए फटकार बताई है—क्योकि इन दोनों का धर्म के मूल पर नही, उसके बाह्य पर, जो निजी स्वार्थों पर अधिष्ठित था, अधिक आग्रह हो गया था। अहिंसा किसी भी धार्मिक अथवा आध्यात्मिक उपलब्धि की प्राथमिक आवश्यकता है। साथ ही बिना उसके सम्पूर्ण ग्रहण के सामाजिक जीवन भी सुख-शान्ति पूर्वक नही चल सकता। कबीर ने इसीलिए हिन्दू-मुसलमानो को बाह्यावरणो मे प्रकर्ष देने के लिए फटकार बतायी है और एक ऐसे आदर्श को ग्रहण करने का आदेश दिया है, जो जाति-पाँति आदि द्वन्द्वो से परे है। क्योकि उन्हे अच्छी प्रकार विदित था कि हमारा वांछित आदर्श सभी प्रकार के विग्रहों से रहित होना चाहिए। इसीलिए उन्होने बाह्य को छोड़कर आन्तर को और परिधि को छोडकर केन्द्र की ओर जाने का आदेश दिया:—

तेरा साईं तुझ मे, ज्यों पुहुपन में बास।
कस्तूरी का मिरग ज्यो, फिरि-फिर सूघै घास।

अहिंसा की प्रतिष्ठा और जीवन की कृत्रिमता की ओर व्यंग करती हुई कबीर की निम्न पक्तियाँ भी दृष्टव्य है:—

दिन भर रोजा रहत है, राति हनत है गाय ।
यह तो खून वह बदगी, कैसे खुशी खुदाय ।।
अपनी देखि करत नही अहमक, कहता हमारे बडेन किया।
उसका खून तुम्हारी गरदन, जिन तुमको उपदेश दिया ।।
बकरी पाती खाति है, ताकी काढी खाल ।
जो नर बकरी खात हैं, तिनको कौन हवाल ।।

इन पक्तियों से प्रकट है कि कबीर के काल मे जीवन मे कितने विरोधी तत्वो का समावेश हो गया था । जीवन को समग्र दृष्टि प्रदान करने और अभ्युदय तथा नि श्रेयस् की एकसूत्रित दृष्टि के कबीर के उपर्युक्त उदाहरण वास्तव मे कितने सुन्दर प्रयास है, बतलाने की आवश्यकता नही । कबीर दास जीवन को व्यवस्थित तथा शृ खलित करने मे अभ्युदय की चरम उपलब्धि मानते थे, किन्तु ससार मे उन्हे व्यवस्था के इन तत्वो का प्राय. अभाव दृष्टिगोचर होता था । उन्होने सदाचरण से इतस्तत: पड़े हुए लोगो पर बडा तरस खाया है । उनके हृदय का यह द्रावण उनके अनेक पदो मे प्रवाहित हुआ है ।[1]

हिन्दू और मुसलमानो के रहन-सहन के अन्तर्गत जो दाभिकता और कृत्रिमता प्रविष्ट हो गई थी और उनका व्यक्तित्व किस प्रकार द्विधा विभक्त होकर वास्तविकता से पृथक हो गया था, इसका गम्भीर अध्ययन कबीर ने किया था । उन्होने इस दाभिक जीवन के लिए हिन्दू-मुसलमान, दोनो को आड़े हाथों लिया । उन्होने कर्त्तव्य और वास्तविकता के व्यवधान को हटाने के लिए, अभ्युदय और नि श्रेयस् रक्षा हेतु, जो प्रयास किए वे सर्वथा स्तुत्य हैं ।[2] साधक होने के कारण कबीर का

---

१ या जग अन्धा मैं केहि समुझावो ।
इक दुइ होइ उन्हे समुझावो, सबहि भुलाना पेट के धन्धा ।
पानी के घोडा पवन असवरवा, ढरकि परे जस ओस के बुन्दा ।।
गहरी नदिया अगम बहै धरवा, खेवनहारा के परिगा फन्दा ।
घर की वस्तु निकट नहिं आवत, दियना बारि के ढू ढत अधा ।।
लागी आगि मकल बन जरिगा, बिन गुरु ज्ञान भटकिया बन्दा ।
कहैं कबीर सुनो भई साधो, इक दिन जाय लगोये झारि बदा ।।

२ सन्तो यह दूनौ हम दीठा ।
हिन्दू तुरुक हटा नहिं मानैं, स्वाद सबन्ह को मीठा ।।
हिन्दू बरत एकादसि साधै, दूध सिंघारा सेती ।
जन को त्यागै मन को न हटकै, पारन करै सगोती ।।

दृष्टिकोण अभ्युदय सम्बन्धी चिन्तनाओ मे भी आध्यात्मिक ही रहा है, किन्तु फिर भी उन्होने वचन और कर्म के विपर्यय को समझा था जो अभ्युदय सम्बन्धी लोक अथवा सामाजिक जीवन का अवरोधक बन कर उसे असफल बना देता है।

कबीर के अतिरिक्त दादू ने भी अभ्युदय अथवा सामाजिक जीवन को चतुर्मुखी उन्नति के लिए 'कथनी और करनी' की एकता पर बल दिया है। उनके मत से बिना वाणी और कर्म की एकता के सफलता नही प्राप्त हो सकती।[1] दादू ने अभ्युदय और नि.श्रेयस् की सफलता के लिए लौकिक और आध्यात्मिक जीवन को एक सूत्रित करने के लिए विशेष आग्रह किया है। उनके मत से जब हमे भौतिक शरीर मिला है तो उसका एकान्त निषेध नही किया जा सकता; किन्तु लौकिक जीवन का नैतिक परिवर्तन तथा जन्म-मरण के पूर्व और पश्चात् की जीव की स्थिति किसी अन्य जगत् की ओर सकेत करती है। उसी लोकोत्तर जीवन की सत्ता की नित्यता पर दादू ने विश्वास किया है। उनका मत है कि उसे ही केन्द्र मान कर लौकिक जीवन को स्वीकार करना चाहिए।[2] उससे जीव कालातीत और दुखों के त्रास से परे हो जाता है। सामाजिक जीवन को विशृ खलित और विषाक्त बनाने मे परनिन्दा का कितना बडा हाथ होता है, इसके अनर्थों की ओर भी दादू की दृष्टि गयी थी। परनिन्दा जहाँ एक ओर सामाजिक जीवन की शान्ति-भग करती है, वही वह मानव को मानवीय गुणो से वचित तो करती ही है, साथ ही वह मानवेतर मानस-स्तर के द्वार को भी अवरुद्ध कर देती है।[3]

तुरुक रोजा नीमाज गुजारैं, बिसमिल बाँग पुकारैं।
इनकी भिस्त कहाँ ते होइहै, साझै मुरगी मारैं॥
हिन्दु को दया मेहर तुरुकन की, दोनौं घर सों त्यागी।
वे हलाल वे झटकै मारैं, आग दुनौं घर लागी॥
हिन्दू तुरुक की एक राह है, सत गुरु इहै बताई।
कहहिं कबीर सुनहु हो सन्तो, राम न कहेउ खुदाई॥
(बीजक शब्द १०)

१ दादू कथणी और कुछ, करणी करै कुछ और।
तिन थै मेरा जिव डरै, जिनके ठीक न ठौर॥
(हिन्दी सत-काव्य-संग्रह, पृ० १५२)

२ देह रहे ससार मे, जीव राम के पास।
दादू कछु व्यापै नही, काले झाल दुख त्रास॥
(वही, पृ० १५२)

३ दादू निन्दा नाँव न लीजिए, सुपनैं ही जिन होय।
ना हम कहै न तुम सुणो, हम जिनि माखै कोय॥
(हिन्दी-संत-काव्य-संग्रह)

सांसारिक जीवन की व्यवस्था को भग करके अशान्ति को फैलाने मे कलुषित वातावरण कदाचित् सर्वाधिक उत्तरदायी रहा है। कलुषित वातावरण की सृष्टि कुविचारो के कारण होती है और ऐसे मिथ्या व्यवहार करने वाले व्यक्तियो को दुष्ट की सज्ञा दी जाती है। सन्त सुन्दरदास ने मानव को ऐसे वातावरण-प्रसूत कुसंग से बचने के लिए चेतावनी दी है। उनके मत से ऐसे वातावरण में लिप्त व्यक्ति अपने सपर्क मे आने वाले व्यक्तियों के इह लौकिक जीवन की चतुर्मुखी प्रगति को तो रोक ही देता है, साथ ही उसका भी किसी प्रकार का हित नही होता।[1] सन्त सुन्दरदास ने इस दूषित प्रकृति का कारण अन्तर की अपेक्षा वाह्य दृष्टि पर अधिक प्रकर्ष बताया है। इसके अतिरिक्त उन्होने तृष्णा और दाभिक जीवन को भी अभ्युदय के लिए अत्यत घातक माना है। ये दोनो अवगुण किस प्रकार अन्त.सगठन को भग्न करके वहिर्संगठन को भी अतिशय रूप से क्षतिग्रस्त बनाते है और मानव मन मे ईर्ष्या द्वेष आदि भयकर अवगुणो को जन्म देकर उसके जीवन को अशान्त कर देते है, सन्त सुन्दरदास की पैनी दृष्टि से छूट नही सका।[2]

सन्त सुन्दरदास ने कर्म मे अनासक्ति को प्रधानता देकर जीवन मे अभ्युदय और नि.श्रेयस् की सफलता को स्वीकार किया है। उनका मत है कि ससार के सम्पूर्ण कार्य करते हुए भी मानव को निर्विकार रहना चाहिए, उसे उनमे आसक्त न होना चाहिए। प्रेम वही सार्थक है जो विश्वास संबलित है तथा नैतिक स्तर की उच्चता और निर्मलता की अविकलता तभी स्थिर रह सकती है, जब किसी भी परिस्थिति मे जीवन मे अनैतिकता को प्रश्रय न दिया जाय।[3]

---

१ अपने न दोष देखे और के औगुण पेखे
दुष्ट को सुभाव उठि निन्दा ही करतु है।
जैसे कोई महल संवारि राख्यो नीके करि
कीरो तहां जाय छिद्र ढूंढत फिरतु है।
भोर ही ते साझ लग सांझ ही ते भोर लग
सुन्दर कहत दिन ऐसे ही भरतु है।
पाव के तरे की नही सूझै आग मूरख कूं
और सूं कहत तेरे सिर पै बरतु है।

(हिन्दी संत-काव्य-संग्रह, पृष्ठ १७८)

२ देखिए, हिन्दी सन्त-काव्य-संग्रह पृष्ठ १७८ और १७९ मे 'तृष्णा' एवं 'करम धरम' शीर्षक कवित्त

३ उपदेश : (सन्त-सुधासार, पृष्ठ १८०)

सन्तो के उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि वे अभ्युदय को निःश्रेयस् से अविच्छिन्न मानते थे। निःश्रेयस् की उपलब्धि के लिए उन्होने जीवन मे अहिंसा, दया, अकृत्रिमता और अनासक्ति आदि उदात्त गुणो की अवतारणा और अभ्यास के लिए विशेष प्रकर्ष दिया है। यद्यपि सन्तो ने नि श्रेयस् को जीव की सबसे बडी उपलब्धि के रूप मे स्वीकार किया है, फिर भी जैसा कि उनके उपर्युक्त पदो से स्पष्ट है वे अभ्युदय को भी एक सीमा तक मानते थे और उसकी सफलता के लिये सचेष्ट थे।

सन्त-काव्य में निःश्रेयस् का स्थान

मानव के आन्तरिक विकास-क्रम मे अभ्युदय की परिकल्पना (धर्म, अर्थ, काम) प्रथम सीढी है जो उसे पाशव वृत्तियो से पृथक् करती है। पशु के अन्तर्गत केवल भोग वृत्ति की प्रधानता दृष्टिगोचर होती है। वह काम का उसके व्यापक (इच्छा, कामना आदि) और विशिष्ट (यौन-सम्बन्ध) अर्थ से अनुयायी ही दृष्टि-गोचर होता है। उसकी कामना और यौन सम्बन्ध मे भी अविचार की ही प्रधानता सर्वथा दृष्टिगोचर होती है। इसलिये उसे भोग प्रधान योनि के रूप स्वीकार किया गया है। किन्तु मानव विचारशील प्राणी है। वह अपने विवेक के कारण ही पशु-विशिष्ट माना गया है। इसलिये उसके भौतिक अथवा लौकिक जीवन मे जिसे हमने ऊपर अभ्युदय कहा है विचारशीलता अथवा विवेक की प्रधानता स्वीकार की गयी है। धर्म अर्थात् चारित्रिक नियमो की अवधारणा और इन्ही के अनुकूल अर्थ और काम की स्वीकृति वास्तव मे जहा जीवन को सुमबद्ध, सुव्यवस्थित और श्रेयस्कर बनाने की प्राचीन मनीषियो की लोकोत्तर मेधा की द्योतक है, वही वह इस तथ्य पर भी प्रकाश डालती है कि धर्म, अर्थ और काम जीवन के एक ही पक्ष के द्योतक हैं। जडत्व से विवर्तित होता हुआ चैतन्य अपने यहा तक के आयास मे अभी पूर्णत्व नही प्राप्त कर सका, अभी तो पच-भूतो की स्थूलता से, उनके प्रति राग-द्वेषादि द्वन्द्वो से उसका मानस विरक्त अथवा अनासक्त नही हुआ। मोक्ष अथवा निःश्रेयस् चेतन का वही समग्ररूप है जिसकी अन्य सरिणिया धर्म, अर्थ और काम हैं। अनादि काल से मानव इसी नि.श्रेयस् की प्राप्ति के लिए प्रयासशील है। किन्तु, धर्म, अर्थ और काम सबधी उसकी मान्यता मे कुछ साधारण मत-भेदो के अतिरिक्त (जो देश कालानुसार केवल उपयोग मे पृथक् प्रतीत होते है) जितना साम्य है, उसकी निःश्रेयस्-सम्बन्धी मान्यता उतनी ही भिन्न है। इस विभिन्नता का प्रमुख कारण यह प्रतीत होता है कि यह मानस-स्तर बुद्धि से परे अनुभूति के धरातल पर है और उस परम तत्व की अनुभूति उसकी विशालता और विपुलता के कारण मानव को समग्र रूप मे नही हो सकती। वह अपनी साधना द्वारा प्राप्त अन्तश्चेतन दृष्टि से उसका मात्र एक अंश देख पाता है, इसलिए उसके नि·श्रेयस्-सम्बन्धी निष्कर्षों मे विविधता स्वाभाविक है। किन्तु, मोक्ष की परिकल्पना मे जहा प्राचीन ऋषियों को मत-विपर्यय प्राप्त होता है, वही

सन्तो की एतद् सम्बन्धी उपलब्धियों मे आश्चर्यजनक समानता प्राप्त होती है। नि.श्रेयस् सम्बन्धी मतो का साम्य-विपर्यय मानव की ऐकान्तिक साधनाओ की निम्न और उच्च उपलब्धियो का भी द्योतक है। सत्य की अभिव्यक्ति जितनी व्यामिष्ट और सशय सपृक्त होगी, उतनी ही वह निम्न समझी जायगी और जितनी वह स्पष्ट और अभिन्न होगी उतनी ही वह श्रेष्ठ और उच्च मानी जायगी।

कबीर आदि सन्तों के काव्य मे नि:श्रेयस् (मोक्ष) सम्बन्धी उपलब्धियो का स्तर इतना उच्च और महत् है कि वह एतद् सम्बन्धी वैदिक और वेदान्तिक उपलब्धियो से भी विचित्र और महान् प्रतीत होता है। वेदान्त तो अपनी मोक्ष सबंधी उपलब्धि को 'कैवल्य' के रूप मे प्रतिष्ठित करता है, जहा आत्मा अपने को द्वन्द्वातीत और त्रिगुणातीत के रूप मे बिलकुल अकेला पाता है। वेदान्त अध्यात्म की चरम उपलब्धि, जगत का निषेध करके स्वीकार करता है अर्थात् वह ससार की सत्ता स्वीकार ही नही करता, इसके फलस्वरूप उसकी मान्यता मे आनन्द की सत्ता सदिग्ध हो जाती है। इसलिए वेदान्त की नि:श्रेयस्-सम्बन्धी उपलब्धि मे एकागिता का आभास प्राप्त होता है और सुख-दु:ख के स्पन्द से विहीन स्थिति तो जड़ता की पर्याय ही समझनी चाहिए।

सन्तो ने केवली भाव को भी स्वीकार किया है और साथ ही जागतिक सत्ता को भी मान्यता दी है। किन्तु, वे ससीम (जगत्) और असीम (ब्रह्म) से भी परे अध्यात्म की स्थिति को स्वीकार करते है। सन्त कबीर ने सीमा के अन्तर्गत रहने वाले को मानव और असीम स्थिति को प्राप्त करने वाले को साधु और ससीम तथा असीम दोनो स्थितियो को अपने जीवन में प्रतिष्ठित करने वाले व्यक्ति को 'अगाध' मत वाला स्वीकार किया है।[1] कबीर के इस दोहे के अन्तर्गत मानव के मानस-विकास को तीन भागो मे विभक्त किया गया है। उसके मानस की प्रथम स्थिति वह है जहा वह अपने को पशु से भिन्न विवेकशील प्राणी स्वीकार करता है। इस स्थिति मे वह पशु के समान स्वेच्छाचारी नही है, वरन वह अपने हित-अहित को समझता है और इसी कारण मर्यादित जीवन व्यतीत करता है। मानस-विकास की दूसरी स्थिति है मर्यादाओ के बन्धन को तोडकर सुख दु.ख आदि द्वन्द्वो की अनुभूति से ऊपर उठ जाना। यह स्थिति वेदान्त प्रतिपादित कैवल्य-स्थिति के समान है। कबीर ने इसे साधु की स्थिति अथवा ऋषि की स्थिति के रूप मे स्वीकार किया है। किन्तु अध्यात्म की यह चरम उपलब्धि नही है, क्योंकि बेहद (अनन्त) और हद (सान्त) शब्द सापेक्ष है। इसलिये एक की उपस्थिति दूसरी स्थिति का भी आभास देती है, अत:

---

१ हद चले सो मानवा, बेहद चले सो साध।
हद-बेहद दोनों चले, ताको, मतो अगाध॥

इस स्थिति को महत्तम नही कहा जा सकता इसलिए कबीर ने सर्वोपरि आध्यात्मिक उपलब्धि की सत्ता ससीम और असीम के परे स्वीकार की है, जिसका तात्पर्य इन दोनो स्थितियो से निर्लिप्त अथवा अनासक्त भाव प्रतीत होता है। कबीर के अनुसार अध्यात्म की चरम उपलब्धि जल मे कमल पत्र के समान निर्लिप्त रहने की है। कबीर जगत् और ब्रह्म को एकसूत्रित करते प्रतीत होते है। उनके अनुसार एक ही चैतन्य धारा जड और चेतन मे व्याप्त है, इसलिए हमारी चरम आध्यात्मिक स्थिति वह है जिसमे हम जगत् (ससीम) और ब्रह्म (असीम) को स्वीकार करते हुये निर्लिप्त बने रहे।

बड़े दृढ स्वर मे कबीर ने इस आध्यात्मिक स्थिति की सत्ता स्वीकार की है। उनका कहना है कि बिना इस स्थिति को प्राप्त किए मानव माया के प्रपच मे पडता है और बारम्बार आवागमन के चक्र मे फँस कर उत्पन्न होता है और मरता है। उनका यह दृढ मत है कि बिना इस स्थिति की प्राप्ति के चाहे वह नारद शिव अथवा कोई अन्य महान विभूति क्यो न हो, इस भावसागर को पार नही कर सकता। इसीलिए उन्होने सगर्व अपने लिए 'ज्यो की त्यो रख दीनी चदरिया' कहा है। कबीर ने बडे विश्वास के साथ यह स्वीकार किया है कि मानव की चरम आध्यात्मिक उपलब्धि वही है जहाँ वह समदर्शी हो जाता है। सर्वत्र 'राम' को देखता है। उनका कहना है कि वाह्य-विग्रह तो मनुष्य कृत है, नाना नाम रूपादि सभी वाह्य है। इन वाह्य-विग्रहों के भीतर सब एक समान है। हमें उस स्थान मे पहुँचना है, जहाँ न तो हिन्दू है न मुसलमान, न मन्दिर और न मस्जिद।[1] कबीर ने अपनी उस आध्यात्मिक उपलब्धि को 'सहज समाधि' कहा है। 'सहज समाधि' की स्थिति मे 'सुरति' 'शब्द' के साथ 'नैरन्तर्य' प्राप्त कर लेनी है और 'निरति' निराधार हो जाती है। अर्थात् शब्द के साथ तल्लीनता प्राप्त करने के लिए जब सुरति की आवश्यकता नही रहती तब दशम द्वार खुलता है।[2] यही सहज समाधि की स्थिति है। इस स्थिति मे मन केन्द्र से च्युत होता ही नही। अनायास ही यह प्रक्रिया चला करती है।

कबीर के अतिरिक्त अन्य सन्तो ने भी अपनी आध्यात्मिक उपलब्धि की चरमता सहज समाधि मे ही स्वीकार की है। सूफी कवि जायसी ने भी इस स्थिति को इस प्रकार स्वीकार किया है :—

---

१ कितेक सिवसकर गए ऊठि, राम समाधि अजहूं नहिं छूटि।
प्रलै काल कहूं कितेक भाष, गए इन्द्र से अगणित लाष।

कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ९४ (सातवां संस्करण)।
नागरी प्रचारिणी सभा काशी।

२ कबीर ग्रन्थावली पृष्ठ १२, सप्तम संस्करण, नागरी प्रचारिणी सभा काशी।

'हाड भए झुरि किंगरी, नसे भइं सब ताति ।
रोव-रोव से धुनि उठैं, कहेसु विथा एहि भाति ।'[1]

शब्द-मार्गी उस साधक को वह 'शब्द' अस्थि, स्नायु-मण्डल और रोमो की परिखा को पार करके (जो शरीर तक ही सीमित है) समग्र विश्व मे सुनायी पडता है । ऐसी अवस्था मे मन चाह कर भी अन्यत्र जाने मे असमर्थ है ।

जायसी के अतिरिक्त सन्त चरन दास ने भी 'सहज समाधि' को नि.श्रेयस् की चरम उपलब्धि माना है, जो 'सुरति-निरति' का शब्द के साथ योग करने से प्राप्त होती है :

नौ नाडी को खैंचि पवन लै उर मे दीजै ।
बज्जर ताला लाय, द्वार नौ बन्द करीजै ।।१।।
तीनो बन्द लगाय अस्थिर अनहद आराधै ।
सुरति-निरति का काम राह चल गगन अगाध ।।२।।
सुन्न सिखर चढ़ि रहै दृढ जहाँ आसन करै ।
मन चरन दास ताडी लगै सो समदरस कलिमल हरै ।।३।।[2]

चरनदास का 'ताड़ी (शब्द का नैरन्तर्य) लगना' ही वास्तव मे सहज समाधि है । सन्त चरनदास के अतिरिक्त महात्मा केशव दास,[3] सन्त पलटूदास[4] आदि सन्तो ने भी आध्यात्मिक उपलब्धि की चरमता 'सहज समाधि' मे ही स्वीकार की है । सन्तो की नि श्रेयस् सम्बन्धी यह उपलब्धि वास्तव मे चैतन्य की अद्भुत उपलब्धि है । उनकी इस उपलब्धि से यह सिद्ध होता है कि किस प्रकार वाह्य जड़ता से उठकर चेतना अभ्यतर के अनेक सोपानों का अतिक्रमण करती हुई मानस के उस शिखर पर पहुँच गयी है जहाँ वह जगत् मे रहती हुई भी जगत् से परे और जगत् से परे रहती हुई भी जागतिक कार्यों को सुव्यवस्थित ढग से करने मे समर्थ है । वह ससीम भी है और असीम भी और इन दोनो स्थितियो से परे भी है ।

सूरदास और तुलसीदास की अभ्युदय और निःश्रेयस् सम्बन्धी मान्यता

सन्तो के अतिरिक्त भक्त कवियो ने भी मानव की उन्नति के विषय मे विविध स्थापनाएं की हैं। उनका मानव-कल्याणवादी वह दृष्टिकोण भी अभ्युदय और नि श्रेयस् के अन्तर्गत ही आकलित किया जा सकता है । भक्त कवियो मे प्रमुख कवि

---

१ पद्मावत, पृष्ठ ३६३, सपादक डा० वासुदेव शरण अग्रवाल, प्रथम आवृत्ति ।
२ चरनदास की बानी, पृष्ठ ३६ (वेल वेडियर प्रेस, प्रयाग)
३ केशवदास जी का अमीघूट पृष्ठ ९ (वेल वेडियर प्रेस प्रयाग)
४ पलटू साहिब की बानी, पृष्ठ ४६, ५९ (वेल वेडियर प्रेस प्रयाग)

महात्मा सूरदास और गोस्वामी तुलसीदास हुए हैं। महात्मा सूरदास ने मुख्यतया प्रकीर्णक पदो मे ही अपनी रचनाएं की है। उन्होने अपने काव्य के लिए मुख्यतया भगवान कृष्ण का अलौकिक और श्रृंगारी रूप लिया है। गीता के योगी और कर्म-योगी कृष्ण का यदा-कदा ही वर्णन उनके काव्य मे मिलता है। अस्तु, अभ्युदय का पक्ष उनके काव्य मे प्राय उभर नही पाया है। निःश्रेयस् के चित्रण मे उन्होने समष्टि को नही, व्यष्टि को प्राथमिकता प्रदान की है। इस कारण उनके काव्य मे मानव अल्प और सान्त के रूप मे चित्रित हुआ है और कृष्ण विभु के रूप मे। इसलिए उनके द्वारा चित्रित मानव का निःश्रेयस् भगवान की भक्ति है उनके प्रति पूर्ण समर्पण और प्रणति। प्रभु अनुग्रह करके भक्त को निष्पाप करके अपने लोक को भेज देते हैं, जहाँ वह उनका सामीप्य प्राप्त करता है। उनके काव्यान्तर्गत अभ्युदय की स्थापना का यद्यपि स्थूल रूप नही प्राप्त होता फिर भी प्रेम-तरगो के अन्तर्गत भगवान के प्रति राग की जो अन्त. सलिला प्रवाहित होती हुई दृष्टिगोचर होती है उसकी आस्था के भीतर इह लोक का कल्याण भी निहित है, अर्थात् उन्होने मानव के हृदय मे जीवन के प्रति प्रेम और आस्था के भाव जगाये जिनके फलस्वरूप मानव की चतुर्मुखी उन्नति हो सकती है।

गोस्वामी तुलसीदास उस युग के क्रान्तदर्शी कवि थे। उनकी प्रकीर्णक रचनाओ मे तो प्रेम और आस्था के आधार पर निःश्रेयस् प्राप्ति का ही सुगम-मार्ग दिखलाया गया है।[1] कवितावली तथा अन्य ग्रन्थों मे मुख्यतया रामचरितमानस की कथा की प्रायः भावमयी पुनरावृत्ति ही की गयी है। अस्तु, कवितावली आदि मे अभ्युदय की अपेक्षा निःश्रेयस् का ही भक्ति के आलंबन मे चित्रण हुआ है। किन्तु उनके महाकाव्य रामचरित मानस मे अभ्युदय और निःश्रेयस् का मंजुल सगुम्फन प्राप्त होता है।

रामचरित मानस मे भगवान के मानव और अवतार रूप का चित्रण किया गया है। भगवान राम को एक ऐसे मानव के रूप मे चित्रित किया गया है जो अत्यन्त मर्यादित है, इसीलिए भगवान राम को मर्यादापुरुषोत्तम की संज्ञा भी दी गयी है। तात्पर्य यह कि गोस्वामी जी ने भगवान राम के चरित्र का प्रारम्भ वहा से किया है, जहा मानव पाशव गुणों से सर्वथा मुक्त हो गया है। रामचरितमानस मे अभ्युदय की प्रकृष्ट कल्पना मर्यादा की चरमता मे व्याप्त होती है। गोस्वामी जी का अभिमत था कि जीवन मे सम्यक् मर्यादा ही रामराज्य की कल्पना को साकार कर सकती है। रामचरितमानस की रामराज्य की कल्पना ही अभ्युदय की चरम उपलब्धि कही जा सकती है। राम के राज्य मे कही शोक का चिन्ह नही रह गया था और न कही विषमता ही दृष्टिगोचर होती थी। समस्त मानव-समाज वर्णाश्रम धर्म का पालन

१ विनय पत्रिका और दोहावली की रचनाएं।

करता था और अपने कर्त्तव्यो मे रत था और इसीलिए न तो कोई भयभीत होता था और न शोक और रोग को अवकाश था। तीनो तापो (दैहिक, दैविक और भौतिक) से कोई भी व्यक्ति सतापित नही था, सभी परस्पर प्रेम-पूर्वक जीवन-यापन करते थे। सभी को धर्म की आस्था और भगवान राम के प्रति भक्ति थी। पाप का चिन्तन वे स्वप्न मे भी न करते थे। न कोई दरिद्र था न मूर्ख और कुलक्षण।[1] और इस प्रकार की राज्य-व्यवस्था के व्यवस्थापक वे राम थे, जो सर्वथा अलौकिक और परात्पर थे और मानव-कल्याण तथा आसुरी वृत्तियो को सर्वांशत: नष्ट करने के लिए मानव रूप मे अवतरित हुए थे। विभु की भावना रूप मे अवतारणा मानसकार की लोक मगल की महत् ही नही अद्भुत कल्पना है। मानसकार की इसी दृष्टि मे अभ्युदय का सर्वोत्कृष्ट रूप प्राप्त होता है। अभ्युदय की प्राप्ति के लिए मानसकार ने मानव देह धारी भगवान राम को अनेक सयमो और मर्यादाओ की प्रतिष्ठा करते हुए दिखाया है। इन मर्यादाओ की तालिकान्तर्गत नारी और पुरुष की आदर्श रूप मे प्रतिष्ठा प्रमुख है। नारी की चारित्रिक मर्यादा का बाध गोस्वामी जी ने अनुसूया द्वारा सीता को उपदेश देते हुए बाधा है। पातिव्रत धर्म का उक्त उपदेश नारी की सामाजिक प्रतिष्ठा तथा नि श्रेयस् की उपलब्धि का महान मत्र कहा जा सकता है, इसे असदिग्ध रूप मे स्वीकार किया जा सकता है।[2] पुरुष की चारित्रिक मर्यादा के स्वरूप की प्रतिष्ठा स्वय भगवान राम के मुख से कहलायी गयी है।[3] भगवान राम सीता को पुष्प बाटिका मे देखकर अभिभूत हो गए। उनके सहज पवित्र मन मे मोह का अकुर उग आया। किन्तु, जितने सहज रूप से यह सब हो गया, उतने ही सहज रूप मे उन्होने बिना किसी गोपनीयता के अपने मानसिक विक्षोभ को अपने अनुज लक्ष्मण से बता दिया। इससे उनके कुण्ठा-रहित चरित्र पर प्रकाश पड़ता है। उन्होने अपने परम्परागत जातीय चरित्र की महत्ता और विशेषतया अपने चरित्र की स्वाभाविक दृढता का जो वर्णन किया है, उससे रामचरित मानस के रचयिता को पुरुषो और राष्ट्र तथा सर्वोपरि विश्व के चरित्र मे किन गुणो कीअभीप्सा रही है, विशद रूप से प्रकाश पडता है। भगवान राम बडी दृढता के साथ कहते है कि प्रत्येक रघुवशी का यह सहज स्वभाव है कि उसका मन कुपथगामी होता ही नही, और उन्हे अपने मन पर पूर्ण विश्वास है जिसने स्वप्न मे भी पर स्त्री पर दृष्टि नही डाली। उनके वश

१ रामचरितमानस, उत्तर काण्ड, (मूलगुटका, गीता प्रेस, चौदहवा सस्करण) पृष्ठ ६०७-६०८

२ रामचरितमानस, लघु सस्करण, पृष्ठ ४०९ (गीता प्रेस गोरखपुर १४ वां सस्करण)

३ रामचरितमानस, लघु सस्करण, पृष्ठ १६२ (गीताप्रेस गोरखपुर १४ वां सस्करण)

में शत्रु के समक्ष कभी कायरता का परिचय नहीं दिया गया और कभी भिक्षुक को विमुख नहीं किया गया। गोस्वामी जी ने भगवान राम के मुख से यह बात कहला कर जहां पुरुष की चारित्रिक मर्यादा का आदर्श प्रतिष्ठित किया है, वही यह भी मर्यादा कायम की है कि ज्ञान का प्रसारण सदा ऊंचे से नीचे को होता है इसलिए नेता को सर्वगुण सम्पन्न होना चाहिए। उपर्युक्त अनुसुइया और भगवान राम द्वारा प्रतिष्ठित गुणों की प्रतिष्ठा यदि नारी-पुरुष के चरित्र में हो जाय तो इसमें सन्देह नहीं कि सामाजिक जीवन स्वर्गीय आनन्द का प्रतिरूप बन जाय।

अभ्युदय की प्रतिष्ठा के प्रसंग मे नारी-पुरुष की शारीरिक मर्यादा की प्रतिष्ठा के अतिरिक्त राष्ट्र के अन्य अंग-उपांगों की व्यवस्था की ओर भी मानसकार की दृष्टि गयी है। सुग्रीव और राम की मैत्री के माध्यम सें उनके राजनीतिक दृष्टिकोण पर तो प्रकाश पडता ही है, साथ ही इस बात पर भी प्रकाश पडता है कि पारस्परिक सहयोग से कोई भी कार्य दुष्कर नही रह जाता। मित्रता के गुणो को स्थिर करते हुए उन्होने समाज मे पारस्परिक विश्वास की भावना को दृढ करने का प्रयास किया है, जो यद्यपि कथा-प्रसग मे ही हुआ है; फिर भी उसका तात्कालिक और शाश्वत महत्व है।[1] इस प्रकार गोस्वामी जी ने समग्र रामचरित मानस मे अभ्युदय की उपलब्धि के विविध सोपान स्थिर किये हैं जिनके अनुसरण से अभ्युदय की चरम उपलब्धि की सम्भावना की जा सकती है।

गोस्वामी जी की निःश्रेयस् भावना

गोस्वामी जी कवि तो थे ही, किन्तु कवि की अपेक्षा महान् सत और भक्त भी थे। इसलिए उनके अभ्युदय के साथ नि.श्रेयस् भावना इस प्रकार लिपटी हुई है कि सहसा पृथक् नही किया जा सकता। ऊपर अभ्युदय की उपलब्धि के लिए जो प्रमाप उन्होने स्थिर किए हैं वे इतने प्रकृष्ट है कि अवतार रूप मे उन्हे नि श्रेयस् का पर्याय भी समझा जा सकता है। किन्तु, उपर्युक्त समग्र चारित्रिक गुणो की मानव-चरित्र मे अवतारणा किसी महद् उपलब्धि की भूमिका सी जान पड़ती है। यद्यपि उपर्युक्त गुणो की प्राप्ति मानव के लिए ससार मे साधारण उपलब्धि नही है, फिर भी गोस्वामी जी को इससे भी महान् वस्तु की निःश्रेयस् के रूप में प्रतिष्ठा करना अभीष्ट रहा है। रामचरित मानस मे उस समय मे प्रचलित नि.श्रेयस् सम्बन्धी सभी मतो का विस्तार से वर्णन प्राप्त होता है। किन्तु गोस्वामी जी का मन उन सभी बातो के विवाद मे नही रमा। उनके लिए तो निःश्रेयस् की सबसे बड़ी उपलब्धि

---

१ रामचरितमानस, किष्किन्धाकाण्ड, पृष्ठ ४४९ (लघु संस्करण १४ वां गीता प्रेस गोरखपुर)

इस विचार में प्राप्त होती लगती है कि 'हौं सेवक सचराचर रूप राशि भगवंत' अथवा 'सीय राम मय सब जग जानी, करहुं प्रनाम जोरि जुग पानी।' गोस्वामी जी की नि श्रेयस् की इस मान्यता मे जहां एक ओर सर्वत्र ब्रह्म की प्रतीति होती है, वही मन से अहकार के निरसन के साथ सेवा की भावना का जो उत्स प्रवाहित होता हुआ दृष्टिगोचर होता है वह समाज के लिए कितना वरेण्य और लाभप्रद है, उसके महत्व को अस्वीकार नही किया जा सकता। वास्तव मे समग्र जगत् को ब्रह्म का स्वरूप मानकर अपने कर्त्तव्य को करने मे गोस्वामी जी को नि.श्रेयस् का सर्वोत्कृष्ट रूप दिखा था। उनकी नि श्रेयस् सबधी इस प्रतिष्ठा से जहा मन अहकार रहित होकर प्रभु का आवास बन जाता है वही व्यक्ति क्रियाशील भी बना रहता है। गोस्वामी जी को अकर्मण्यता किसी भी स्थिति मे स्वीकार्य नही थी। वस्तुत: नि:श्रेयस् का यह आदर्श जहां एक ओर मानस के सर्वोच्च धरातल को स्पर्श करता है, वही वह मानव को अपने कर्त्तव्य से भी सचेष्ट रखता है।

आधुनिक काव्य और मानव-सम्बन्धी-चिन्तन

उपर्युक्त वैदिक, औपनिषद्, पौराणिक, महाकाव्य कालीन सतो तथा भक्त कवियो के कृतित्व के विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुचते है कि मानव-सबंधी चिन्तन के अभ्युदय और नि:श्रेयस् के युग्म मे इस प्रकार अनुस्यूत रहा है कि उनके बीच किसी प्रकार की विभाजक-रेखा खींचना सर्वथा असभव है। दूसरे शब्दो मे कहा जा सकता है कि वे मानव को खण्डश. नही, समग्र रूप मे, पूर्ण इकाई मे देखते रहे है। उनकी यह चिन्तना कितनी पूर्ण और भव्य है, जानकर चकित रह जाना पड़ता है।

रीतियुगीन कवियों ने प्राय: मानव-सम्बन्धी-चिन्तना को विराम दे दिया और वे नारी-पुरुष के यौन सम्बन्धो का अश्लीलता की वीभत्सता की सीमा तक चित्रण करते रहे। इस चित्रण मे भावना विकृत हुई और काव्य-शिल्प भी 'कार्बन कापी' के समान प्रत्येक कवि की कविता मे प्रतिष्ठित दिखाई पडा। हम इस काल को मानव चिन्तना के किसी भी रूप का चित्रण करते नही पाते। इस दृष्टि से यह काल अधिकाशत: अगति-काल कहा जा सकता है।

आधुनिक हिन्दी काव्य का प्रारम्भ भारतेन्दु से माना जाता है। भारतेन्दु जी ने खण्डित-मानव सम्बंधी काव्य-धारा मे प्राण प्रतिष्ठा की। एक बात ध्यान देने योग्य है कि मानव-सम्बन्धी अथवा किसी प्रकार का अन्य चिन्तन अपने देश-काल के परिवेश मे होता है। देश-काल के अनुसार ही इस चिन्तन मे कभी एक पक्ष तथा कभी दूसरे पक्ष पर मानव के विषय में मनीषी कवि अधिक प्रकर्ष देते रहे हैं। भारतेन्दु का काल भारत की दासता का काल रहा है। इसलिए उन्होंने मानव के

अभ्युदय पक्ष पर विशेष ध्यान दिया है। अपने 'भारत दुर्दशा' नामक काव्य रूपक मे उन्होने विस्तार से अनेक प्रतीकों के माध्यम से प्रकाश डाला है। उनकी नि.श्रेयस् सम्बन्धी चिन्तना भक्त कवियो जैसी ही रही। ये कृष्ण के भक्त थे और इसीलिए उनके प्रति सर्वतोभावेन समर्पित थे। 'ब्रज के लता-पता मोहि कीजै' से उनके आत्म-समर्पण की भावना का पता चलता है। वे अपने नि श्रेयस्–सम्बन्धी चित्रण मे अपने को विभु से पृथक् कर उस सामीप्य मे ही आनन्द को प्राप्त करने के पक्ष मे रहे है। भारतेन्दु के काल से ही मानव के अभ्युदय को निःश्रेयस् से पृथक् करने का प्रयास दृष्टिगोचर हुआ। भारतेन्दु जी के काव्य मे यह विभाजक रेखा चाहे कितनी ही सूक्ष्म क्यो न हो, उसकी स्पष्टता मे किसी प्रकार का सन्देह नही किया जा सकता।

द्विवेदी युग मे उस सूक्ष्म रेखा को जो मानव विषयक चिन्तना को भारतेन्दु काल की कविता से ही पृथक् करने मे सचेष्ट थी, स्थूलता प्राप्त हुई और मानव के अभ्युदय तथा नि श्रेयस् पक्ष के संवर्द्धन मे अनेक कवियो के पृथक् पृथक्-प्रयास दृष्टिगोचर हुए। उस युग के प्रथम दो कवियो श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' तथा श्री मैथिलीशरण गुप्त के काव्य मे मानव चिन्तन-सम्बन्धी प्रयास समग्र रूप से होता है। मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत-भारती' मे प्राचीन भारत के गौरवगान के माध्यम से मानव को अभ्युदय के प्रति प्रबुद्ध होने के लिए जागरूक करने का प्रयास दृष्टिगोचर होता है। 'जयद्रथ-बध' मे मानव को कर्मण्य बनाने का प्रयत्न स्पष्ट है। 'साकेत' के अन्तर्गत मानव की अन्तर्वृत्तियो के उदात्तीकरण का उत्कृष्ट चित्र प्राप्त होता है। उर्मिला के चित्रण मे कवि ने जिस आत्म निवेदन तथा प्रणति का चित्र साकार किया है, वह निःश्रेयस् की उपलब्धि का कितना महत् संबल है, बताने की आवश्यकता नहीं। इसी प्रकार 'साकेत' के भरत के चरित्र मे अभ्युदय और निःश्रेयस् के सगुंफन का प्रयास भी अत्यन्त उत्कृष्ट रूप मे हुआ है।

श्री 'हरिऔध' ने भी अपने प्रिय-प्रवास मे कृष्ण और राधा के चरित्रों मे अभ्युदय और नि.श्रेयस् के युग्मो का सफल गठबंधन किया है। यहाँ भी कृष्ण और राधा के चरित्र मे सक्रियता को ही प्रधानता दी गयी है। अभ्युदय को कर्म के तथा नि.श्रेयस् की सेवा के अन्तर्गत देखने की श्री 'हरिऔध' ने चेष्टा की है। द्विवेदीयुग के अन्तर्गत मुख्यतया मानव-चिन्तना के ये ही वर्ग रहे है। इन दोनो मे भी चेष्टा अभ्युदय की ही ओर अधिक रही है, निःश्रेयस् मानव के चारित्रिक मूल्यों के अतर्गत सिमटा दृष्टिगोचर होता है।

छायावादी युग और मानव

हिन्दी के समीक्षको की विभिन्न परिभाषाओ के परिशीलन से प्रायः एक ही निष्कर्ष निकलता है कि छायावाद की हिन्दी-काव्य-प्रवृत्ति बाह्य की अपेक्षा आभ्यंतर

और स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म के चित्रण पर विशेष प्रकर्ष देती है ।[1] इस बात से डा० नामवर सिंह के समान समीक्षक भी सहमत है कि 'छायावाद' मे पर्याप्त मात्रा मे सूक्ष्मता पायी जाती है ।[2] छायावाद के प्रति डा० नगेन्द्र का यह अभिमत अत्यन्त सटीक है कि काव्य की यह प्रवृत्ति स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह है । छायावाद सम्बन्धी प्राय. सभी अभिमतो से हम एक ही परिणाम पर पहुचते है कि इस युग के कवियो को कल्पना की रगीन महीनी के साथ वाह्य की अपेक्षा मानव की आभ्यतर वृत्तियों का चित्रण अभीष्ट रहा है । 'प्रसाद' जी छायावाद युग के प्रवर्तक माने जाते हैं ।[3] अतएव सर्व प्रथम उन्ही के काव्य से मानव-सम्बन्धी विचारो को देखने की चेष्टा की जा रही है।

प्रसाद जी का मानव-विषयक चिन्तन

प्रसाद जी की मानव-सम्बन्धी चिन्तना का परिवेश उनकी कविताओ मे प्रायः आभ्यंतर मूलवर्ती श्रेयस्करी-वृत्तियो के उदात्तीकरण का रहा है । उन वृत्तियों को हम प्रमुख रूप से दो वर्गो मे विभक्त कर सकते है— (१) सौन्दर्य सम्बन्धी तथा (२) अध्यात्म-सम्बन्धी । प्रसाद जी का सौन्दर्य-भाव सकुचित नही है, वरन् उसकी व्याप्ति 'सत्य और शिव' तक है ।[4] वास्तव मे वे सौन्दर्य को ही समग्र विश्व मे व्याप्त मानते है और इस प्रकार हम उन्हे सौन्दर्य का कवि कह सकते है ।[5] इससे यह सिद्ध होता है कि वे कविता की भूमिका स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म तथा चिन्तन की अपेक्षा अनुभूति पर मानते है । प्रसाद जी की यह सौन्दर्य दृष्टि सासारिक अथवा भौतिक

---

१ उनकी (छायावादी कवियो की) कविता देवी की आखें सदैव ऊपर की ओर उठी रहती है, मर्त्यलोक से उसका बहुत कम सम्बन्ध है, वह बुद्धि और ज्ञान की सामर्थ्य-सीमा को अतिक्रम करके मन-प्राण के अतीत लोक में ही विचरण करती है ।

(श्री शारदा, सन् १९२० के जुलाई, सितम्बर, नवम्बर और दिसम्बर अक विशेष दृष्टव्य)

मुकुटधर पाण्डेय के अतिरिक्त सन् १९२१ की 'सरस्वती' के जून अक मे श्री सुशील कुमार का 'हिन्दी छायावाद' शीर्षक सवादात्मक निबन्ध, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का 'काव्य मे रहस्यवाद' निबन्ध, आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी का 'महादेवी वर्मा' शीर्षक निबन्ध (हिन्दी साहित्य. बीसवी शताब्दी) भी इस सन्दर्भ मे दृष्टव्य है ।

२ छायावाद : डा० नामवर सिंह पृ० १३ प्रथम सस्करण ।

३ 'प्रसाद' का विकासात्मक अध्ययन पृ० ७३ ।

४ आसू, पृ० १६

५ काननकुसुम, पृ० ५१

नही है, वरन् वे आध्यात्मिक सौन्दर्य के उपासक हैं और उन्होंने 'सुन्दरतम की सुन्दरता' से सम्पूर्ण विश्व को आच्छादित पाया है।[1] सौन्दर्य का आनन्द के साथ अटूट सम्बन्ध बतला कर 'प्रसाद' जी ने उसे अलौकिक बना दिया है। उनके 'आँसू' काव्यान्तर्गत उनकी एतद्विषयक् दृष्टि स्पष्ट है।[2]

'प्रसाद' के काव्य मे मानव-वृत्तियों के उदात्त-चिन्तन का रूप यों तो उनकी समग्र रचनाओं मे यत्किंचित उपलब्ध होता है; किन्तु इसका स्पष्ट तथा विकसित रूप क्रमश आसू और तदुपरान्त कामायनी मे विशद रूप से प्राप्त होता है। आँसू के अन्तर्गत जो मानव के प्रेम, सौन्दर्य, विरह-वेदना आदि को आध्यात्मिक रूप देने की चेष्टा दृष्टिगोचर होती है, उसी चिन्तन-सरणि का अधिक स्पष्ट और समग्र रूप हमे उनके महाकाव्य कामायिनी मे प्राप्त होता है। 'आँसू' और 'कामायनी' दोनो मे मानवता के प्रति प्रेम और सौन्दर्य की व्यजना हुई है।

मानव की उपर्युक्त आभ्यंतर वृत्तियो के उदात्तीकरण के प्रयास के अतिरिक्त 'प्रसाद' जी के काव्य मे लौकिक उन्नति अथवा मानव के अभ्युदय के विषय मे भी यत्र-तत्र कुछ प्रयास दृष्टिगोचर होता है। यद्यपि प्रसाद जी का यह प्रयास अधिकाशत: उनके नाटको और विशेषतया उपन्यासों मे अधिक हुआ है; किन्तु उनके काव्य के अन्तर्गत भी ऐसा प्रयास दिखायी पड़ता है। 'कामायनी' के 'सघर्ष' सर्ग मे अभ्युदय-सम्बन्धी इस दृष्टि का परिचय मिलता है। किन्तु आभ्यतर वृत्तियों का चित्रकार यह कवि स्थूल के चित्रण मे अधिक रस नही पाता, इसलिए वह मानवता को उदात्त गुणों से सजाने के लिए सर्वत्र सचेष्ट दिखायी पडता है। 'संघर्ष' की अभ्युदय-सम्बन्धी दृष्टि के भीतर भी 'प्रसाद' जी की नि.श्रेयस् चिन्तना-परक दृष्टि स्पष्ट दिखलायी पड़ती है।

'प्रसाद' जी के मानव-सम्बन्धी चिन्तन का समापन

(१) 'प्रसाद' जी आनन्दवादी हैं और वे उपनिषदो की ही भाति विश्वास करते हैं कि आनन्द से ही जीवो की सृष्टि होती है, आनन्द मे ही वे निवास करते हैं और अन्त मे वे उसी मे लीन हो जाते है।[3] अतएव वे मानव के लिए भी आनन्दोपासक बनने का सन्देश देते है।

(२) वे मानव के लिए सर्वत्र एकता, समता, भ्रातृत्वभाव, समन्वयशीलता, विश्व-बन्धुत्व आदि उदात्त गुणो को अपने व्यक्तित्व के भीतर उतारने का सन्देश देते हैं।

(३) वे मानव के अन्तर्गत व्यापक सौन्दर्य-दृष्टि उत्पन्न करने के कामी है।

---

१ प्रेम पथिक, पृ० २४

२ आँसू, पृ० २५

३ तैत्तरीय उपनिषद् १/६

(४) वे भौतिकवाद के आडम्बरपूर्ण तथा सघर्षमय जीवन के कटु आलोचक है और उसके स्थान पर अध्यात्म परक जीवन को प्रतिष्ठित करना चाहते है, जो सरल, शुद्ध, सात्विक एव सन्तोषप्रद होता है।

इस प्रकार 'प्रसाद' जी मानवता मे ही स्वर्गीय जीवन का चरम रूप देखते हैं। दूसरे शब्दो मे हम कह सकते है कि वे लौकिक जीवन को आध्यात्मिक परिवेश मे ही देखना चाहते है। जहा वह अधिक सतोष और सुन्दरता के साथ जिया जा सकता है।

'निराला' और 'पन्त' की मानव-सम्बन्धी विचारधारा

'निराला' और मानव

'प्रसाद' जी के पश्चात् जिन छायावादी कवियों ने मानव के विषय मे समग्र रूपेण चिन्तन किया है, उनमे 'निराला' और 'पत' अग्रगण्य है। सर्व प्रथम हम 'निराला' जी के काव्य से एतद्विषयक् विचारणा देखेंगे। 'निराला' जी ने मानव के बाह्य और आभ्यतर दोनो पक्षो के विकास की ओर ध्यान दिया है। यह बडी विचित्र बात है कि जब उस युग के अन्य कवि मानव की आन्तर वृत्तियो-प्रेम, विरह करुणा, शौर्य आदि के महनीय चित्र उपस्थित कर रहे थे, 'निराला' जी की दृष्टि मानव के बाह्य वैषम्य की ओर भी गयी थी जिसको कुछ आलोचको ने छायावाद की मूलवर्ती धारा के अन्तर्गत ही स्वीकार करने का आग्रह प्रकट किया है। अस्तु, जहाँ हम 'निराला' जी के काव्य मे मानव के आभ्यतर का चित्र कल्पना की सूक्ष्मता और अनुभूति की गहरायी के साथ अकित पाते है, वहाँ उसकी माँसल-स्थूलता को भी पूरी ईमानदारी के साथ अकित हुआ देखते है। काव्य के 'विषय' के विषय मे उन्होने स्वय लिखा है, 'जिस समय से देश पराधीनता के पिंजड़े मे वन विहगम की तरह बन्द कर दिया गया है, उस समय से लेकर आज तक उसकी अवस्था का दर्शन, उससे सहानुभूति, उसकी अवस्था का प्रकटीकरण आदि उसके सम्बन्ध के जितने काम है, इनकी सीमा कवि कर्म के भीतर ही समझी जाती है। क्योकि प्रकृति का यथार्थ अध्ययन करने वाला कवि ही यदि देश की दशा का अध्ययन न करेगा तो फिर कौन करेगा ?'[1] इस उद्धरण से यह प्रकट होता है कि 'निराला' जी लोक के स्थूल चित्रण को जो मानव के अभ्युदय से सबध रखता है किस प्रकार कवि के लिये आवश्यक समझते थे। साहित्य के प्रसग मे प्रान्तीय-साहित्य-सम्मेलन फैजाबाद मे भाषण करते हुये उन्होने काव्य की आधारभूत भावनाओ की सार्वभौमता की स्वीकृति इन शब्दो मे दी थी, 'साहित्य दायरे से छूट कर ही साहित्य है। साहित्य वह है जो साथ है, वह है जो संसार की सबसे बड़ी चीज है। साहित्य लोक से, सीमा से, प्रान्त से, देश से, विश्व से ऊचा उठा हुआ है, इसीलिए वह लोकोत्तरानन्द दे सकता है। लोकोत्तर का

---

१ रवीन्द्र-कविता-कानन, पृष्ठ ५२।

अर्थ है 'लोक' जो कुछ देख पड़ता है, उससे और दूर तक पहुँचा हुआ। ऐसा साहित्य मनुष्य-मात्र का साहित्य है, भावो से केवल भाषा का एक देशगत आवरण उस पर रहता है।'[1] इस प्रकार 'निराला' जी काव्य को मानव के लोक और अध्यात्म, अभ्युदय और निःश्रेयस् की व्याख्या मानते है। और उन्होने अपने काव्य मे मानव के इन उभय पक्षो को समृद्ध बनाने की चेष्टा की है।

'निराला' जी के काव्य में मानव के इहलौकिक अथवा अभ्युदय सम्बन्धी विचार :—

सर्व प्रथम हम 'निराला' जी के काव्य के उद्धरणों से उनके मानव के अभ्युदय-सम्बन्धी विचारो का परीक्षण करेंगे। 'निराला' जी के प्रगतिवादी आलोचको ने उनकी इस प्रकार की रचनाओ को जनवादी साहित्य के अन्तर्गत लिया है। उनके विचार से 'निराला' जी ही हिन्दी के एक मात्र कवि हैं जो धरती के कवि है और जिन्होने मानव के लौकिक जीवन के सुख-दु.खो पर विशाल रूप से प्रकाश डाला है, मानवता की प्रगति की अवरोधक समस्याओ के समाधान की चेष्टा की है।[2] इसमे कोई सन्देह नही कि श्री 'निराला' जी ने मानव के सुख दु ख, हर्ष-विषाद को सीधे मानवीय धरातल पर प्रतिष्ठित करके देखा है, किन्तु वे अपने काव्य को मानवता के स्थूल-चित्रण तक ही सीमित रखते हुए नही प्रतीत होते। उन्होने स्वयं अपने कवि के विषय मे लिखा है, 'वे तो (निराला जी) सिर्फ मनोरंजन के लिए काव्य-साधना करते है, किसी उत्तरदायित्व को लेकर नही। उनकी आँखो मे दूर तक फैली हुई निगाह नही है। कौन से भाव सार्वजनीन और कौन से एकदेशीय है, उन्हे पता नही।'[3] इस उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके कवि को किसी प्रकार का बन्धन स्वीकार नहीं है, वह तो सर्वथा निर्बन्ध है। जो परिस्थिति उसे भावित या प्रेरित करती है, उसी का चित्र पूरी ईमानदारी से वह उतारता है।

हृदय के इन्ही स्वच्छन्द सवेदनों के द्वारा उन्होने अपने काव्य के माध्यम से लोक-समस्याओं के भरपूर चित्र अकित किए हैं। उनके 'परिमल' नामक काव्य-संग्रह मे 'विधवा' तथा 'भिक्षुक' शीर्षक रचनाए करुण-चित्रो के अप्रतिम उदाहरण हैं। 'विधवा' का करुण रेखाचित्र कवि ने किस मार्मिकता से खीचा है, देखिए :

वह इष्ट देव के मन्दिर की पूजा-सी,
वह दीप-शिखा सी शान्त, भाव मे लीन,

---

१ प्रबन्ध-प्रतिमा, पृष्ठ २५८-२५९।

२ महाकवि 'निराला'—लेखक डा० रामविलास शर्मा, रूपतरग (कविता-सग्रह, लेखक डा० रामविलास शर्मा, पृष्ठ ६१, 'अर्चना' शीर्षक रचना)

३ चाबुक, पृष्ठ ४६।

वह क्रूर काल-ताण्डव की स्मृति-रेखा-सी,
वह टूटे तरु की छुटी लता-सी दीन—
दलित भारत की ही विधवा है'[1]

'विधवा' के अतिरिक्त 'परिमल' की 'भिक्षुक' शीर्षक रचना भी अपनी सटीकता मे अनुपम है। इस रचना मे कवि ने भिक्षुक के माध्यम से वेदना-करुणा को ही मानो मूर्त कर दिया हो :

'वह आता—
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।
पेट पीठ दोनो मिल कर है एक,
चल रहा लकुटिया टेक,
मुट्ठी भर दाने को-भूख मिटाने को
मुह फटी पुरानी झोली को फैलाता—
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।'[2]

किन्तु, भिक्षुक का सर्वाधिक करुण-चित्र तो कवि ने अन्तिम पक्तियो मे उरेहा है, जिसमे करुणा के साथ-साथ मानवता के इस ईमानदार कवि के हृदय मे श्रीमानो के प्रति तलखी के भाव भी उभर आए है ·

भूख से सूख ओंठ जब जाते
दाता भाग्य विधाता से क्या पाते?—
घूट आँसुओ के पीकर रह जाते।
चाट रहे जूठी पत्तल वे कभी सड़क पर खड़े हुए,
और झपट लेने को उनसे कुत्ते भी है अड़े हुए।'[3]

इन रचनाओ के अतिरिक्त 'परिमल' की 'जागो फिर एक बार' शीर्षक उद्बोधन-कविता मे कवि ने प्राचीन अभ्युदय के चित्रण द्वारा दासता के पाशो को तोड़ने का देशवासियो को सन्देश दिया है। इस रचना मे कवि ने देह-भाव से ऊपर मानव की ब्राह्मी स्थिति पर, उसके वास्तविक स्वरूप पर वेदान्त के अनुसार भी प्रकाश डाला है।[4] कवि का यह मन्तव्य रहा है कि हम अपने को पार्थिव समझ कर किसी भी शारीरिक क्षति पहुचाने वाले कार्य से भयभीत होते हैं। किन्तु वास्तव मे देह तो मात्र आवरण है, जो नष्ट होगी ही और आत्मा अविनश्वर है, इसलिए भय का कारण अज्ञानता है। कवि के इस मत से हमे जीवन मे क्रियात्मक होने की प्रेरणा प्राप्त

१ परिमल, पृष्ठ १२६ द्वितीयावृत्ति
२ वही १३३ ,,
३ वही १३३-१३४ ,,
४ वही २०३

होती है । इस रचना मे कवि ने मानव के भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनो पक्षों को समन्वित करने की चेष्टा की है ।

'अनामिका' काव्य-सग्रह मे संग्रहीत कवि की 'खंडहर' के प्रति'[1] तथा 'दिल्ली'[2] शीर्षक रचनाओ मे कवि ने भारत के गत-गौरव तथा अभ्युदय समृद्धि के स्मरण के माध्यम से देशवासियो को दासता के पाश को तोडने के लिए सचेष्ट किया है तथा 'उद्‌बोधन'[3] शीर्षक कविता मे देशवासियो की स्नायुओ मे नूतन रक्त का सचार करने की चेष्टा है, जिससे वे प्राचीनता के निर्मोक को त्याग कर नूतन भारत निर्माण करें जो अभ्युदय के चूडान्तो को स्पर्श कर सकता है। 'तोड़ती पत्थर'[4] शीर्षक रचना मे कवि ने पत्थर तोड़ने वाली एक महिला के चित्र के द्वारा भारतीय जनता का ही मानो करुण-चित्र उतार कर रख दिया है। इस रचना मे दैन्य और अत्याचार तथा पूंजीवादी और सर्वहारा का इतना महनीय चित्र अकित हुआ है कि उसकी मार्मिकता से भावित हुए बिना कोई पाठक नही रह सकता। इस सग्रह की 'सरोज-स्मृति'[5] शीर्षक मार्मिक रचना भी भारतीय लोक-जीवन की अन्यतम उदाहरण है। यह रचना कवि ने अपनी पुत्री के निधन से प्रेरित होकर लिखी है। इसमे कवि-हृदय की मार्मिक वेदना का चित्र तो है ही, साथ ही समाज की कुरूपता भी अपनी पूर्ण यथार्थता के साथ रूपायित हो गयी है। लोक-जीवन के वैषम्य की भूमिका के सन्दर्भ मे 'निराला' जी की एक रचना 'कुकुरमुत्ता'[6] भी विशिष्ट और महत्वपूर्ण है। इस रचना मे कवि ने उच्च और निम्नवर्गों का सटीक चित्र उपस्थित किया है। इसके अतिरिक्त 'निराला' जी के अन्य काव्य-संग्रहो मे भी उनका लोक-जीवन संबधी मत उल्लिखित सदर्भ मे ही देखा जा सकता है।

'निराला' जी के काव्य में निःश्रेयस् सम्बन्धी विचार-धारा

'निराला' जी के काव्य मे लोक के अभ्युदय-सम्बन्धी चित्रणों के अतिरिक्त मानव के आभ्यंतर विकास के सूक्ष्म-चित्र भी अत्यन्त व्यापक और महनीय धरातल

---

१ अनामिका, पृष्ठ २९

२ वही, पृष्ठ ५८

३ वही, पृष्ठ ६७

४ वही, पृ० ७९

५ वही, पृष्ठ ११७

६ कुकुरमुत्ता, प्रथम संस्करण, सन् १९४२, प्रकाशक, युग-मन्दिर, उन्नाव

पर अधिष्ठित हुए उपलब्ध होते हैं। इन आन्तर-चित्रों का आभास, प्रेम, करुणा, सहानुभूति एवं आध्यात्मिक उपलब्धियों तक व्याप्त दृष्टिगोचर होता है। उनके प्रथम काव्य सग्रह 'परिमल' से ही मेरे उपर्युक्त मत को समर्थन प्राप्त होता है। 'परिमल' मे संग्रहीत, 'तुम और मैं'[1] शीर्षक रचना मे कवि ने मानव और विभु का अन्योन्याश्रित सबध स्थिर किया है। उसके मत से मानव, ब्रह्म से जल-बुद्बुद् अभिन्न है। श्री 'निराला' जी ने अपने इस अभिमत से मानव को उसके स्वरूप का अभिज्ञान कराने की चेष्टा की है। इसी सग्रह की 'माया'[2] शीर्षक रचना मे 'माया' के अनेक प्रलोभनकारी विग्रह के माध्यम से कवि ने उसका परिचय तो दिया ही है, साथ ही व्यजना से उससे ऊपर जाने का निर्देश भी किया है, जो लोक के इन आकर्षक आवरणों से भिन्न एक अन्य ही पदार्थ है, कदाचित् अपना स्वरूप। 'कण' शीर्षक रचना मे कवि ने मानव के सभी सूक्ष्म-आयामों, अध्यात्म, प्रेम, विरह और सहानुभूति को नापने की चेष्टा की है। इस रचना मे कवि ने मानव के आध्यात्मिक अथवा आन्तर विकास का तो विशद वर्णन किया ही है, अभ्युदय के लिए भी कितना मार्मिक संकेत किया है :

ताक रहे आकाश,
बीत गए कितने दिन-कितने मास।
पडे हुए सहते हो अत्याचार
पद-पद पर सदियों के पद-प्रहार,
बदले मे, पद में कोमलता लाते,
किन्तु हाय वे, तुम्हे नीच ही है कहे जाते।

'निराला' जी की इस रचना के अन्तर्गत उनका मानव-सम्बन्धी समग्र दृष्टिकोण रूपायित हो गया है। इसके अतिरिक्त 'अनामिका' की 'सम्राट अष्टम एडवर्ड के प्रति'[4] शीर्षक रचना मे कवि ने प्रेम को साम्राज्य-वैभव से भी अधिक आदर दिया है। मानव और मानवता को किसी एक विशिष्ट स्थान की निवासिनी न मान कर उसे सर्वत्र व्यापक धरातल पर देखा है :

---

१ परिमल, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ ८४
२ वही, पृष्ठ ९७
३ वही, पृ० १७१
४ वही,

"जो करे गन्ध मधु का वर्जन
वह नही भ्रमर,
मानव से मानव नही भिन्न,
निश्चय, हो श्वेत, कृष्ण अथवा,
भेद कर पक
निकलता कमल जो मानव का
वह निष्कलंक,
हो कोई सर"

'तोड़ती पत्थर'[1] शीर्षक रचना मे सहानुभूति और करुणा का उदात्त रूप प्राप्त होता है। 'सरोज-स्मृति'[2] मे लौकिक और लोकोत्तर ससीम और असीम करुणा के दोनो रूप प्राप्त होते हैं। 'राम की शक्ति पूजा' शीर्षक रचना मे कवि ने मानव की असीम आस्था, उत्कट तप, दृढ सकल्प और नि स्वत्याग पर विशेष प्रकर्ष दिया है। वास्तव मे मानव के आध्यात्मिक श्रृङ्गार के ये ही प्रमुख उपकरण हैं। कवि के नि:श्रेयस् अथवा मानव के आन्तर-विकास सम्बन्धी विचारो का आयाम उपर्युक्त स्तंभो मे ही उपस्थित किया जा सकता है।

पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' के मानव की लौकिक और पारलौकिक उन्नयन संबंधी विचारधारा का समापन

लौकिक-विचारणा—(१) मानव, उत्तम, मध्यम, और निम्न वर्गों मे विभक्त हो गया है। मानवता का यह विभाजन एक भयकर स्थिति का ही जनक है। इससे मानव की लौकिक तथा पारलौकिक उन्नति मे खतरा उत्पन्न हो गया है।

(२) कवि ने मानव को इव बधनो को बलात् तोड डालने के लिए आदेश दिया है, जिससे मानवता एकसूत्रित होकर चतुर्मुखी उन्नति का वरण करेगी।

(३) कवि ने नि:स्वत्याग मे ही अध्यात्म की उपलब्धि मानी है, उसकी एतद्विषयक् मान्यता अद्वैत वेदान्त की अनुसारिणी ही प्रतीत होती है। आन्तर उपलब्धि के लिए कवि, करुणा, सहानुभूति और प्रेम की उदात्त वत्तियो को अत्यावश्यक मानता है।

---

१ अनामिका, पृष्ठ ७६, तृतीय संस्करण

२ " " ११७, " "

पं० सुमित्रानन्दन पन्त का मानव विषयक चिन्तन

'प्रसाद' और 'निराला' के पश्चात् छायावादी कवियो मे 'पत' जी ने ही अपने काव्य मे मानव के विषय मे सम्यक् चिन्तन किया है। उनके एतद्विषयक् चिन्तन का आयाम मानव के अभ्युदय और नि.श्रेयस् के चारो खूट घेरता दृष्टिगोचर होता है। इसीलिए उनके उत्तरवर्ती काव्य की तो अरविन्दवादी अथवा मानव या मानवतावादी सज्ञा ही पड़ गयी है। यद्यपि 'पत' जी ने काव्य के स्वरूप के विषय मे कही विस्तार से नही लिखा, फिर भी जहाँ कही सक्षेप मे भी उनके विचार इस विषय मे अभिव्यक्त हुए है, उनकी विचार-सरणि पर प्रकृष्ट प्रभाव पडता है। 'गद्यपथ'[1] का यह वाक्य 'साहित्य अपने व्यापक अर्थ मे मानव-जीवन की गम्भीर व्याख्या है' उनके मानववादी दृष्टिकोण पर विशद रूप से प्रकाश डालता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि 'पत' जी कवि के लिए युग का सरस चित्रण और उसके माध्यम से लोक को मार्ग-दर्शन अभीष्ट मानते है। उनका यह कहना, 'कवि या लेखक अपने युग से प्रभावित होता है, साथ ही वह अपने युग को प्रभावित करता है।'[2] उनके मानव सम्बन्धी दृष्टिकोण को और भी उन्मुक्त रूप मे हमारे समक्ष रखता है।

कवि 'पन्त' का यह मानव-सम्बन्धी चिन्तन 'निराला' की भाँति ही मानव के अभ्युदय और निःश्रेयस् उभय पक्षो के रूप मे उनके काव्य मे अभिव्यंजित हुआ है। कवि के मानव-सम्बन्धी इस चित्रण को हम मानव का वाह्य और आंतर चित्रण भी कह सकते है। किन्तु, उनका एतद्विषयक् चिन्तन इतना क्रमिक और समग्र है कि उसके बीच विभाजन-रेखा खीचना प्रायः असम्भव है। इसका प्रमुख कारण यह है कि वे काव्य को सास्कृतिक अभिव्यक्ति का साधन मानते है और कवि को विश्व-जीवन से सम्बद्ध भावो का व्याख्याता, उन्ही के शब्दो मे 'बने विश्व जीवन की स्वर लिपि, जन मन मर्म कहानी'[3] गद्य-पथ मे कवि ने एक स्थल पर इस विषय पर अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा है "मैं चाहता हूँ कि स्वाधीन भारत की कला कृतियाँ लोकोपयोगी सास्कृतिक तत्वो से ओत-प्रोत रहे और नवयुवक कलाकार अपनी कलाओ के माध्यम द्वारा समाज मे नवीन मानव-चेतना के आलोक को वितरण कर एव लोक-जीवन को बाहर भीतर से संस्कृत-सुरुचिपूर्ण तथा सम्पन्न बनाने मे सहायक

---

१ गद्यपथ, पृष्ठ २०५

२ रश्मिबंध, भूमिका, पृष्ठ ८

३ युगवाणी, पृ० २

हों।"[1] उनके उपर्युक्त अभिमतों से यह स्पष्ट रूप से प्रकट होता है कि उन्होंने मानव के विषय मे समग्र रूप से विचार किया है। अपने मानवतावादी दृष्टिकोण का अभिव्यजन करते हुए उन्होंने और एक स्थल पर कहा है, "आज के सक्रान्ति-काल मे मैं साहित्य-द्रष्टा एव कवि का यही कर्तव्य समझता हूँ कि वह युग-संघर्ष के भीतर जो नवीन लोक मानवता जन्म ले रही है, वर्तमान के कोलाहल के बधिर पट से आच्छादित मानव हृदय को मञ्च पर जिन विश्व निर्माण, विश्व एकीकरण की नवीन सास्कृतिक शक्तियो का प्रादुर्भाव तथा अन्त: क्रीडा हो रही है, उन्हे अपनी वाणी द्वारा अभिव्यक्ति देकर जीवन-सगीत मे झकृत कर सके और थोथी बौद्धिकता तथा सैद्धान्तिकता के मृगजल-मरु मे भटकती हुई अन्त:शून्य मनुष्यता को उसके चिर उपेक्षित अन्तर्जगत् तथा अन्तर्जीवन की ओर आकर्षित कर सके।"[2] अपनी इस मान्यता के अनुसार कवि 'पन्त' ने मानव के स्थूल-सूक्ष्म रूप को अपनी लेखनी-तूलिका से स्पर्श किया है। उनके द्वारा चित्रित मानव का चित्र मानव के मन: सगठन और लोक-सगठन की भित्ति पर हुआ है।

लोक-मानवता के चित्रण की दृष्टि से कवि 'पन्त' की 'गु जन' से 'वाणी' तक की रचनाएँ द्रष्टव्य है। इनमे उनका सास्कृतिक-वैभव भी अकित हुआ है। कवि ने 'युगवाणी' के माध्यम से जन-संस्कृत का स्थूल-रूप चित्रित किया है, जिसे हम अभ्युदय के सन्दर्भ मे ले सकते है तथा 'शिल्पी', 'रजत शिखर' और 'सौवर्ण' की रचनाओ के माध्यम से कवि ने मानव का अन्तर स्पर्श किया है और उसके मन: संगठन का सूत्रपात हुआ है। उनका मानव के आभ्यन्तर का चित्रण क्रमश. गम्भीर से गम्भीरतर होता गया है, जिसका प्रकृष्ट रूप उनका 'उत्तरा' से लेकर 'कला और बूढा चाँद' आदि काव्य सग्रहों मे उपलब्ध होता है। उनके मानव सम्बन्धी विचारों का समापन उन्ही के शब्दों मे इस प्रकार किया जा सकता है :

"मैंने आदर्शवाद तथा वस्तुवाद के विरोधो को नवीन मानव-चेतना के समन्वय मे डालने का प्रयत्न किया है और भौतिक आध्यात्मिक अभिव्यजनाओ का विरोध कर, भौतिकता-आध्यात्मिकता को एक ही सत्य के दो पहलुओ के रूप मे ग्रहण कर, उन्हे लोक कल्याण के लिए महत्तर सास्कृतिक समन्वय मे, एक दूसरे के पूरक के रूप मे सयोजित करना चाहा है।"[1] मानव के इस भौतिक तथा आध्यात्मिक पक्ष को एकसूत्रित करने की प्रेरणा उन्हे श्री अरविन्द-दर्शन से प्राप्त हुई है। उसको स्वीकार करते हुए उन्होने लिखा है "इसमे सन्देह नही कि श्री अरविन्द के दिव्य-जीवन-दर्शन से मैं अत्यन्त प्रभावित हुआ हूँ।"

१ गद्यपथ, पृ० २०४।
२ वही, पृ० १०७।
३ रश्मि बंध, भूमिका, पृ० २०-२१।

'स्वर्ण-किरण' और उसके बाद की रचनाओं मे यह प्रभाव मेरी सीमाओ के भीतर किसी न किसी रूप मे प्रत्यक्ष ही दृष्टिगोचर होता है ।[1] इस प्रकार सक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि श्री सुमित्रानन्दन 'पन्त' के काव्य मे मानव के भौतिक और आध्यात्मिक दोनो पक्षो का सम्यक् चित्रण प्राप्त होता है । मानव के आन्तर स्तरो के चित्रण मे वे अपने काव्य के अधुनातम प्रयासो मे श्री अरविन्द के एतद्विषयक दार्शनिक निष्कर्षों से अत्यधिक प्रभावित हुए है ।

छायावादी अन्य कवियों और प्रगतिवादी कवियों का मानव-विषयक चिन्तन

छायावाद के अन्य प्रमुख कवियों—श्रीमती महादेवी वर्मा तथा डा० राम-कुमार वर्मा के मानव-विषयक विचारो को पृथक् से देखने की चेष्टा इसलिए नही की गयी, क्योकि उन्होने मानव के विषय मे साग रूप से अपने काव्य के अन्तर्गत विचार नही किया । श्रीमती वर्मा ने बौद्ध-दर्शन और अद्वैत-दर्शन से प्रभावित होकर मानव के आन्तर क्षितिजों के उद्घाटन का ही प्रयास किया है । डा० रामकुमार वर्मा ने भी मानव के आभ्यतर आलोक को ही प्रोद्भासित करने की चेष्टा की है । वे स्वय ही एक स्थल पर कहते हैं—

"आत्मा की गूढ और छिपी हुई सौन्दर्य-राशि का भावना के आलोक से प्रकाशित हो उठना ही कविता है ।"[2] एक अन्य स्थल पर वे स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म पर विशेष प्रकर्ष देते हुए कहते हैं: "स्थूल जगत, साहित्य का आधार अवश्य है, किन्तु अन्जंगत ही साहित्य को सवाँरने मे सक्षम है ।"[3] इन अवतरणों से स्पष्ट हो जाता है कि इन कवियो की मानव विषयक चिन्तना मे समग्रता नही आ पायी है । साथ ही यह तथ्य बिना किसी हिचक के स्वीकार किया जा सकता है कि मानव के अन्तः स्पर्शों अथवा उसकी नि.श्रेयस् सम्बन्धी चिन्तना मे भी ये कवि 'प्रसाद' 'पन्त' और 'निराला' से आगे नही बढ सके है ।

प्रगतिवादी कवियों का मानव-विषयक चिन्तन

हिन्दी काव्य मे प्रगतिवादी-प्रवृत्ति का उद्भव छायावादी काव्य-पद्धति के प्रतिक्रिया स्वरूप स० १९९४ के लगभग हुआ । प्रगतिवादी विचार धारा के कवियो ने तत्कालीन काव्य की छायावादी प्रवृत्ति मे कल्पित अनुभवो और सूक्ष्म कल्पनाओ को काव्य की प्रकृति के अनुकूल न मानकर सामयिक सामाजिक अवस्थाओं और राज-

१ गद्य-पथ, पृ० १०३ ।

२ आधुनिक कवि, भाग ३, भूमिका पृ० ६

३ साहित्य शास्त्र, द्वितीय प्रकरण, पृ० २२

नीति द्वारा उत्पन्न परिस्थितियो के आधार पर काव्य को एक नवीन परिभाषा दी। उन्होने कवि का दायित्व केवल कल्पना-प्रसूत सूक्ष्म और मसृण चित्रो को ही प्रस्तुत करना नही माना, वरन् उसे सामाजिक दायित्व के संवहनकर्ता के रूप मे स्वीकार कर समाज मे नव्य स्फूर्ति की प्रेरणा देने का उत्तरदायित्व सौपा। नरेन्द्र वर्मा ने 'कला चिर जीवी' शीर्षक लेख मे भौतिकता के आधार पर काव्य की यह समाजवादी व्याख्या परिभाषा के रूप मे प्रस्तुत की:—"कला को जीने के लिए, चिरजीवी बनने के लिए ऐसे सन्देश वहन करना होगा जो सामाजिक व्यवस्था के बदलने मे समर्थ हो। सामाजिक क्रान्ति और योजना के अनुसार सामाजिक पुनर्निर्माण के पक्ष मे कलाकार को आना चाहिए।"[1] इस अवतरण से श्री नरेन्द्र वर्मा का मार्क्स से प्रभावित द्वन्दात्मक भौतिकतावादी दृष्टिकोण स्पष्ट है। एक स्थल पर काव्य का इसी दृष्टि का समर्थन करते हुए प्रसिद्ध प्रगतिवादी आलोचक शिवदान सिंह चौहान ने लिखा है, "मार्क्स के दृष्टिकोण की यही विशेषता है कि वह जगत् और मानव जीवन को शोषण से मुक्त, इसकी सम्पदा को सर्वजन सुलभ और समाज को समृद्ध और प्रगतिशील बनाने के लिए इसके वर्तमान आर्थिक-सामाजिक सम्बन्धो, नैतिक मान्यताओ, सौन्दर्य-मूल्यो को बदलने का लक्ष्य और मार्ग बतलाता है।"[2] शिवदानसिंह चौहान के उपर्युक्त अवतरण से यह पूर्णतया सिद्ध हो जाता है कि काव्य की प्रगतिवादी प्रवृत्ति ने मानव के आभ्यतर की अपेक्षा उसके बाह्य, उसके नि:श्रेयस् की अपेक्षा अभ्युदय पर अधिक बल दिया है। इस सन्दर्भ मे मलयालम के प्रसिद्ध प्रगतिवादी कवि श्री युत जी० शकर कुरुप्प का यह मत उल्लेखनीय है "प्रत्येक प्रगतिशील कथाकार का उद्देश्य वर्तमान जीवन से प्रत्यक्ष अनुभवो को प्राप्त करना है, और उन्हे अभिव्यक्त करने वाली अपनी रचना को कलात्मक और सामाजिक मूल्यो से सन्तुष्ट करना है।"[3] इसी भावना से प्रेरित होकर प्रगतिवादी कवि शिवमगल सिंह 'सुमन' ने लिखा है:—

"मैंने गाए है गान जगत जीवन के।"[4]
"गीतो मे पददलितों की ही
पीड़ा का मैंने गान किया।"[5]

प्रगतिवादी काव्य के उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध होता है कि छायावाद के पश्चात कवियों का मानव विषयक चिन्तन मानव के अभ्युदय पक्ष पर विशेष प्रकर्ष देने लगा था

---

१ हस, मार्च १९४१, पृ० ५१२-५१३
२ साहित्यानुशीलन, पृ० १४३
३ देवनागर कार्तिक, स० २०१० पृ० ३४
४ विश्वास बढता ही गया, पृ० ५५
५ प्रलय-सृजन, पृ० ३१

और इस प्रकार मानव को खण्डश: देखने का प्रयास प्रारम्भ हो गया था। मानव के इस एकागी चिन्तन की प्रतिक्रिया आगे होनी चाहिए थी, किन्तु उसकी प्रतिक्रिया व्यष्टि के खण्डश: परीक्षण के रूप मे हुई। आगामी कवि मानव विषयक चिन्तन को सन्तुलित बनाने में सर्वथा असमर्थ सिद्ध हुए।

प्रयोगवाद और मानव विषयक चिन्तन

हिन्दी के प्रयोगवादी काव्य का प्रथम उन्मेष सं० १९९४ के लगभग मानना चाहिए। काव्य की यह प्रवृत्ति प्रगतिवादी धारा के विरुद्ध सामाजिक तत्वों को लेकर हिन्दी के काव्य साहित्य मे अवतरित हुई। शिवदान सिंह चौहान के शब्दों मे, "उत्तर छायावादी युग की दूसरी धारा हिन्दी की वह कविता है जिसमे व्यक्तिवाद की परिणति घोर अहं वादी, स्वार्थ प्रेरित, असामाजिक, उच्छृंखल और असन्तुलित मनोवृत्ति के रूप मे हुई है। प्रयोगशीलता का आडम्बर तो केवल समाजद्रोही भावनाओं और जीवन के प्रति घोर अनास्था, कुण्ठा और विद्रूपात्मक उद्गारो को एक दुर्वह सकेतात्मक भाषा, अस्वाभाविक अलकार योजना और अहं वादी और बहुधा ओछे तल की वचन भगिमा मे छिपाने का उपक्रम मात्र है। 'अज्ञेय' और उनके समानधर्मी दूसरे मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी अपनी व्यक्ति चेतना से इतने आक्रान्त रहे है कि वे सामाजिक जीवन के साथ किसी प्रकार के सामन्जस्य की कल्पना ही नही कर सकते। साधारणतया प्रयोगवादी कविताओ मे एक दयनीय प्रकार की झुंझलाहट, खीझ, कुण्ठा, किशोर औद्धत्य और हीन भाव ही व्यक्त हुआ है, जो कवि के व्यक्तित्व को प्रमाणित करने का नही, खण्डित करने का मार्ग है।"[1] उपर्युक्त अवतरण से सिद्ध होता है कि प्रयोगवादी कविता का मूलस्वर न तो मानव के वाह्य उत्कर्षापकर्ष के चित्रण का रहा है और न उसके आत्मोन्नति के विभिन्न स्तरो का ही सस्पर्श किया है। काव्य की इस प्रवृत्ति मे मानव के नैराश्य और कुण्ठाओ का ही विशेष रूप से अभिव्यजन हुआ है और इस प्रकार वह मानव के खण्ड-विश्लेषण मे सलग्न होकर जीवन की मूल-धारा से विच्छिन्न हो गयी है। परिणाम यह हुआ है कि व्यापक सास्कृतिक चेतना और जीवन दृष्टि में महत् जीवन-मूल्यो के प्रति अनास्था उत्पन्न हो गयी है और इसीलिए इस धारा के कवि प्राचीन मनीषियो के द्वारा निर्धारित उदात्त मानव मूल्यों की विद्रूपात्मक कदर्थना करने में व्याप्त दृष्टिगोचर होते हैं। श्री 'अज्ञेय' की 'माहीवाल' शीर्षक रचना मे पाशव वृत्ति को किस प्रकार सम्मानित किया गया है—

"क्रौंच बैठा हो कभी बल्मीक पर
तो मत समझ—
वह अनुष्टुप बाँचता है सगिनी के मरण के
जान ले वह दीपकों की टोह मे है।"

---

१ हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष, पृ० ११०-१११, १९५४ में प्रकाशित

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने यथार्थ ही कहा है "पिछले कुछ दिनो से इसमे इन निष्क्रिय व्यक्तियो की निराशा और गिरा हुआ मन प्रतिबिंबित होने लगा है।"[1] वास्तव मे प्रयोगवादी कवियो की इम नैराश्यपरकता और कुण्ठा के अभिव्यजन के कारण हिन्दी काव्य के मानव-विषयक स्वस्थ चिन्तन मे बडा व्याघात पड़ा है, इसे अस्वीकार नही किया जा सकता ।

हिन्दी-काव्य के मानव-विषयक चिन्तन और अरविन्द-दर्शन का सम्बन्ध

उपर्युक्त मानव सम्बन्धी प्राचीन और अर्वाचीन काव्य के चिन्तन से निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते है:—

(१) प्राचीन काव्य का मानव सम्बन्धी-चिन्तन अभ्युदय और निःश्रेयस् की एकता और अखण्डता मे विश्वास करता था ।

(२) द्विवेदी युगीन काव्य मे यद्यपि मानव के भौतिक पक्षीय चिन्तन पर अधिक बल प्रदान किया गया, फिर भी नि श्रेयस् अथवा आभ्यन्तर का भी यथोचित चित्रण प्राप्त होता है और एतद्विषयक प्राय. अखण्ड ही रहा है ।

(३) हिन्दी के छायावादी काव्य मे यद्यपि मानव के आन्तर पक्ष के चित्रण का विशेष आग्रह है फिर भी प्रसाद, निराला और पन्त के काव्य मे मानव के दोनों पक्षों पर सम्यक् ध्यान दिया गया है ।

(४) हिन्दी की प्रगतिवादी रचनाओ मे 'निराला', पंत की भौतिक स्थूलता का जो स्वरूप स्फुटित हुआ था और मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के समन्वय के द्वारा प्रमुख रूप से मानव के भौतिक पक्ष अथवा उसके आशिक अभ्युदय पर विशेष ध्यान दिया गया है । इसी काल से मुख्यतया मानव-विषयक चिन्तन खण्डित होता हुआ दिखाई देता है ।

(५) हिन्दी की प्रयोगवादी रचनाओ मे विशेषतया मानव की कुण्ठा-निराशा का चित्रण प्राप्त होता है । इन रचनाओं मे मानव की अस्वस्थ वृत्तियों का ही विमर्श प्राप्त होता है । इनमे न तो मानव के अभ्युदय पर ही विचार प्राप्त होते है और नि.श्रेयस् की तो कल्पना ही नही की जा सकती ।

उपर्युक्त मानव-सम्बन्धी चिन्तन के आधार पर श्री अरविन्द के मानव-सबधी चिन्तन का जहां सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है, वहीं यह भी देखा जा सकता

नया साहित्य : नये प्रश्न, निकष, पृ० २१ सं० २०११

है कि श्री अरविन्द का मानव-सम्बन्धी चिन्तन अभ्युदय और नि.श्रेयस् की कितनी अभूतपूर्व सतुलित विचारणा है। के० डी० सेथना ने श्री अरविन्द के महाकाव्य सावित्री का विवेचन करते हुए कहा है कि श्री अरविन्द का सावित्री महाकाव्य एक ही समय मे पृथ्वी और आकाश अर्थात् भौतिकता और आध्यात्मिकता के चरम को एकसूत्रित करने की क्षमता रखता है। इसकी कल्पना ही से संसरण की द्विविधता प्रकट होती है।[1] श्री सेथना के मत से यह स्पष्ट होता है कि श्री अरविन्द ने मानव के अभ्युदय और नि.श्रेयस् के विकास को एक ही अविच्छिन्न रेखा मे स्वीकार किया है। श्री अरविन्द का मानव-सम्बन्धी चिन्तन उनके विकासवादी-दर्शन मे अनुस्यूत है। उनके विचार से जड भी वही है और चेतन भी वही है। केवल अन्तर इतना ही है कि जड मे चेतन-तत्व इतनी गहराई मे है कि उसमे जीवन-स्पद का आभास नही होता और चेतन मे वह इतना जीवन्त है कि हम सहज ही जान लेते है। मानव उस चैतन्य का सर्वोत्कृष्ट विकास है, किन्तु उसके भौतिक विकास की चरमावस्था के पश्चात् अब उसमे सूक्ष्म विकास होना है। वह विकास उसके अति मानस-स्तरो मे होगा। श्री अरविन्द ने उस चैतन्य-तत्व अथवा प्राणतत्व को जड तत्व मे अनुस्यूत माना है। उनके मत से जड तत्व मे सप्राणता न होने से शरीर से मस्तिष्क अथवा मानस का उद्भव असभव है। स्थूल मे सूक्ष्म की अवस्थिति ही वेदान्त के इस तथ्य का आभास देती है कि जड मे प्राण तत्व परिव्याप्त है।[2] विकास के उच्च स्तरो का वर्गीकरण उन्होने (१) उच्चतर मानस, (२) प्रोद्भासित मानस, (३) रहस्यमय मानस, अतिमानस और अधिमानस के रूप मे किया है। अध. विकरण उन्होंने बिलकुल इसका विलोम माना है। श्री अरविन्द का कहना है कि समग्र सृष्टि को अधिमानस के स्तर पर एक दिन पहुचना है। वे सृष्टि के विकास को एक इकाई के रूप में स्वीकार करते है इसलिए वे जड और चेतन के विभेद को मात्र चैतन्य के कम और अधिक विकास के रूप मे मानते है, अस्तु, उनका मानववादी चिन्तन भौतिकता और आध्यात्मिकता का समन्वित रूप प्रतिष्ठित करता है। वरन् यह कहना चाहिए कि वह एक ही चैतन्य का द्विविध रूप है।

श्री अरविन्द की उपर्युक्त मानव-सम्बन्धी-चिन्तना से यह निष्कर्ष निकलता है कि वे उसके भौतिक विकास को उसके चरम मे स्वीकार करते है, किन्तु अभी मानसिक स्तरो के सूक्ष्म-विकास को पूर्ण नही मानते। उनके मत से अब इसी मानसिक क्षेत्र मे विकास होना है। मानसिक अथवा सूक्ष्म विकास की रेखा को भी वे कुछ सीमा तक सम्पन्न मानते है। सूक्ष्म-विकास के चरणो मे वे मानव-मन को उच्चतर मानस, प्रोद्भासित-मानस और रहस्यमय मानस स्तरो पर अधिष्ठित हुआ मानते

---

१ दि पोयटिक जीनियस आफ श्री अरविन्दो, पेज ११७ (फर्स्ट एडीशन)

1 The life Divine, Book I Page 5.

हैं। मानवता का अग्रिम चरण अतिमानस के धरातल पर पड़ेगा। इसके पश्चात् वह अधिमानस की उपलब्धि की सम्भावना करते है, जिस धरातल की अनुभूति श्री अरविन्द को ही थी।[1]

श्री अरविन्द के उपर्युक्त मानव के अभ्युदय और निःश्रेयस् सम्बन्धी निष्कर्षों की विवेचना कर लेने के पश्चात् हम बडी सरलता से उसे आधुनिक मानववादी काव्य धारा मे प्रतिष्ठित मानव-सम्बन्धी-चिन्तना का साम्य-वैषम्य स्थिर कर सकते हैं :

(१) हिन्दी के छायावादी काव्य तक किसी न किसी प्रकार मानव संबधी चिन्तन मे अविच्छिन्नता प्राप्त होती है। वह मानव के अभ्युदय और निःश्रेयस् पक्षो पर समान बल देता दृष्टिगोचर होता है। इसलिए हम उसे एतद्विषयक सन्तुलित चिन्तन कह सकते है।

(२) हिन्दी की प्रगतिवादी काव्य-धारा के अन्तर्गत मानव-सम्बन्धी एक पक्षीय चिन्तन का विशेष आग्रह रहा है। उसने मानव के केवल अभ्युदय-पक्ष पर ही एकान्त रूप से बल दिया है और उसके निःश्रेयस् पक्ष को एकदम अस्वीकार कर दिया है।

(३) हिन्दी के प्रयोगवादी काव्य मे मानव के उभय पक्षों में किसी का भी स्वस्थ-चिन्तन नही प्राप्त होता। प्रयोगवादी काव्य छिन्न मूल होकर मानव के नैराश्य और उसकी कुण्ठाओ के चित्रण मे वृथा श्रम करने मे व्याप्त रहा है और इस प्रकार मानव-विकास के स्वस्थ चिन्तन से विरक्त रह कर निरुद्देश्य हो गया है।

अस्तु, हम एतद्विषयक चिन्तन से इस निष्कर्ष पर पहुचते है कि श्री अरविन्द का मानव-सम्बन्धी-चिन्तन अभी तक की मानव के उभय-पक्षो के चिन्तन की स्वस्थ-धारा का विकसित और क्रमबद्ध चिन्तन है। हिन्दी के आधुनिक काव्य की मानव-सम्बन्धी-चिन्तन धारा जो कभी अस्पष्ट रूप से और कभी स्पष्ट रूप से उसके ऐहिक तथा पारलौकिक अथवा भौतिक और आध्यात्मिक विकास को पुरस्सर करने मे दीर्घ-काल से सलग्न रही है, श्री अरविन्द के मानस-विकास-सम्बन्धी चिन्तन में उसकी अखण्ड अविच्छिन्न तथा स्पष्ट रूप-रेखा प्राप्त होती है। श्री अरविन्द का यह मानव-चिन्तन-मानवता के लिये ऐसा आलोक स्तम्भ है, जिसके प्रकाश मे वह कदम बढ़ाती हुई देवत्व और उसके ऊपर ईश्वरत्व पर प्रतिष्ठित होने के उपक्रम मे सलग्न है।

●

---

१ विशेष जानकारी के लिए प्रथम अध्याय दृष्टव्य है।

८

शैलीगत प्रभाव

काव्य में प्रतीक-शैली

श्री अरविन्द-दर्शन का आधुनिक हिन्दी काव्य पर प्रभाव इस प्रबन्ध के पूर्ववर्ती अध्यायो मे देखने के पश्चात् यह आवश्यक हो जाता है कि उस पर शैलीगत प्रभाव भी देखा जाय। इस अध्याय मे यही देखने की चेष्टा की जा रही है।

श्री अरविन्द ने अपने काव्य मे अनेक प्रतीको की योजना की है। हिन्दी-काव्य मे सूक्ष्म मूर्तिविधान के लिए छायावादी कवियो ने भी अपने विचारों की अभिव्यक्ति के हेतु प्रतीकों का आश्रय लिया है। इन कवियो मे पत जी के उत्तरवर्ती काव्य पर अरविन्द-दर्शन की प्रतीक योजना का सर्वाधिक प्रभाव पडा है। प्रतीकों का प्रयोग सहज स्फुरण प्रेरित काव्य का आवश्यक और अनिवार्य अग हो गया है। क्योकि भावना जब अनुभूति के ऊर्ध्व स्वरो को स्पर्श करती है तो उनसे प्राप्त सूक्ष्म प्रतिमाओ और बिंबो का अभिव्यजन भाषा की सामर्थ्य मे नही रहता। भारतीय दर्शन और योग मे चेतना और अनुभूति की उच्च भूमिकाओं को अभिव्यक्त करने के लिए वेदों से लेकर योग के अनेक ग्रन्थो मे यह प्रतीक-योजना मिलती है। तान्त्रिको और सतों की समग्र यौगिक पारिभाषिक शब्दावली प्रतीकों के माध्यम से ही अभिव्यक्त हुई है। उदाहरणार्थ सन्तों और तान्त्रिको के 'त्रिवेणी' शब्द को लीजिये। 'त्रिवेणी' का स्थूल अर्थ गंगा, जमुना और सरस्वती का प्रयाग मे सगम होना है, किन्तु, प्रतीक-स्थूल से सूक्ष्म अथवा अभिधार्थ से व्यग्यार्थ की ओर सकेत करता है। अस्तु, त्रिवेणी का यौगिक अथवा प्रतीकार्थ हुआ, इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना का आज्ञा चक्र पर मिलना। इसी प्रकार सर्पिणी का प्रतीकार्थ हुआ 'कुण्डलिनी।' 'उषा' का प्रतीकार्थ अविकसित पदार्थ है।[1]

प्रतीक : परिभाषा और इतिहास

इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका मे स्थूल जगत् की किसी वस्तु को जो उस अनुभूति के सूक्ष्म स्तर को जिसे भाषा के द्वारा सहज ही अभिव्यक्त नही किया जा

---

1 Letters of Sri Aurbindo, Fourth series, Page 352, First edition.

सकता, प्रतिनिधित्व करती है, प्रतीक कहा गया है। इन्साइक्लोपीडिया के अनुसार सर्व प्रथम प्रतीक का प्रयोग ग्रीक लोगो ने किया।[1] 'इन्साइक्लोपीडिया के साक्ष्य के द्वारा प्रतीत होता है कि भारत की भाति पाश्चात्य देशो मे भी आध्यात्मिक अनुभूतियो की अभिव्यक्ति के लिए विभिन्न प्रतीको का प्रयोग किया गया। इसके पश्चात् कल्पना और अनुभूति से प्राप्त बिम्बों और प्रतिमाओ की अभिव्यक्ति के लिए प्रतीक योजना का सूत्रपात हुआ।

प्राचीन भारतीय काव्य को दर्शन अथवा अध्यात्म से पृथक् नही माना गया। वेदों, उपनिषदो और गीता मे अध्यात्म के उच्च सिद्धान्तो के साथ श्रेष्ठ काव्य भी प्राप्त होता है। कदाचित् इसलिए ऋषि को जहा द्रष्टा कहा गया है, वही उसे 'कवि' की भी सज्ञा दी गई है।[2] किन्तु पाश्चात्य देशो में फ्रास ने 'प्रतीक-आन्दोलन' के द्वारा प्रतीक का विशेषीकरण किया। प्रतीकवाद का यह साहित्यिक आन्दोलन १९ वी शती से फ्रान्स में प्रारंभ हुआ। इस आन्दोलन को सन् १८७० से सन् १८९५ ई० तक अनेक फ्रान्सीसी कवियो ने पुरस्सर किया। यद्यपि उनकी प्रतीक योजना और उसके प्रयोग मे सर्वथा साम्य नही है, फिर भी मूल रूप से वे प्रतीकवादी ही कहे जायगे।

बाद मे सेमर ने इस प्रतीक आन्दोलन को दो रूपो मे प्रगति दी। प्रथम वस्तु के आध्यात्मिक पक्ष की स्वीकृति के रूप मे और द्वितीय मानव और विश्व के निकट तथा सूक्ष्म बन्धनो की अनुभूति के रूप मे। निश्चय ही इस आन्दोलन का सूत्रपात जर्मन और अग्रेज स्वच्छन्दतावाद तथा जर्मनी के आदर्शवादी दर्शन के प्रभाव-स्वरूप तथा वैज्ञानिक पाजिटिविस्ट दर्शन के प्रतिक्रिया स्वरूप जिसका प्रकर्ष केवल वाह्य वर्णनों तक ही सीमित था, हुआ था। कवियों को स्थूल वस्तु के भीतर पैठने और उस आध्यात्मिक तथा सूक्ष्म वस्तु की शोध करने की महती प्रेरणा मिली, जिसका स्थूल वस्तु मात्र प्रतीक थी। यथार्थ और सादृश्य (ऐपियरेन्स) का रहस्य-सम्बन्ध अधिक तर्कसम्मत न होकर सवेदनात्मक सहज स्फुरण पर अवलम्बित होता है। इस स्थिति मे रचित काव्य रहस्यवादी होता है और सर्वसाधारण के लिए सहज ही बोधगम्य नही होता।

---

1 Symbol, the term given to a visible object representing to the mind the semblance of something which is not shown but realised by association with it. One of the first symbols of the saviour, the fish, was derived from an acrostic of the Greek word "I K P U S" the component letters of which were the initials of the five words 'inaovs, xptarbs qeoutios, Ewrnp, Jesus Christ son of God, Saviour.

Encylcopedia Britanica P. 700

२ कविर्मनीषी परिभू स्वयंभू। ईश उपनिषद

हेनरी डी रेजिनियर ने इस आन्दोलन को एक नया मोड दिया । आन्दोलन की यह प्रवृत्ति यह मानती है कि यथार्थ अवधारणा की सर्जना व्यक्ति के वैयक्तिक पर्यवेक्षण का परिणाम है। व्यक्ति की विश्व के साथ इन आन्तरिक क्रियाओ और आन्तरिक सम्बन्धो का अनुभव उसे अपने 'स्व' और अपने चारो ओर के वातावरण के विश्वसनीय विश्लेषण की ओर प्रेरित करता है। ये सर्वथा वैयक्तिक विश्लेषण प्रकृत्या अवैज्ञानिक होकर रहस्यमय वातावरण की सृष्टि करते है साथ ही दुर्बोध भी होते है। काव्य की इस प्रवृत्ति की दूसरी विशेषताए हमारे जीवन मे अवचेतन का क्या प्रभाव रहा है, इसके विश्लेषण तथा रहस्यवाद विशेषतया 'आकल्ट' कला मे विशेष रुचि लेती रही हैं। इस प्रवृत्ति के समर्थको और जन्मदाताओ मे 'लेफोर्ग' का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

प्रतीकवाद की इस नव्य धारा मे मनोग्रन्थियों और मन की कुभावनाओं को काव्य के सगीत तत्व के प्रकर्ष के साथ शास्त्रीय सवर्द्धना की सभावनाओ के अन्तर्गत अभिव्यक्ति देना रहा है । 'मलामे' तथा अन्य लोगों ने वैगनर के सगीत रूपक से प्रभावित होकर शब्दो को सगीतात्मकता का भरपूर उपयोग करना चाहा। अपने इस कार्य मे इन लोगो ने मात्र सगीत की 'संगति' और पुनरावृत्ति का ही अनुकरण नही किया, वरन् शब्दो की उनकी शक्ति पहचान कर प्रयुक्त किया जो सगीत के प्रभाव से पृथक सगीत के ही समान मन: स्थितियो को उत्पन्न करते थे। 'रेने घिल' ने काव्य से सगीत तत्व निकाल कर अनुभूतियो और भावनाओ को विज्ञान का आधार दिया और अपने इस कार्य मे स्वरो व्यजनो के उपयुक्त सयोजन का आश्रय लिया। केवल इतना ही नही, 'वाद लेयर' ने एक ऐन्द्रिक प्रभाव का दूसरी इन्द्रिय से क्या सम्बन्ध है, के सश्लेषण का प्रयास किया और 'घिल' ने स्वरों के लिए विशेष रगो की कल्पना की। किन्तु इस तथाकथित वैज्ञानिक कविता को स्वीकार नही किया गया और यह प्रवृत्ति 'प्रतीकवादियो' तक ही सीमित रह गई।

'मोरयेज' और 'लेफोर्ग' को छोड़कर जिन्होंने लोक-गीत के अनुकरण पर अपने काव्य को लय-बद्ध किया, शेष ने अधिकाशत: स्वतत्र पद्यबद्धता स्वीकार की। कुछ कवियों ने कविता मे असमान पक्तियो को स्थापित कर काव्य की प्राचीन परम्परा को अपनाया। कुछ अधिक साहसी कवियो ने 'वर्सतिब्रे' का प्रयोग किया। कुछ ने बोल-चाल की भाषा और स्थानीय बोलियो का प्रयोग किया। ऐसे कवियो मे 'लेफोर्ग' का नाम अग्रगण्य है। आगे चल कर यह आन्दोलन एक-एक मन. स्थिति के लिए एक-एक प्रतीक का प्रयोग करने लगा और अत्यन्त दुरूह हो गया। कदाचित योरुप मे प्रतीक-वादी आन्दोलन के अध:पतन का यही कारण रहा है । प्रतीक का आश्रय कवि अथवा कलाकार इसलिये लेता है कि वह अपनी सूक्ष्म अनुभूतियो को जिसे साधारण भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त नही किया जा सकता , सर्व साधारण के लिए बोधगम्य बना सके। किन्तु, जब वह ऐसा नही कर पाता तो उसका यह प्रयास असफल हो जाताहै;

फिर भी इस आन्दोलन का प्रभाव अत्यन्त व्यापक रहा है। इसका प्रभाव फ्रान्स की चित्रकला, नाटक, सगीत और इगलैण्ड, जर्मनी और इटली के साहित्य पर प्रभूतरूप से पडा है।[1]

भारतीय प्रतीकवाद

जैसा कि ऊपर कहा गया है, भारत मे भी 'प्रतीकों' का प्रयोग धार्मिक, दार्शनिक तथा आध्यात्मिक सूक्ष्म अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिए किया गया है। प्रारम्भ मे इस पर यत्किंचित प्रकाश डाला गया है। इस स्थल पर उस पर कुछ विस्तार से विचार किया जा रहा है।

भारतीय मनीषा प्रारम्भ से ही बहिर्मुखी न होकर अन्तर्मुखी रही है। इसके कारण पर विचार करना विषयान्तर होगा। अस्तु, उसने प्रागैतिहासिक काल से ही सृष्टि की उत्पत्ति और विनाश के कारण अथवा कारणो को सोचना प्रारम्भ कर दिया था। वे अपनी विचारणा मे जिन तात्विक निष्कर्षों पर पहुचे, वे ही उनकी 'प्रतीक-योजना' के आधार बन गये। उन्होने अपनी अनुभूति के साक्ष्य पर यह जाना कि प्रत्येक वस्तु के दो पक्ष होते है—एक स्थूल पक्ष, जिसे अभिव्यक्ति पक्ष भी कह सकते हैं तथा द्वितीय सूक्ष्म पक्ष, जिसके आधार पर हम स्थूल की कल्पना करते है। इस बात का सुन्दर प्रमाण 'दुर्गा सप्तशती'' के प्राधानिक रहस्य मे इस प्रकार प्राप्त होता है—

'लक्ष्यालक्ष्य स्वरूपा सो व्याप्य कृत्स्नं व्यवस्थिता'

इस पर टीकाकार नीलकठ ने टीका करते हुये लिखा है :—

> 'सभी देवताओ के दो रूप होते है—सूक्ष्म और स्थूल। सूक्ष्म शुद्ध–चेतना है, जिसका अभिव्यजन मत्र द्वारा होता है, और उसमे उन्ही गुणो का प्रयोग भी होता है। भक्तों पर अनुग्रह के लिए उस सूक्ष्म रूप का स्थूलीकरण चरणादि के रूप मे स्वीकार कर लिया जाता है। तान्त्रिक विद्वान् इस तथ्य से पूर्ण परिचित है। जिसमे लक्ष्य और लक्षण की नियोजना की जाती है वह माया का स्थूल रूप है और अलक्ष्य अथवा सूक्ष्म रूप ब्रह्म का है। इन दोनो रूपो वाली, त्रिगुण मायायुक्त, ब्रह्मरूपिणी है।''[2]

---

१ चैम्बर्स इन्साइक्लोपीडिया, वाल्यूम १३ न्यू एडीशन, पृ० ३९३-३९४

२ तत्र सर्वं देवतानां रूपद्वयं सूक्ष्मं स्थूलं चेति।
सूक्ष्मं ततुदुपाधिविशिष्ट चैतन्यरूपं मंत्र वाप्यम्।
स्थूलं तु ततस्सूक्ष्मरूपोपासकभक्तानुग्रहार्थं तेनैव

वास्तव मे ब्रह्म अपने आप मे समग्र है। उसे किसी वस्तु की आवश्यकता नही। किन्तु वह लीला के लिए, अपने भक्तो के सुख के लिये अपनी माया के द्वारा स्थूल परिकल्पित होता है, क्योकि वह अपने भक्तो के क्लेश को देख नही सकता :–

'क्लेशो धिकतरस्तेषामव्यक्ता चेतसाम्।
अव्यक्तहि गति दु ख देह वद्भिरवाप्यते ।।'[1]

देवीभागवतकार ने भी उपर्युक्त तथ्य को स्वीकार करते हुये कहा है कि वास्तव मे ससार मे जो कुछ भी दृष्टिगोचर होता है वह त्रिगुण का परिणाम है, क्योकि निर्गुण परमात्मा किसी प्रकार भी देखा नही जा सकता ·—

'वस्तु मात्र तु यदृश्य ससारे त्रिगुण हितत्।
दृश्य च निर्गुण लोके न भूत न भविष्यति।
निर्गुण. परमात्मासौ न तु दृश्य. कदाचन्।।'[2]

उपर्युक्त आर्ष ग्रन्थो के द्वारा यह सिद्ध होता है कि ब्रह्म, आत्मा, जीव, प्रकृति, सृष्टि, उत्पत्ति और प्रलयादि के सूक्ष्म अनुभूतिपरक जितने चिन्तन-निष्कर्ष रहे है, उनको रूपायित करने के लिए तदनुसारी स्थूल-प्रतीको का आश्रय लिया गया है। सक्षेप मे भारतीय प्रतीक-योजना की पृष्ठभूमि मे यही विचार सरणि रही है।

भारतीय प्रतीकों की परिकल्पना

भारतीय प्रतीक-योजना के कारण को स्पष्ट करने के पश्चात यह आवश्यक प्रतीत होता है कि कुछ भारतीय प्रतीको का विवरण दिया जाय। अस्तु इस स्थल पर कुछ धार्मिक और तान्त्रिक प्रतीको के उदाहरण उपस्थित किए जा रहे है।

शेषशायी विष्णु

वेद और पुराणान्तर्गत 'विष्णु' का प्रतीक आया है। उसके सम्बन्ध मे श्री अरविन्द का मत है कि विष्णु का साप उनकी अनन्त शक्ति है। विसृष्टि के समय यह शक्ति सिमट कर सीमित हो जाती है और उसका द्योतन सर्प की कुण्डलियो द्वारा किया गया है। क्षीर सागर का अभिप्राय अनन्त माधुर्यमयी सत्ता से है, अर्थात् वह परमानन्द का सागर है।[3]

सूक्ष्म रूपेण स्वीकृत कर चरणादिविशिष्टं तन्त्रविदा स्पष्मेतत्।
' लक्ष्य लक्षणीय माया रूप लक्ष्यं ब्रह्म रूप तदुभयस्वरूपा त्रिगुण मायाशबल ब्रह्मरूपाइत्यर्थः।'

१ गीता, १२।५

२ देवी भागवत, ३।५।६९।७०।।

३ आन द वेद, श्री अरिविन्दो, पाँडिचेरी १९५६, पेज १२३-१२४।

विष्णु के अतिरिक्त श्री अरविन्द ने अन्य अनेक वैदिक प्रतीको को स्पष्ट किया है। इस स्थल पर ऋग्वेदान्तर्गत प्रयुक्त 'दक्ष', 'दक्षिण' और 'दक्षिणा' शब्दों पर श्री अरविन्द की प्रतीक-सम्बन्धी व्याख्या उद्धृत की जा रही है। उनका 'दक्ष' शब्द के विषय मे स्पष्टमत है कि पूर्व काल मे 'दक्ष' शब्द का अर्थ 'विवेचना', सिद्धान्त और विचार-शक्ति के लिए ग्रहीत होता होगा। उनके मत से इसके अर्थ की अभिव्यक्ति शारीरिक शक्ति को मानसिक शक्ति पर आरोपित करके नही होती, वरन् इसका अर्थ मानसिक-शक्ति अथवा योग्यता के साथ मानसिक क्रियाओं के विश्लेषण से प्राप्त होता है। इस प्रकार के विश्लेषण से दक्ष शब्द के तीन अर्थ प्राप्त होते हैः—

साधारण अर्थ मे बल, मानसिक शक्ति और विशेषतया विवेक शक्ति।

दक्ष का नित्य सबंध ऋतु से है। इसका अर्थ होता है कार्यक्षम-शक्ति अथवा दृढ इच्छा और विवेक शक्ति। अन्त मे दक्षिणा देवी का नाम प्राप्त होता है जो वास्तव मे 'दक्ष' का स्त्रीरूप है। यह दक्षिणा देवी हमारे ज्ञान के साथ सतत् सबद्ध है। अनेक स्थलो पर इसका पूर्ण तादात्म्य 'ऊषा' के साथ भी उपलब्ध होता है। श्री अरविन्द के मत से दक्षिणा, इडा, सरस्वती और सरमा के समान ही एक देवी है जो वास्तव मे तत्व बोध की चार शक्तियो के प्रतिरूप है। उन्होंने इनके प्रतीकार्थ खोलते हुए लिखा है कि 'इडा सत्य दर्शन है, सरस्वती वाक् प्रेरित है। सरमा सबोधि तत्व अथवा सहज स्फुरणा है तथा दक्षिणा देवी विकासात्मक आत्मविवेक का प्रतीक है।[1] इसी प्रकार अन्य वैदिक पौराणिक तथा यान्त्रिक-तान्त्रिक प्रतीको की भी व्याख्या की जा सकती है।[2]

उपर्युक्त प्रतीकों के स्पष्टीकरण से यह प्रतीत होता है कि भारतीय धार्मिक तथा आध्यात्मिक प्रतीक-विधान, मुख्यतया दो बातो को उद्दिष्ट करके हुआ है। प्रथम यह कि सूक्ष्म अनुभूतियों का प्रकाशन प्रचलित भाषा के माध्यम से जब सभव नही होता तो प्रतीक-भाषा का आश्रय ग्रहण किया जाता है। तथा द्वितीय यह कि प्रतीक के माध्यम से सूक्ष्म के अतिरिक्त अनुभूति को एक स्थूल रूप भी प्राप्त हो जाता है जो मूल तत्व को रहस्यमय बनाता हुआ अपना पृथक् महत्व रखता है।

भारतीय-प्रतीक-पद्धति (जैसे वेदो-पुराणो के अतिरिक्त) यत्र मत्र-तत्र, मूर्ति-स्थापत्य तथा चित्रकला आदि मे बिखरी पड़ी है, के परिशीलन से एक ही निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि वह मानस के आध्यात्मिक, धार्मिक तथा अन्य सूक्ष्म-स्पन्दों का साधन रही है तथा भारतीय संस्कृति की रक्षा का प्रबल उपकरण भी।

---

१ श्री अरविन्द—आन द वेद, पांडिचेरी, १९५६, पेज ८३-८४

२ भारतीय प्रतीक-विधान की विशेष जानकारी के लिये देखिये 'भारतीय प्रतीक विद्या', लेखक डा० जनार्दन मिश्र, प्रकाशक बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना।

काव्य और प्रतीक

धार्मिक-आध्यात्मिक तथा यान्त्रिक-तांत्रिक सूक्ष्म विचारणाओ को मूर्त करने मे तो प्रतीक के सबल माध्यम को ग्रहण ही किया गया है और वही इसका कितना महत्व है; ऊपर के विवेचन से इसका यत्किंचित आभास प्राप्त हो सकता है, किन्तु काव्य के क्षेत्र मे भी इसका कम महत्व नही रहा। पाश्चात्य-देशो मे प्रतीक-विधान के इतिहास पर प्रकाश डालते हुए यह स्पष्ट करने की चेष्टा की गई है कि उन देशो मे काव्यान्तर्गत प्रतीक को कितना महत्व दिया गया है। उस महत्व के कारण ही वहा प्रतीक-आन्दोलन चला और प्रतीक-वर्ग के नाम से उनका एक पृथक् वर्ग ही बन गया। इस वर्ग के अन्तर्गत न केवल कवि ही, वरन् मूर्तिकार-चित्र-कारादि सभी सम्मिलित हुए। आधुनिक भारतीय काव्य और चित्रकला पर भारतीय प्रतीक विधान के अतिरिक्त पाश्चात्य प्रतीक-आन्दोलन का भी पर्याप्त प्रभाव है, इस बात को अस्वीकार नही किया जा सकता।

श्री अरविन्द की प्रतीक योजना पर इस प्रबन्ध मे अन्यत्र विस्तार से वर्णन किया गया है। इस प्रसग मे केवल इतना कहना आवश्यक है कि श्री अरविन्द की प्रतीक-योजना आध्यात्मिक है।[1]

कविवर श्री सुमित्रनन्दन पंत की प्रतीक-योजना पर श्री अरविन्द का प्रभाव

श्री अरविन्द की प्रतीक-योजना का सर्वाधिक प्रभाव श्री 'पंत' के उत्तर काव्य पर अन्य छायावादी कवियो से अधिक पड़ा है। इसका प्रमुख कारण यह रहा है कि वे अपने उत्तर-काव्य मे अरविन्द-दर्शन से सर्वाधिक प्रभावित रहे हैं। श्री पत की प्रतीक-योजना पर 'पत का काव्य और अरविन्द-दर्शन' शीर्षक अध्याय में विस्तार से प्रकाश डाला जा चुका है। इस स्थल पर 'वाणी' तथा 'कला और बूढ़ा चाँद' की प्रतीक-योजना विषयक श्री 'बच्चन' जी को लिखे हुए उनके एक पत्र को उद्धृत किया जा रहा है, जिससे उनकी प्रतीक-पद्धति पर पर्याप्त प्रकाश पड़ेगा।

प्रिय बच्चन,

८ ता० को दो कार्ड मिले। 'वाणी' के अन्तर्गत शंकाओं का उत्तर (अपनी समझ से) दे रहा हूं।

---

१ इसके लिए विशेषतया दृष्टव्य:—
लेटर्स आफ श्री अरविन्दो, फोर्थ सीरीज़, १९५१, पृष्ठ ३२३-३२४

(१) बौद्ध दर्शन मे षडायतन=५ इन्द्रिय+१ मन। मेरा अर्थ है अब इन्द्रिय और मन (जिनका उच्च स्तरो पर बहिष्कार किया जाता है) नवीन चेतना के अग बन गए है—उनका भी दिव्यीकरण हो रहा है—इन्द्रिय जीवन भागवत विमुख नही।

(२) उच्छ्राय=ऊंचाई, हाइट्स (आरोह)।

(३) उद्भव हेतु अवतरित=जब नये गुण उत्पन्न होने के लिए अर्थात् सृष्टि का अग बनने के लिए अवतरित (ऊपर से नीचे उतरते है) अव्यक्त (अन मैनिफेस्टेड) मे व्यक्त होते हैं। हमारे यहाँ असेण्ट और डिसेण्ट (उन्नयन, उद्भव और वितरण) द्वारा ही विकास-क्रम संभव है।

* * * *

'कला और बूढा चाँद'

रश्मिपदी—मुख्यत. प्रेरणा पर आधारित, छन्द, अलकरण आदि काव्य के वाह्यरूप पर आधारित नहीं।

(१) रश्मिपदी=पद ही जिसकी रश्मि हैं (लगाम) स्वत नियत्रित, छद-बंध द्वारा नहीं।

(२) ग्यारह तार=१० इन्द्रिय+१ मन।

(३) ज्योति दुग्ध=जो दुग्ध आदि वेदो मे इण्ट्यूशस के प्रतीक हैं।

* * * *

(७) शशक—जो (विड्थ) बाहर (बहिर्मुख) तेज भागता है। मूषक—जो गहरा बिल खोदकर (डेप्थ) मे उसमे विभिन्न वस्तुए इकट्ठा करता है। इसलिए मूषक को कलाकार माना है। वह भीतर पैठता है। सांप क्रिटिकल फैकल्टी (आत्मज्ञान) है। मेढक अवश्य ही निम्न प्रवृत्ति का। यह यौगिक प्रतीक है, कुण्डलिनी का। यह एक व्यग्य है, आज के जीवन की अव्यवस्थित असयोजित शक्तियो पर।[१]

* * * *

इस प्रकार के 'पंत' जी ने अपने काव्य मे और अनेक प्रतीकों का प्रयोग किया हैं। उनके उत्तरवर्ती काव्य पर श्री अरविन्द की प्रतीक-पद्धति तथा दार्शनिक शैली का अन्य छायावादियों की अपेक्षा अधिक प्रभाव पड़ा है।

---

१ कवियो मे सौम्य संत—लेखक, हरवंशराय 'बच्चन', पृष्ठ १०८, १०९, ११०

श्रीमती विद्यावती 'कोकिल' और श्री आरसी प्रसाद सिंह पर श्री अरविन्द जी की प्रतीकात्मक तथा दार्शनिक शैली का प्रभाव

पत जी के अतिरिक्त वर्तमान जिन हिन्दी कवियो पर श्री अरविन्द की प्रतीक तथा दार्शनिक शैली का सर्वाधिक प्रभाव पडा है, वे है, विद्यावती 'कोकिल' तथा श्री आरसी प्रसाद सिंह । हम उनके विषय मे क्रम से प्रकाश डाल रहे है ।

विद्यावती 'कोकिल'

'कोकिल' जी ने अनेक आध्यात्मिक प्रतीको को श्री अरविन्द की प्रतीक-योजना के अनुसार अपने काव्य मे नियोजित किया है । उनके काव्य सग्रह 'सुहागिन' का नामकरण ही प्रतीकात्मक है । 'सुहागिन' वास्तव मे जीवात्मा का प्रतीक है, जो परमात्मा से मिलने के लिए अनादिकाल से प्रयत्नशील है । इसी प्रकार 'गध'[1] चेतना की प्रतीक है । 'तम'[2] को उन्होने अज्ञान के प्रतीक के रूप मे देखा है । 'गगा-जमुना'[3] की प्रतीक-योजना प्रकाश-अंधकार, ज्ञान-अज्ञान अथवा आध्यात्मिकता-भौतिकता की अभिव्यक्ति के लिए की है । इसी प्रकार 'अग्नि-खगी'[4] और 'स्वर्ण-मन'[5] की प्रतीक योजना उन्होने 'चेतना' के लिए की है । इसी सन्दर्भ मे और अनेक प्रतीक 'कोकिल' जी के काव्य मे देखे जा सकते है, जिन सभी का स्वर आध्यात्मिक है ।

श्री अरविन्द की प्रतीकात्मकता के अतिरिक्त 'कोकिल' जी प्राय: अपने समग्र काव्य मे उनकी दार्शनिक स्थापनाओ से अत्यधिक प्रभावित रही है। इस सबध मे तो यहा तक कहा जा सकता है कि वस्तुत. हिन्दी कवियो मे वही एकमात्र साधना के स्तर पर अरविन्द-दर्शन की अनुयायी हैं, 'पत' जी से भी अधिक । क्योकि 'पत' जी का काव्य 'कोकिल' जी के काव्य की तुलना मे अत्यधिक बौद्धिक लगता है । 'कोकिल' जी अपने समग्र काव्य के माध्यम से मन-प्राणो को छूती हुई आत्मा का सस्पर्श करती है । इस प्रकार वे मन को 'अध्यात्म की अत्युच्च भूमि पर प्रतिष्ठित करने की सामर्थ्य रखती है । अन्यत्र इसी प्रबन्ध मे श्रीमती 'कोकिल' जी के काव्य-परिशीलन के प्रसग मे एतद्विषयक प्रमाण देखे जा सकते है ।

---

१ सुहागिन, पृष्ठ १२

२ वही, पृष्ठ १४

३ वही, पृ० २४

४ वही, पृष्ठ २५

५ वही, पृ० ४१

श्री आरसी प्रसाद सिंह

'कोकिल' जी की भांति ही श्री आरसी प्रसाद सिंह ने भी श्री अरविन्द की आध्यात्मिक प्रतीक-योजना से प्रभावित होकर अपने खण्ड-काव्य 'नन्ददास' और अपनी अनेक उत्तरवर्ती रचनाओ मे आध्यात्मिक प्रतीको की योजना की है। नन्ददास को तो उन्होने 'प्रतीक' काव्य कहा ही है। श्री अरविन्द की दार्शनिक शैली भी पूर्ण आग्रह के साथ उनकी उपर्युक्त रचनाओं मे सन्निविष्ट हुई है।[1]

निष्कर्ष:—

श्री सुमित्रानन्दन 'पंत', विद्यावती 'कोकिल' तथा श्री आरसी प्रसाद सिंह के अतिरिक्त हिन्दी के किसी अन्य कवि पर श्री अरविन्द की प्रतीक-योजना और उनके दर्शन का प्रभाव दृष्टिगोचर नही होता।

उपर्युक्त कवियों ने ही श्री अरविन्द के समान आध्यात्मिक प्रतीको के प्रयोग और उनके दर्शन का प्रभाव स्पष्टरूप से स्वीकार किया है, जैसा कि एतद् संबधी उपर्युक्त विवेचन से पूर्ण स्पष्ट है।



---

१ इसके लिये इसी प्रबन्ध का छठा अध्याय विशेष दृष्टव्य है।

उपसंहार

अरविन्द-दर्शन के संदर्भ मे आधुनिक हिन्दी-काव्य के अध्ययन के पश्चात् यह कहा जा सकता है कि छायावाद युग के पश्चात् हिन्दी काव्य के लिए विषय और आधार को लेकर एक गतिरोध आ गया है। इसके प्रमाण के रूप मे यह कहा जा सकता है कि तब से अब तक हिन्दी काव्य ने अभिव्यक्ति, आकार और विषय को लेकर अनेक प्रयोग किए हैं, किन्तु अभी तक उपर्युक्त किसी दिशा मे स्थैर्य नही परिलक्षित होता। इसके विपरीत यह कहा जा सकता है कि तब से अब तक राष्ट्रीय, राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियो और परिवेशो में इतने द्रुत परिवर्तन हुए हैं कि काव्याभिव्यक्ति और उसके रूपाकार का एक सर्वमान्य स्वरूप सम्भव नही हो सकता। किन्तु इस तर्क को आंशिक रूप मे ही स्वीकार किया जा सकता है, क्योकि उल्लिखित सभी दिशाओं मे परिवर्तन सदैव से ही होते रहे हैं और उनमे क्षिप्रता की मात्रा कम रही है, यह भी दावे के साथ नही कहा जा सकता। प्रमाण के लिए हिन्दी के भारतेन्दुकाल, द्विवेदीकाल तथा छायावादकाल को इस प्रसग मे लिया जा सकता है। इनमे से किसी युग मे समस्याओं की विपुलता और उनकी नित्य नूतनता मे रंचमात्र अभाव परिलक्षित नही होता। फिर भी उसमे काव्याभिव्यक्ति तथा रूपाकार को लेकर अद्भुत साम्य और अन्विति प्राप्त होती है। काव्य की इस अभिव्यक्ति-समता से मेरा तात्पर्य यह नही है कि वह 'कार्बन-कापी' जैसा हो, वरन् उपर्युक्त काल के कवियों को काव्य की मूल-प्रवृत्ति की पहचान थी और इसीलिए उनके अभिव्यजन के प्रकारों मे भेद होते हुए भी उनके हेतु मे वैभिन्य दृष्टिगोचर नही होता। आज लगता है, उसी शृंखला के टूट जाने से काव्य का स्वरूप स्थिर न हो पा रहा हो। ऐसा प्रतीत होता है कि मूल से यही अपरिचय वर्तमान काव्य में गतिरोध, अराजकता और विशृंखलता का कारण है।

प्रश्न किया जा सकता है कि हिन्दी काव्य का वह मूलाधार क्या है, जिसके अभाव मे वर्तमान कविता विशृंखलित और हतप्रभ हो गयी है। इसके उत्तर मे कहा जा सकता है कि वह मूल धरती और उसमे निवास करने वाले मानव की समस्यायें हैं, जिनको लेकर आदि काल से अब तक प्रबुद्ध कवि व्यापृत रहा है, उनका निदान खोजता आ रहा है। जितने अश मे जब कभी वह इस धुरी को पहचानने मे भूला है, उतने ही अंश मे उसका काव्य मद्धिम हुआ है, और कभी-कभी (जैसे रीतिकाल

मे) तो वह इस सीमा तक धुरी-हीन हुआ है कि संजीवनी शक्ति ही नष्ट होती-सी दृष्टिगोचर हुई है।

मानव की ये समस्याये उसके मनोभावो पर अधिष्ठित है। उन मनोभावो के अनेक रूप है। उदाहरणार्थ काम, क्रोध, लोभ आदि रखे जा सकते है। व्यष्टि रूप मे इनका रूप अत्यधिक नगण्य प्रतीत होता है, किन्तु जब यह मनोभाव समाज अथवा राष्ट्र सापेक्ष हो जाते है तो इनका आयाम वाह्य और आभ्यतर दोनो परिवेशो मे अत्यन्त भयावह हो उठता है। तथा इनमे उत्पन्न समस्याओ की सख्या इतनी विपुल होती है कि उनको अनन्त ही कहा जा सकता है। वाह्य को ही ऊपर धरती और आभ्यतर को मानव कहा गया है। उपनिषद् की भाषा मे यदि कहना चाहे तो इनको अन्न और मन कह सकते हैं। मानव के इसी अन्न-मन मे समझौता कराना सदा से ही कवि का ध्येय रहा है। जो कवि जितने अश मे उनमे समन्वय करा सका है, वह उतना ही महान् अथवा लघु कहा जायगा। प्राचीन काल में (वेद और उपनिषद काल मे) कदाचित् इसीलिए ऋषि की सज्ञा कवि भी थी। किन्तु वैदिक काल से अब तक अगणित बार पृथ्वी अपनी कक्षा मे घूम गयी है और उसके साथ जगत् की भौगोलिक स्थिति और मानव के रहन-सहन मे अनेक परिवर्तन-विवर्तन हुए है। प्राणि जगत् मे भी अनेकविध विकास हुआ है। राष्ट्रो की सस्कृतियाँ नष्ट हुई हैं और बनी है, किन्तु जो परिवर्तित नही हुआ है, वह है मानव मन और उसके मनोभाव क्रोध, लोभ, मोहादि। कवि को सदैव से ही इसी मन को उदात्त बनाना अभिप्रेत रहा है, क्रोधादि भावो के निरसन का प्रयास करना रहा है।

आज का कवि इसी मूल से पृथक् हो जाने के कारण कदाचित् दिग्भ्रमित हो गया है। वह धरती से तो प्राय: पृथक ही हो गया है, साथ ही मानव की निराशा कुण्ठा को ही चित्रित करने मे अपने को कृतकार्य समझ रहा है। यह बात वैसी ही है, जैसे कोई वैद्य रोग का निदान तो करे, किन्तु उसके उपचार की समुचित व्यवस्था न कर सके। ऐसी दशा मे रोगी की मृत्यु निश्चित हो जाती है। काव्य मे क्षयी-प्रवृत्ति का भी यही मूल कारण है।

श्री अरविन्द ने जगत् और मानव के बुनियादी तत्वो को अपनी पारदर्शक दृष्टि से देखा था। उन्होने इस कारण काव्य को दर्शन के साथ सबद्ध करके उनमे एकरूपता लाने की चेष्टा की। क्योकि यदि वास्तव मे देखा जाय तो दार्शनिक की भाति कवि के भी काव्य के विषय मानव और मानवता है। इसी हेतु उन्होने मानव-मन को उदात्त बनाने के लिए और मानवता को पुरस्तर करने के लिए अपने काव्य के माध्यम से अभूतपूर्व प्रयत्न किए। इसे असदिग्धरूप से स्वीकार किया जा सकता है कि काव्य को दर्शन के साथ सबद्ध कर देने से वह अपने मूल से सयुक्त हो जायगा और उसमे फिर सजीवनी शक्ति आ जायगी, जिससे वह मुमूर्ष राष्ट्र को जीवन्त

बनाने मे पुन. सामर्थ्य प्राप्त करेगा। तभी वास्तव मे उसकी सृष्टा संज्ञा यथार्थ कही जायगी।

हिन्दी कवियो की अपने काव्य मे श्री अरविन्द-दर्शन की स्वीकृति से पुन: उसमे प्राण-स्पन्द सुनाई पड़ रहे हैं। श्री सुमित्रानन्दन पन्त, विद्यावती 'कोकिल', आरसी प्रसाद सिंह और गोपाल प्रसाद 'नीरज' अपनी मौलिक तथा अनूदित रचनाओं से काव्य चेतना की इस विधा से देवदूत के रूप मे स्वीकार किये जा सकते हैं। मार्च १९६२ की भारती में 'सनातन सूर्योदयी' कविता का वीरेन्द्र कुमार जैन लिखित घोषणा पत्र हिन्दी काव्य मे अरविन्द-दर्शन की अवतारणा की सभावनाओ में एक सयत एवं साहसी कदम कहा जा सकता है। यद्यपि उपर्युक्त कवियो के काव्य के अतिरिक्त अभी इसका आयाम विशेष नही है, फिर भी यह कहा जा सकता है कि जब सुपुष्ट बीज काव्य की धरती मे बो दिया गया है, तो वह दिन दूर नही है, जब उसमे अकुर फूटेगा, वह पुष्पित-पल्लवित होगा, वह फलद बनेगा। यदि उषाकाल की लालिमा फूटी है तो सुनहरा विहान भी होगा। हिन्दी काव्य में श्री अरविन्द-दर्शन की अवतारणा से यह संभावना की जा सकती है कि उसका गत्यवरोध समाप्त होगा, काव्य का यह अधकार-युग पुन: दीप्ति-लाभ करेगा।

परिशिष्ट

सहायक ग्रन्थों की सूची

१ लाइफ डिवाइन, (तीन भाग)	श्री अरविन्द
२ फ्यूचर पोएट्री	,,
३ ह्यूमन साइकिल	,,
४ इनीशियल योग	,,
५ सिन्थीसिस आफ योग	,,
६ इन्ट्रीगल योग	,,
७ एसेज आन गीता	,,
८ सावित्री	,,
९ लास्ट पोएम्स	,,
१० कलेक्टेड पोएम्स ऐण्ड प्लेज, (दो भाग)	,,
११ मोर पोएम्स	,,
१२ सुपर मैन	,,
१३ वेद रहस्य	,,
१४ द पोएटिक जीनियस आफ श्री अरबिन्दो	श्री सेथना
१५ श्री अरविन्दो द प्रोफेट आफ लाइफ डिवाइन	हरिदास चौधरी
१६ द इन्टरीगल फिलासफी आफ श्री अरविन्दो	सीमल वर्ग
१७ द पोएटिक म्यूज आफ श्री अरविन्दो (अप्रकाशित शोध-प्रबन्ध)	डा० जगदीश शरण अग्रवाल
१८ भारतीय दर्शन	पं० बल्देव प्रसाद उपाध्याय
१९ भारतीय दर्शन	डा० उमेश मिश्र
२० इण्डियन फिलासफी	डा० चट्टोपाध्याय
२१ इण्डियन फिलासफी (दोनों भाग)	डा० राधाकृष्णन्
२२ इण्डियन फिलासफी	हिरियन्ना

२३	बौद्ध धर्म-दर्शन	आचार्य नरेन्द्रदेव
२४	ध्वन्यालोक	आनन्दवर्धनाचार्य
२५	काव्यालकार सूत्रवृत्ति	वामन
२६	काव्यादर्श	दडी
२७	वक्रोक्तिजीवितम्	कुंतक
२८	द डान्स आफ शिव	कुमार स्वामी
२९	अलकार साहित्य	डा० ओम्प्रकाश
३०	साहित्यालोचन	डा० श्यामसुन्दर दास
३१	समीक्षाशास्त्र	डा० गोविन्द त्रिगुणायत
३२	नया साहित्य, नये प्रश्न	पं० नन्ददुलारे वाजपेयी
३३	आधुनिक साहित्य	,,
३४	सुमित्रानन्दन पत	डा० नगेन्द्र
३५	कामायनी दर्शन	क्षेमचन्द्र सुमन
३६	कामायनी : संस्कृति और दर्शन	डा० द्वारिकाप्रसाद
३७	कामायनी-सौन्दर्य	डा० फतेहसिंह
३८	कामायनी—अनुशीलन	डा० रामलाल सिंह
३९	सुमित्रानन्दन पत	विश्वम्भर 'मानव'
४०	कवियों मे सौम्य सत	डा० 'बच्चन'
४१	पत का नूतन काव्य और दर्शन	डा० विश्वम्भर नाथ उपाध्याय
४२	साठ वर्ष-एक रेखाकन	सुमित्रानन्दन पंत
४३	महाप्राण 'निराला'	गगाप्रसाद पाण्डेय
४४	निराला	डा० रामविलास शर्मा
४५	आधुनिक कवियो के काव्य-सिद्धान्त	डा० सुरेशचन्द्र गुप्त
४६	काव्य मे रस	डा० आनन्दप्रकाश दीक्षित
४७	काव्यकला तथा अन्य निबध	जयशकर प्रसाद
४८	अरस्तू का काव्य-शास्त्र	डा० नगेन्द्र
४९	क्रान्तिकारी कवि निराला	बच्चन सिंह
५०	हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठ भूमि	डा० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय
५१	सौन्दर्य-तत्व	प्रो० दास गुप्त
५२	भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा	डा० नगेन्द्र
५३	निराला : व्यक्तित्व और कृतित्व	धनजय वर्मा

५४ भारतीय प्रतीक विद्या — डा० जनार्दन मिश्र
५५ महादेवी वर्मा — श०चीरानी गुर्टू
५६ महादेवी वर्मा का विवेचनात्मक गद्य — सम्पादक, गंगाप्रसाद पाण्डेय
५७ आधुनिक हिन्दी कविता में प्रेम और सौन्दर्य — रामेश्वरदयाल खण्डेलवाल 'तरुण'
५८ संस्कृति के चार अध्याय — 'दिनकर'
५९ ओरियण्टल मिस्टीसिज्म — पामर
६० काव्य में रहस्यवाद — आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
६१ सिम्बालिज्म — सी० एम० बावरा
६२ वीणा — सुमित्रानन्दन पंत
६३ ग्रंथि — ,,
६४ पल्लव — ,,
६५ युगान्त — ,,
६६ युगपथ — ,,
६७ ग्राम्या — ,,
६८ ज्योत्स्ना — ,,
६९ स्वर्णकिरण — ,,
७० स्वर्णधूलि — ,,
७१ उत्तरा — ,,
७२ युगवाणी — ,,
७३ अतिमा — ,,
७४ वाणी — ,,
७५ कला और बूढ़ा चाँद — ,,
७६ कामायनी — श्री जयशंकर 'प्रसाद'
७७ आँसू — ,,
७८ लहर — ,,
७९ परिमल — निराला
८० अनामिका — ,,
८१ अणिमा — ,,
८२ कुकुरमुत्ता — ,,
८३ आराधना — ,,
८४ अर्चना — ,,
८५ यामा — महादेवी वर्मा
८६ दीपशिखा — महादेवी वर्मा,
८७ सुहागिन — विद्यावती 'कोकिल'

८८ आरती — विद्यावती 'कोकिल'
८९ पुर्नमिलन — ,,
९० सप्तक — ,,
९१ नन्ददास — आरसीप्रसाद सिंह
९२ कठोपनिषद्
९३ ईशावास्य उपनिषद्
९४ छादोग्य उपनिषद,
९५ शब्द कल्पद्रुम(सस्कृत कोष)
९६ इन्साइक्लोपीडिया — ब्रिटानिका
९७ हिन्दी-साहित्यकोश — सं० धीरेन्द्र वर्मा

पत्र-पत्रिकाएं

१ भारती
२ कल्पना
३ आलोचना
४ काव्यधारा
५ निकष
६ नयी कविता
७ अवन्तिका
८ अदिति
९ कृति
१० कालिदास
११ साहित्यालोचन आदि ।